Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

निवेदन

अनेक मासिक पत्रिकाओ मे मेरे जो वैज्ञानिक प्रबन्ध प्रकाशित हुए थे उन्ही में से कुछ को "प्राकृतिकी" में स्थान दिया है। इसमें कुछ अप्रकाशित नवीन प्रबन्ध भी रक्खे गये हैं। "शुक्र-भ्रमण" आदि दो-तीन प्रबन्ध २०-२५ वर्ष पहले लिखे गये थे। उस समय साहित्यचर्चा का केवल आरम्भ ही हुआ था। इसी कारण नवीन तथा कई पुराने प्रबन्धों के भाव और भाषा मे पाठकों को कुछ असङ्गति जान पड़ेगी। प्राचीन प्रबन्धों से मेरे कुछ परलोकवासी मित्रों का सम्बन्ध है, इसी कारण मासिक पत्रिकाओं के जीर्ण पत्रों से निकालकर उन्हें इस पुस्तक मे स्थान दिया गया है। इस स्वेच्छाकृत त्रुटि के लिए मैं पाठकों से क्षमा माँगता हूँ।

ब्रह्मचर्याश्रम
शान्तिनिकेतन, बोलपुर
भाद्र, १३२१ (१९७१ वि०)

श्रीजगदानन्द राय

सूचीपत्र

	विषय	पृष्ठ
१८	प्राणियों और वनस्पतियों के विष	२०२
१९	अमृत और विष	२१४
२०	प्रकृति का वर्ण-वैचित्र्य	२२८
२१	वृक्षों की आँख	२४०
२२	मृत्यु का नया रूप	२४४
२३	एक नया आविष्कार	२५२
२४	मिट्टी का तेल	२६४
२५	दही	२७४
२६	बैबिलन के ज्योतिषी	२८५
२७	पृथ्वी की बाल्यावस्था	३००
२८	मङ्गल ग्रह	३१५
२९	नया नीहारिकावाद	३२६
३०	ग्रहों की कक्षाएँ	३४१
३१	विज्ञान में सूक्ष्म गणना	३५५
३२	शुक्र-भ्रमण	३६९

चित्र-सूची

प्राकृतिकी

वैज्ञानिक का स्वप्न

हमारे शास्त्रों मे—"क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योम"—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पॉच महाभूतो का उल्लेख है। अठारहवीं शताब्दी के पहले पाश्चात्य पण्डित इनमें से चार—अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—को ही भूत यानी मूलपदार्थ मानते थे। उन लोगो का विश्वास था कि संसार के जीवधारी, लताएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र, शिला, कङ्कड़ आदि सभी पदार्थ इन्हीं चार मूलतत्त्वो से बने हैं। वे लोग दीर्घ काल तक वे-सिर-पैर की भावनाओं, चिन्तनाओं और अद्भुत कथाओं के जटिल जञ्जाल मे फँसे रहे। अठारहवी शताब्दी मे उन्हें उस जञ्जाल से छुटकारा मिला। तब वे रासायनिक तत्त्वो का सारोद्धार करके उनको मूर्तिमान् करने की चेष्टा करने लगे। उस समय उनके यहाँ यही पूर्वोक्त चातुर्भौतिक सिद्धान्त प्रचलित था।

उन्नीसवीं शताब्दी में सब तरह की उन्नति हुई। उसे उन्नति का युग कहना चाहिए। वसन्त की पछिवाँ हवा लगने से जैसे सारी प्रकृति सजीवता के चिह्न प्रकट करने लगती है वैसे ही उन्नीसवीं शताब्दी के उपालोक के विकाश से समस्त सभ्य देश जाग पड़ने के लक्षण दिखाने लगे। वैज्ञानिक, दार्शनिक, समाज-तत्त्ववेत्ता आदि सभी पण्डित दीर्घ काल की जड़ता का त्याग करके सत्य को जानने के लिए उत्कण्ठित हो उठे। रसायनशास्त्रज्ञ भी प्राचीन पोथी-पत्रों को उलटकर इस बात का अनुसन्धान करने लग गये कि भूमि, जल, अग्नि और वायु ये मूलपदार्थ क्यों कहलाते हैं। रसायनशालाओं में भी देश-विदेश के पण्डितों ने परीक्षा आरम्भ कर दी। इससे थोड़े ही दिनों में यह स्थिर हो गया कि अग्नि, वायु, जल और भूमि— इनमें से कोई भी मूलपदार्थ नहीं है। अक्षिजन (Oxygen), हाइड्रोजन (Hydrogen) आदि कई वायुरूपी पदार्थ तथा गन्धक, ताँबा, लोहा, सोना, चाँदी, पारा आदि कई तरल और कठिन पदार्थ ही सृष्टि के मूल उपादान-कारण हैं। इसके आगे विद्वानों ने अणु-परमाणुओं के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया। इस ज्ञानपरम्परा-प्राप्ति की कृपा से आधुनिक रसायन-शास्त्र ने जितनी उन्नति की है उसका विशेष विवरण देना निरर्थक है। अभी दस-बारह वर्ष पहले विज्ञानवेत्ता उन्हीं अणु-परमाणुओं का स्वप्न देखते और उन्हीं के आधार पर सृष्टि

के मूल-रहस्यों को खोज निकालने की चेष्टा किया करते थे। इस समय एक बहुत बड़ी समस्या ने उपस्थित होकर वैज्ञानिकों के उस सुखस्वप्न को तोड़ दिया है।

सचराचर पदार्थों की कठिन, तरल और वायव ये तीन ही अवस्थाएँ हमको दिखाई पड़ती हैं। तीस वर्ष पहले क्रुक्स (Crooks) नामक एक अँगरेज़ वैज्ञानिक ने पदार्थों की एक चौथी अवस्था की बात कही थी। प्रायः वायुशून्य काँच की नली के दोनों सिरों पर बिजली के तार जोड़कर विद्युत्प्रवाह चलाने से खाली नली के भीतर बिजली का दौड़ना आरम्भ होता है। यह जाँच करते समय क्रुक्स साहब ने देखा कि एक प्रकार के अति सूक्ष्म जड़कण बिजली के प्रवाह को अपने साथ लिये जा रहे हैं। उन कणों में कठिनता, तरलता अथवा वायवता—किसी के भी लक्षण न दिखाई पड़े। इस कारण आविष्कर्त्ता ने ऐसे पदार्थों को चतुर्थ अवस्था का द्योतक समझा। प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् सर विलियम लाज (Sir William Lodge) ने इन्हीं अद्भुत कणों के सम्बन्ध में परीक्षा आरम्भ की। उससे उन्हें विदित हुआ कि इन कणों का आकार और गुरुत्व सबसे छोटे परमाणु की अपेक्षा सहस्र गुना छोटा है। लाज साहब ने समझा कि हो न हो यही पदार्थ समग्र सृष्टि के उपादान-कारण हैं। परन्तु उस समय इस विषय की विशेष आलोचना न हुई, इस कारण क्रुक्स साहब की इस चतुर्थ अवस्था की बात में बाधा पड़ गई।

कोई २० वर्ष हुए, सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टोनी (Johnstone Stoney) साहब ने देखा कि अनेक यौगिक पदार्थों को घोल-कर उस घुले हुए मिश्रण मे बिजली की बैटरी के दोनों सिरों को डुबा देने से उन पदार्थों का विश्लेषण हो जाता है, और विश्लिष्ट अंश (Ions) बिजली के एक निश्चित परिमाण को लेकर तार के सिरों पर एकत्र होने लगते हैं। उसकी माप करके उन्होंने विद्युत् के परिमाण का नाम इलैक्ट्रन (Electron) रक्खा। इसके पीछे क्रुक्स साहब के पूर्वोक्त परमाणु से भी छोटी विद्युत्पूर्ण कणिका के ऊपर वैज्ञानिकों की दृष्टि पड़ी। हिसाब लगाकर देखा गया तो मालूम हुआ कि ये कणिकाएँ भी स्टोनी साहब के इलैक्ट्रनों से भिन्न नहीं हैं। अतः सब लोगों ने क्रुक्स साहब की उन सूक्ष्म कणिकाओं को इलैक्ट्रन के नाम से सूचित करना आरम्भ कर दिया। विचारवान् वैज्ञानिक जड़कणि-

सहस्र इलैक्ट्रन-युक्त एक परमाणु का कल्पित चित्र।
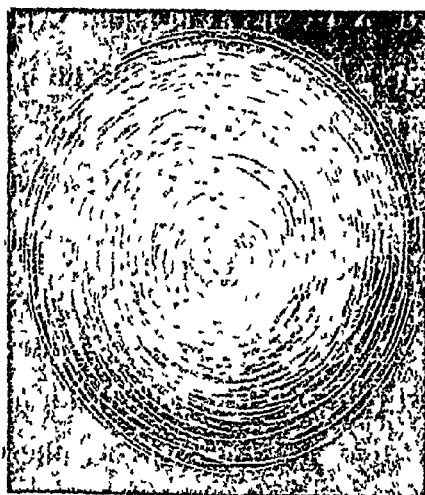
सर विलियम क्रुक्स।

काओं और इलैक्ट्रनों की एकता देखकर सोचने लगे कि आज तक सोना, चांदी, हाइड्रोजन, अक्सिजन आदि जो मूलपदार्थ कहे जाते थे सो भूल थी।—इलैक्ट्रनों के आविष्कार से प्रचलित रासायनिक सिद्धान्त बहुत ही विचलित हो गये।

इन बड़ी-बड़ी घटनाओं को देखकर विज्ञानवेत्ता चुपचाप न रह सके। नवीन खोज के सैकड़ों मार्ग खुल गये। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि सभी देशों के बड़े-बड़े वैज्ञानिक सोचने लगे कि ये सत्तर या अस्सी मूलपदार्थ नहीं हैं। जान पड़ता है, एक ही मूलपदार्थ से समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई है, और वह मूलपदार्थ यही इलैक्ट्रन हैं।

क्रुक्स साहब भी निश्चेष्ट नहीं बैठे। वे सोचने लगे कि सारे पदार्थों का मूल एक ही पदार्थ होना चाहिए। इस पर उन्होंने अपने उस काल्पनिक पदार्थ को 'प्रोटाइल' (Protyle) अर्थात् 'मूलतत्त्व' नाम दिया। अब वे अपनी निर्जन रसायनशाला में बैठकर विश्व-रचना का स्वप्न देखने लगे। उनके मन में यह बात आई कि उनके आविष्कृत सूक्ष्म कणों से, किसी एक अज्ञात शक्ति द्वारा एकत्र होकर, हाइड्रोजन का परमाणु बना है। उन्हीं में कुछ और थोड़ी-बहुत नई कणिकाएँ मिलने से गन्धक, सङ्खिया, लोहा, ताँबा आदि बने हैं, तथा बहुत सी यही कणिकाएँ इकट्ठी होकर यूरेनियम (Uranium) आदि भारी धातुएँ बनाती हैं। स्वप्न के अन्त में उन्होंने देखा कि वे विद्यु-

द्राहक कण हलके-भारी पदार्थों को बनाकर ही शान्त नहीं हो गये, प्रत्युत उन भारी धातुओं में से वे गोलों की भाँति छूटकर और बाहर निकलकर उनसे हलके और-और पदार्थ बनाने लगे।

पचीस वर्ष पहले अध्यापक क्रुक्स की पूर्वोक्त चिन्ता सचमुच स्वप्न ही के समान थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही वह सच जान पड़ने लगी। इलेक्ट्रन क्या वस्तु है, यह आज तक पूरे तौर से निश्चित नहीं हुआ। कोई तो उनको विद्युत्पूर्ण जडकण कहते हैं, और कोई उनको शुद्ध विद्युत् अथवा मूर्तिमान् शक्ति कहते हैं। परन्तु यही पदार्थ सृष्टि के मूल उपादान-कारण हैं इस विषय मे प्रायः सभी लोग एकमत हैं।

यद्यपि अभी इन इलेक्ट्रनों की बनावट नहीं जानी गई तथापि इनके आकार-भेद के विषय मे अनेक नवीन तथ्य ज्ञात हुए हैं। परिमाण मे ये कण इतने छोटे हैं कि एक हज़ार मिलकर भी उनका संयुक्त परिमाण अथवा गुरुत्व हाइड्रोजन के एक परमाणु के बराबर नहीं होता। जिस समय वे छूट-कर निकलते हैं उस समय उनका वेग प्रकाश* के वेग का दो-तिहाई होता है।

प्रकाश का वेग एक सेकण्ड मे १८६००० मील सिद्ध किया गया है। सूर्य्य से लगभग साढ़े नौ करोड़ मील दूर स्थित पृथिवी पर उसका प्रकाश ८ मिनट में पहुँचता है।

जिस समय रसायनवेत्ता इस अद्भुत पदार्थ की खोज पाकर इसका भेद जानने के लिए मानो अँधेरे में टटोलते फिरते थे, उसी समय 'रेडियम' नामक एक अपूर्व धातु के निकल आने से अन्वेषण का एक नया द्वार खुल गया। यद्यपि इस नवीन धातु का आणविक गुरुत्व (Atomic weight) जान लिया गया तथा यह भी देख लिया गया कि वर्णछत्र (Spectrum) में इसकी कौन-कौन सी रेखाएँ पड़ती हैं, और इस धातु के साथ किस-किस पदार्थ के मेल से कितने यौगिक पदार्थ बनते हैं; तो भी इस बात का पता नहीं लगा कि रत्ती भर रेडियम में से ताप की इतनी किरणें और इलैक्ट्रन निरन्तर कैसे निकलते रहते हैं। वैज्ञानिकों की जो यह धारणा सौ वर्ष से चली आती थी कि मूलपदार्थ मे न तो परिवर्त्तन ही होता है और न उसका विश्लेषण ही होता है, उसमें बड़ा धक्का लग गया। इसके सिवा प्रकाश और बिजली की उत्पत्ति के विषय मे जो सिद्धान्त प्रचलित थे उनकी जड़ भी एक प्रकार से हिल गई।

पूर्वोक्त घटना के पीछे इसी विद्युन्मय इलैक्ट्रन के प्रवाह तथा रेडियम के विषय मे आज तक नाना प्रकार की खोज हुई। इसका फल यह हुआ कि प्रचलित रासायनिक सिद्धान्तो में वैज्ञानिकों के अविश्वास की मात्रा क्रम से बढ़ती ही गई। रेडियम एक धातु तथा मूलपदार्थ है, इसलिए प्रचलित सिद्धान्त

के अनुसार इसका रूपान्तर नहीं होना चाहिए, परन्तु इसमें से इतने इलैक्ट्रनों का निरन्तर निकलना और उनके संयोग से हेलियम (Helium) नामक नवीन धातु का उत्पन्न होना देखकर रेडियम को परिवर्त्तनशील मूलपदार्थ मानना पड़ता है।

रेडियम के एक परमाणु से हजारों इलैक्ट्रनों का निकलना।
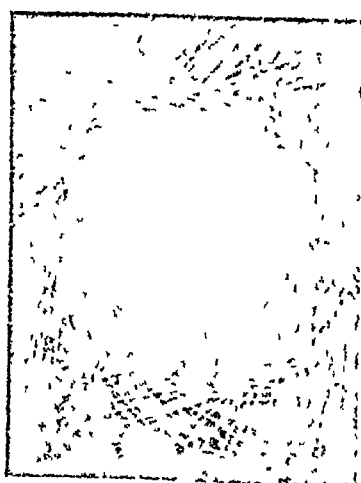
केवल रेडियम में ही यदि हम यह अलौकिक गुण देखते तो निश्चिन्त हो भी जाते, परन्तु धीरे-धीरे वैज्ञानिकों ने 'ऐसे ही' इतने मूलपदार्थों का पता लगा लिया है कि इस बात को एक बार ही उड़ा देना नहीं बन सकता।

क्रुक्स साहब अपने स्वप्न की इस आंशिक सफलता को देखकर ही निश्चिन्त नहीं हुए। उन्होंने पूर्वोक्त यूरेनियम नामक भारी धातु की परीक्षा करके देखा कि खान के जिस अंश में यह मिलती है उसके चारों ओर रेडियम पाई जाती है। पहले यह संयोग मात्र जान पड़ता था, परन्तु अब सिद्ध हो गया है कि जहाँ यूरेनियम होगी वहा उसके चारों ओर रेडियम अवश्य मिलेगी।

इस कारण मानना ही पड़ता है कि इलैक्ट्रनों के निकल जाने से हलकी होकर यूरेनियम ही रेडियम बन जाती है। जब वंश का परिचय मिल गया तब वंश के प्रतिष्ठाता का नाम वंशावली के सिरे पर लिखा जाता ही है, उसके नीचे बेटे-बेटी, नाती-पोते आदि के नाम क्रम से लिखे जाते हैं। इसी रीति के अनुसार क्रुक्स साहब तथा और वैज्ञानिकों ने यूरेनियम की एक वंशावली बनाई। यह पदार्थ ज्ञात-अज्ञात, धातु-अधातु, सब पदार्थों में भारी है; इसलिए इसी को प्रतिष्ठाता की पदवी दी गई। इसके पीछे उन पदार्थों के नाम लिखे गये जो इसमें से निकले हुए इलैक्ट्रनों से बने थे। इसी प्रकार यूरेनियम के पुत्र-पौत्रादिकों के नामों की एक बड़ी वंशावली बन गई। इन धातुओं में से कौन सी—किस खान में—किस रूप में मिलती है इसका यद्यपि अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लगा, तो भी इसके वंशजों की संख्या बीस तक पहुँच गई है। ये सभी पदार्थ डाल्टन साहब के मत के अनुसार मूलपदार्थ हैं, परन्तु इस समय टूट-फूटकर अपने कुल-गौरव का त्याग कर चुके हैं।

विद्यालय में अध्यापक महाशय सत्तर-अस्सी मूलपदार्थों के नाम छात्रों को कण्ठस्थ कराकर सिखाया करते थे कि मूल पदार्थों में न तो परिवर्तन होता है और न उनका क्षय होता है। अब देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के मूलपदार्थों के ये दोनों प्रधान गुण उलटे ही हैं। जीवराज्य में सब जीवों की

आयु का प्रमाण समान नहीं है। ऐसे बहुत से प्राणियां और उद्भिज्जों को हम जानते हैं जिनकी जीवन-लीला दो-चार घण्टों में ही समाप्त हो जाती है, तथा ऐसे जीवों को भी हम जानते हैं जो दो सौ अथवा हज़ार वर्ष तक जीते रहते हैं। आज तक जो मूलपदार्थ गिने जाते थे उनके भी जीवन की अवधि एक प्रकार से निश्चित हो गई है। यूरेनियम की आयु का प्रमाण प्रायः ३० करोड़ वर्ष है, तथा रेडियम कई हजार वर्षों में ही बदलकर दूसरा पदार्थ बन जाती है। यदि थोड़ी सी यूरेनियम किसी बरतन में भर के ३० करोड़ वर्ष तक रख छोड़ा जावे तो इतने काल के पीछे यूरेनियम का पता नहीं मिलेगा, उसमें से निकले हुए इलेक्ट्रनों से जो नये पदार्थ उत्पन्न होंगे उन्हीं से वह पात्र पूर्ण मिलेगा। सीसे (Lead) का गुरुत्व सोना-चांदी आदि धातुओं से बहुत अधिक है, इस कारण काल-क्रम से क्षय होकर सीसे का सोना बन जाना विचित्र नहीं। यदि कोई दूरदर्शी पुरुष लोहे के सन्दूक में सीसा भर के सोना पाने की आशा रक्खे तो, मूर्खों में उसकी हँसी उड़ने पर भी, वैज्ञानिकों में इस समय उसके आदर लाभ करने की सम्भावना है।

यही सब देख-सुनकर वैज्ञानिकों का कथन है कि यह जो सचराचर जगत् दिखाई पड़ता है इसमें सार वस्तु कुछ नहीं है। संसार में कोई भी पदार्थ जड़ नहीं। जड़ के छोटे से छोटे

कण, अर्थात् परमाणु, को तोड़कर उसके हज़ार या अधिक भाग करके देखने से वही इलैक्ट्रन दिखाई देते हैं, तथा इलैक्ट्रन शुद्ध बिजली की कणिका के सिवा और कुछ नहीं हैं। इसी लिए कहना पड़ता है कि ब्रह्माण्ड विद्युत् का ही विकार मात्र है, अर्थात् जगत् जड़ नहीं, केवल दैवी शक्ति का ही कार्य है।

क्रुक्स साहब ने गत शताब्दी के अन्त में जो स्वप्न देखा था वही सच्चा प्रमाणित हुआ है। तत्त्ववेत्ताओं को इस समय स्वप्न में जड़-पदार्थ शक्ति-मय दिखाई देते हैं, और वे इस स्वप्न को सच्चा सिद्ध करने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के अन्त में इस स्वप्न के स्थान में और कौनसा स्वप्न उपस्थित होकर संसार का दूसरा ही रूप दिखावेगा सो केवल जगदीश्वर ही जानें।

पारस-पत्थर

रसायनशास्त्र का इतिहास देखने से जान पड़ता है कि किसी समय लोगों का एक दल पारस-पत्थर की खोज मे दौड़ता फिरता था। उस समय आधुनिक रसायन-विद्या की नींव भी नहीं पड़ी थी। इस दल या सम्प्रदाय का विश्वास था कि पृथ्वी पर अवश्य ही ऐसी कोई वस्तु है जिसके स्पर्श से लोहा आदि धातुओं का सोना वन जाता है। पता नहीं कि यह विश्वास उन्हे कैसे हो गया। उनके पास आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह विजली का चूल्हा, बुन्सन की शिखा, तापमान और वायुमान यन्त्र आदि कुछ भी नहीं थे। नाना प्रकार की जड़ी-बूटियों के रस, तन्त्र-मन्त्र, जप-होम आदि की सहायता से ही वे लोग लोहे से सोना बनाने का प्रयत्न करते थे। सुना जाता है कि इस प्रयत्न मे उनको कुछ सफलता भी प्राप्त हुई थी। वे वैज्ञानिक आज विद्यमान नहीं हैं, उनका पोथी-पत्रा भी नष्ट हो गया है, इस कारण यह जानने का अब कोई उपाय नहीं रहा कि किस सूत्र के आधार पर वे लोग पारस-पत्थर की खोज में निकले थे। आज केवल उनका नाम शेष रह गया है। वे ऐल्केमिस्ट (Alchemist) कहलाते थे।

आधुनिक वैज्ञानिक इन ऐल्केमिस्टों के विचित्र सिद्धान्त अथवा पागलपन को सोचकर इतना उत्पात मचाते थे कि जिसकी सीमा नहीं। परन्तु गत दस वर्षों मे रसायनशास्त्र में जितने आविष्कार हुए हैं उनसे उत्पात मचानेवाले लोग जान गये हैं कि ऐल्केमिस्ट पागल नहीं थे, वे भी साधना करते थे और उसी के प्रभाव से उनको सत्य का ज्ञान हुआ था। इँगलैण्ड के प्रधान रसायनवेत्ता सर विलियम रामज़े (Sir William Ramsay) साहब अब मुक्तकण्ठ से कहने लगे हैं कि लोहे का सोना, और रॉगे की चॉदी बना लेना असाध्य नहीं। इस प्रकार जिस पारस पत्थर की खोज में प्राचीन काल के ऐल्केमिस्ट फिरते थे उसी की खोज मे आधुनिक वैज्ञानिक भी लगे हैं।

रामज़े साहब के आविष्कार की बात समझने के लिए एक भूमिका की आवश्यकता है। सृष्टितत्त्व की बात उठते ही प्राचीन विद्वानों ने पञ्चमहाभूतों का सिद्धान्त स्थिर किया। उनका विश्वास था कि पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पॉच पदार्थों से ही संसार रचा गया है, और इन पॉचों मे से प्रत्येक मूलपदार्थ* है, अर्थात् इसका रूपान्तर नहीं होता।

---

* शास्त्रों के पाठक जानते ही होंगे कि यह पौराणिक सिद्धान्त नहीं है। पौराणिक मत के अनुसार संसार का उपादान-कारण एक प्रधान ही है। वही अव्यक्त, कारण, मूलप्रकृति, अविद्या, माया आदि नामों

ये जो वृक्ष, लताएँ, पशु, पक्षी, घर, द्वार आदि दिखाई देते हैं, ये सब इन्हीं पाँच भूतों के संयोग से उत्पन्न होते हैं, तथा जब ये नष्ट हो जाते हैं तब इन्हीं पाँच भूतों मे मिल जाते हैं। प्राचीन विद्वानों का यह सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिकों के हाथ में पड़कर स्थिर न रह सका। गत उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डाल्टन साहब ने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि भूमि, जल आदि कोई भी मूलपदार्थ नहीं। इनमे से प्रत्येक का विश्लेष हो सकता है, तथा इनमे कई वस्तुओं का मेल दिखाई देता है। डाल्टन साहब का मत था कि यह संसार पाँच मूलपदार्थों के संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ, यह तो हाइड्रोजन, अक्सिजन आदि वायव पदार्थ, गन्धक, कोयला आदि कड़े पदार्थ, तथा सोना, चाँदी आदि धातुएँ मिलकर ही बना है। वे प्रत्यक्ष दिखाने लगे कि अक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के मिलने से ही वायु, जल आदि महाभूत बने हैं।

से प्रसिद्ध है। यथा—'अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः। प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥' (विष्णुपुराण १।२।१९) संसार का निमित्त कारण तथा उपादान-कारण एक ब्रह्म होने से, प्रधान और पुरुष मे भेद नहीं। 'स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः। स सङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः ॥ विकाराणुस्वरूपश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा। व्यक्तस्वरूपश्च तथा विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः ॥' ये पञ्च-महाभूत क्रमानुसार ही उत्पन्न होते और क्रमानुसार ही एक दूसरे मे लय हो जाते हैं।—अनुवादक।

इस प्रकार प्राचीन काल के पाँच भूतों के स्थान में बहुत से भूत स्थापित हो गये। वैज्ञानिकों ने मान लिया कि हाइड्रोजन, अक्सिजन, गन्धक, सोना, चाँदी आदि प्रायः नब्बे पदार्थों के मेल से ही यह संसार बना है और यही सचमुच मूलपदार्थ हैं। इनका किसी प्रकार नाश अथवा रूपान्तर नहीं हो सकता।

डाल्टन साहब के इसी सिद्धान्त के आधार पर मुद्दत तक वैज्ञानिक सन्तोषपूर्वक बैठे रहे। इस बात की कोई कल्पना ही नहीं कर सकता था कि किसी समय इसी सिद्धान्त की असत्यता सिद्ध हो जावेगी। परन्तु इस सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त की जड़ में भी कुठार का आघात हुआ। फ्रान्स के प्रसिद्ध रसायनवेत्ता क्यूरी साहब और उनकी धर्मपत्नी ने रेडियम नामक एक धातु की परीक्षा करके देखा कि यह आप ही विश्लिष्ट होकर परमाणुओं से भी छोटे, अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाती है। रेडियम धातु मूलपदार्थ मानी गई थी, इस कारण, एक मूलपदार्थ का इस प्रकार विश्लेष देखकर संसार के वैज्ञानिक स्तम्भित रह गये। क्यूरी साहब भी केवल रेडियम ही का विश्लेष दिखाकर शान्त नहीं हुए, वे थोरियम (Thorium), यूरेनियम (Uranium) आदि बहुत से धातव मूलपदार्थों का विश्लेष दिखाने लगे; और, विश्लेष के द्वारा, इन सबका एक ही अति सूक्ष्म पदार्थ में परिणत होना भी सबने देखा। परमाणुओं के इन्हीं

अति सूक्ष्म टुकड़ों का नाम 'इलैक्ट्रन' या 'अतिपरमाणु' रक्खा गया।

क्यूरी साहब का यह आविष्कार थोड़े ही दिनों में प्रसिद्ध हो गया। इसके समाचार सुनते ही रदरफ़ोर्ड, सडि, टामसन आदि वर्त्तमान युग के प्रधान वैज्ञानिक स्वतन्त्ररूप से इस विषय की आलोचना करने लगे। अभी तक उस आलोचना का अन्त नहीं हुआ। इसके द्वारा आजकल नित्य ही नवीन वैज्ञानिक तत्त्व निकलते चले आते हैं। इन लोगों ने देखा कि रेडियम धातु विश्लिष्ट होकर केवल इलैक्ट्रन अर्थात् अतिपरमाणु ही नहीं बन जाती, परन्तु इसके साथ ही साथ नाइटन (Niton) नामक और एक नवीन धातु भी बनती जाती है; तथा यह नाइटन भी—बनते ही—हेलियम(Helium) और एक रेडियम-जातीय पदार्थ (Radium-A) के रूप में बदल जाती है। इस कारण जिन धातुओं को आज तक वे मूलपदार्थ मानते थे उनका विश्लेष और रूपान्तर देखकर उनके विस्मय की सीमा न रही।

इन आविष्कारों के कारण डाल्टन साहब का आणविक सिद्धान्त (Atomic Theory) अटल न रह सका। वैज्ञानिक जान गये कि हाइड्रोजन, अक्सिजन आदि नब्बे ही धातु और अ-धातु मूलपदार्थ जगत् मे नहीं। मूलपदार्थ तो संसार मे केवल एक है और वह है यही 'इलैक्ट्रन' अथवा 'अतिपर-

माणु'। इन्हीं मे से थोड़े-बहुत के संयोग से हमारे परिचित अक्षिजन, हाइड्रोजन, सोना, लोहा आदि उत्पन्न होते हैं। इन लोगों ने यह भी अनुमान कर लिया कि संसार मे केवल रेडियम अथवा उसी की जाति के पदार्थ ही रूप बदलकर अति-परमाणु नहीं बन जाते, प्रत्युत संसार के सभी पदार्थ धीरे-धीरे क्षय होकर अतिपरमाणु बन जाते हैं, तथा इन अति-परमाणुओं के योग से नये पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन लोगों को विश्वास हो गया कि यह संसार माया का विकार मात्र है, और इस लीला का न तो आदि है न अन्त।

जिस समय सम्पूर्ण संसार इस नवीन आविष्कार के भाव मे मग्न था उस समय इँगलैण्ड के प्रधान रसायनवेत्ता सर विलियम रामज़े ने एकान्त मे परीक्षा करना आरम्भ किया। इन्होंने देखा कि यही रेडियम रूप बदलकर नाइटन बन जाती है, और नाइटन ही गरमी के निकल जाने पर हेलियम रह जाती है; यह सब बाज़ीगर का खेल है। इन्होंने हिसाब करके देखा कि एक घन सेण्टिमीटर (One cubic centimetre) नाइटन के विश्लेष से हेलियम आदि बनने से उतनी गरमी निकलती है जितनी ४० लाख घन सेण्टिमीटर हाइड्रो-जन जलाने से उत्पन्न होती है। वे अच्छी तरह जान गये कि इतनी शक्ति की राशि गुप्त रीति से रेडियम में ही रहती है, और जब रेडियम क्षय को प्राप्त होकर हलका पदार्थ बन जाती है

तभी यह शक्ति ताप के रूप में प्रकट होती है। रामज़े साहब को विश्वास हो गया कि ससार के सभी पदार्थों मे इसी प्रकार बहुत सी शक्ति सञ्चित है और उसी सुरक्षित शक्तिभाण्डार का द्वार खोलकर माया अपना खेल दिखाया करती है। अब रामज़े साहब के मन मे यह शङ्का उत्पन्न हुई कि जब रेडियम के समान भारी धातुओ में से—अन्तर्गत शक्ति के बाहर निकलने से—नाइटन और हेलियम आदि हलकी धातुएँ बन जाती हैं, तब हलके पदार्थों के ऊपर बहुत सी शक्ति का प्रयोग करके उनसे भारी पदार्थ क्यों नहीं बनाये जा सकते। अब सब लोग समझने लगे कि इसी रासायनिक प्रक्रिया के आविष्कार से लोहे का सोना बना लेना कठिन न होगा।

प्राकृतिक कार्यों की प्रणाली जान लेना कठिन नहीं है परन्तु जितनी सामग्री एकत्र करके तथा जितनी शक्ति को लगाकर प्रकृति संसार का कार्य चला रही है उसका अनुकरण करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। इस बात को जानकर भी रामज़े साहब इस बात की परीक्षा करने लगे कि किस कृत्रिम उपाय से शक्ति का प्रयोग करके हलके पदार्थ का स्वतन्त्र भारी पदार्थ बना लेवें। परन्तु वह उपाय उन्हें न मिला; न उन्हें ऐसी शक्ति का पता लगा जैसी रेडियम में से निकलती है। इस समय रामज़े साहब के मन में एक और बात आई। वे सोचने लगे कि नाइटन में से स्वभाव ही से जो शक्ति निकलती

है उसी का यदि किसी उपाय से हलके पदार्थों पर प्रयोग किया जावे तो सम्भव है कि उस हलके पदार्थ से कोई भारी वस्तु बन जावे। वे इतना सोचकर ही चुप नहीं बैठ गये, साथ ही साथ परीक्षा भी करने लगे। पहले शुद्ध पानी में नाइटन डालकर देखने लगे कि पानी के हाइड्रोजन और अक्सिजन में कोई विकार होता है कि नहीं। पानी से, यथारीति विश्लेष होकर, हाइ-ड्रोजन और अक्सिजन बनने लगे, और नाइटन से हेलियम बनने लगी। उस वर्तन में से इन सब वाष्पों को दूसरे स्थान में ले जाकर रामज़े साहब यह देखने लगे कि उसमें और भी कोई नवीन पदार्थ बना कि नहीं। अन्त में उन्होंने देखा कि इन सब वाष्पों के अतिरिक्त उसमें नियन (Neon) नामक मूल-पदार्थ बन गया। इससे रामज़े साहब के विस्मय और आनन्द की सीमा न रही। अब उनका विश्वास दृढ़ हो गया कि जब पानी के हाइड्रोजन अथवा नाइट्रोजन से भारी 'नियन' बन गया तब आगे किसी दिन ऐसे ही उपाय के द्वारा लोहे का सोना बना लेना भी सम्भव है।

रामज़े साहब का यह अपूर्व आविष्कार थोड़े ही दिनों में प्रसिद्ध हो गया, तथा वैज्ञानिक-समाज में इसके कारण जितना आन्दोलन और वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ, जान पड़ता है कि, आधुनिक समय के किसी अन्य आविष्कार से इतना विस्मय और आन्दोलन नहीं हुआ था। आजकल वैज्ञानिक संवाद-

पत्रो तथा सभाओं मे इसी विषय पर वाद्यानुवाद चल रहा है, और संसार के मुख्य-मुख्य वैज्ञानिक इस आन्दोलन में सम्मिलित हैं। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि सभी रामज़े साहब के आविष्कार को सत्य मानते हैं। वेकरल साहब, जिन्होंने सबसे पहले रेडियम की जाति के पदार्थों के गुणों का विचार किया था, आजकल इस संसार मे नही हैं। क्यूरी साहब की भी मृत्यु हो चुकी है। इस समय मैडम क्यूरी, रदरफ़ोर्ड, टामसन और सडि आदि ही इस विषय मे मतामत प्रकाश करने के अधिकारी हैं। रदरफ़ोर्ड साहब ने रामज़े साहब के आविष्कार की कथा सुनकर कहा था कि सम्भव है, परीक्षा के समय किसी प्रकार पानी के बर्तन में वायु का प्रवेश हो गया हो और उस वायु के नियन को ही रामज़े साहब ने नवीन निर्मित मानकर भूल की हो। मैडम क्यूरी ने भी इस आविष्कार पर अविश्वास प्रकट किया है। परन्तु जान पड़ता है कि पूर्वोक्त परीक्षा के पीछे रामज़े साहब ने नाना पदार्थों का जो रूपान्तर होना प्रत्यक्ष दिखा दिया उससे उन सब वैज्ञानिकों के सन्देह क्रम से दूर हो चले हैं।

हाल ही मे एक परीक्षा करते समय रामज़े साहब ने तॉबा, नाइट्रोजन, और अक्सिजन के संयोग से उत्पन्न एक पदार्थ (Copper Nitrate) में नाइटन डाल दिया था। उक्त यौगिक-पदार्थ से आर्गन (Argon) नाम का एक मूलपदार्थ

बन गया। इसके सिवा सिलिकन, टिटानियम, थोरियम आदि संयुक्त, अनेक यौगिक पदार्थों के ऊपर भी परीक्षा की गई तथा प्रत्येक पदार्थ की रूपान्तर से अङ्गार (Carbon) उत्पन्न हुआ। विस्मथ-युक्त एक पदार्थ (Bismuth Perchloride) के रूपान्तर से उस दिन अङ्गारक वाष्प की उत्पत्ति देखी गई थी।

रामज़े साहब ने ये सब प्रयोग किसी गुप्त स्थान मे छिपकर नही किये थे। उन्होने बहुत से बड़े बड़े विद्वानों को बुलाकर ये सब परीक्षाएँ दिखाई, और कोई-कोई परीक्षा इँगलैण्ड की केमिकल सोसाइटी (Chemical Society) अर्थात् रासायनिक समाज की प्रकाश्य सभा के सन्मुख रक्खी गई। इस कारण इनकी सत्यता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। संसार के लोग अब समझ गये हैं कि संसार की यह विचित्र लीला इन नब्बे मूलपदार्थों के आधार पर ही नहीं चलती; किन्तु इन सारी लीलाओं का आधार तो एक ही है। सोना, चाँदी, हीरा, लोहा, ताँबा आदि सब पदार्थ एक ही वस्तु के विविध तथा विचित्र रूप हैं। ऐल्केमिस्टों ने कोई दुःस्वप्न देखकर लोहे का सोना बनाने का प्रयत्न नही किया था। लोहे से सोना बनाने का पारस-पत्थर इसी संसार मे प्रकृति के अन्तर्गत है।

रसायन-विद्या की उन्नति

गत कई वर्षों में जड़विज्ञान के नाना विभागो में जो उन्नति हुई है उसको देखकर स्तम्भित होना पड़ता है। इस तावरतोड़ उन्नति के कारण प्राचीन सिद्धान्त, नवीन मूर्ति धारण करके, ऐसे रूप में प्रचलित हो गये हैं कि अब उनको देखकर पहचानना कठिन है। कुछ वर्ष पूर्व जो हेल्महोज़, हार्ज़ तथा केलविन आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिक जिन सिद्धान्तों को पक्के मान गये हैं, वर्तमान काल के नवीन आविष्कारों के कारण उनका भी संशोधन करना पड़ा है। शारीरिक विद्या, जीवाणुतत्त्व तथा चिकित्सा-विज्ञान भी उन्नति के मार्ग पर शीघ्रतापूर्वक चल पड़े हैं। भूतत्त्व, ज्योतिर्विद्या, और मानवतत्त्व के समान प्राचीन शास्त्र भी अपने प्राचीन स्वरूप को रक्षित नहीं रख सके—उनको भी दीमक खाई हुई प्राचीन पोथी के जीर्ण पत्रों का त्याग कर नवीन रूप धारण करना पड़ा है। डार्विन का अभिव्यक्तिवाद (Darwin's Origin of Species) बहुत काल पहले प्रकाशित होने पर भी, उसकी प्रतिष्ठा के सहायकों में से

दो-एक वैज्ञानिक अभी तक जीवित हैं। इस समय वृद्ध वैलेस* (Wallace) अभिव्यक्ति-वाद के विषय में पुस्तक लिख रहे हैं। परन्तु हाल में जीवतत्त्व के विषय में जितने नवीन तत्त्व ज्ञात हुए हैं उनके कारण अभिव्यक्ति-वाद के भी संस्कार की आवश्यकता जान पड़ती है।

गत दस वर्षों में रसायन-विद्या की जितनी उन्नति हुई है और उसमें परिवर्त्तन के जितने लक्षण देखे गये हैं उनकी आलोचना करने के समय पहले रेडियम (Radium) नामक धातु के आविष्कार की बात ध्यान में आती है। इस अद्भुत पदार्थ

रेडियम से प्रकाश का निकलना।

से निरन्तर कई प्रकार के प्रकाश और ताप निकलते रहते हैं। इनमें से एक को अतिसूक्ष्म जड़-कण अथवा शक्ति-कण निश्चय

* हाल में इनकी मृत्यु हो गई है।

कर लिया गया है। डाल्टन साहब ने ताँबा, लोहा आदि धातु, तथा हाइड्रोजन, अक्सिजन, गन्धक आदि अ-धातु पदार्थों को मूलपदार्थ कहकर जो प्रचार किया था—रेडियम तथा अन्य धातुओं में से अतिसूक्ष्म अणुओं का निकलना देखकर, उस सिद्धान्त को मानने में, अनेक वैज्ञानिक सङ्कोच करने लगे। ये अणु हाइड्रोजन के समान हलकी वस्तु के परमाणुओं की अपेक्षा बहुत छोटे हैं। प्रायः एक हजार कणिकाओं के न मिलने से इनका गुरुत्व और आकार हाइड्रोजन के एक परमाणु के बराबर भी नहीं होता।

डाल्टन साहब के सिद्धान्त के अनुसार परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। रेडियम भी हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, सोना, चाँदी आदि के समान मूलपदार्थ है, इस कारण इसके परमाणुओं का भी अविभाज्य होना चाहिए था। परन्तु इन अविभाज्य परमाणुओं को ही इस समय विभक्त होते देखकर प्रचलित रासायनिक सिद्धान्त के ऊपर वैज्ञानिकों का विश्वास शिथिल हो चला। केवल रेडियम के परमाणु ही इस प्रकार विभक्त नहीं होते, प्रत्युत यूरेनियम आदि और भी अनेक मूलपदार्थों के परमाणुओं का भी इसी प्रकार विश्लेष होते देखा गया है। इन सब पदार्थों के विश्लेप से जो अतिसूक्ष्म कण उत्पन्न हुए हैं उन सबकी आकृति-प्रकृति एकसी देखी गई है। सब लोगों के मन में यही आया कि ये अतिसूक्ष्म कण ही

संसार के उपादान-कारण हैं, और इन्हीं के संयोग-वियोग से ताँबा, लोहा, मिट्टी, पत्थर आदि अनेक यौगिक-अयौगिक पदार्थ उत्पन्न होने से ही यह इतना सुन्दर विचित्र रचना-मय जगत् बना है। इससे अनुमान होता है कि ताँबा, लोहा, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि इन सत्तर मूलपदार्थों में सचमुच कोई भी मूलपदार्थ नहीं, केवल रेडियम आदि धातुओं से निकले हुए सूक्ष्म कण ही मूलपदार्थ हैं।

संसार के सभी पदार्थ केवल एक मूल-द्रव्य से बने हैं। इस तत्त्व का पता लगाकर रसायनशास्त्र कम गौरवान्वित नहीं हुआ। देश-देशान्तरों के दार्शनिकों ने बहुत काल पहले दूसरे प्रकार से सिद्ध कर लिया था कि एक ही महाशक्ति के आश्रय से, एक ही पदार्थ, विचित्र मूर्त्तियाँ धारण करके प्रकट होता है। आज उसी परम सिद्धान्त को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर विज्ञान धन्यवाद का पात्र हुआ है।

रेडियम धातु के आविष्कार के इतिहास का अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि फ़्रान्स देश के प्रसिद्ध रासायनिक क्यूरी साहब की पत्नी मैडम क्यूरी ने ही इसका पता लगाया था। एक स्त्री के द्वारा इतने बड़े आविष्कार का सूत्रपात होना बड़े ही आश्चर्य की बात है। जो हो, रेडियम के आविष्कार के पीछे, फ़्रान्सीसी और अँगरेज़ वैज्ञानिकों को छोड़कर और कोई इस पदार्थ की आलोचना नहीं कर सका है।
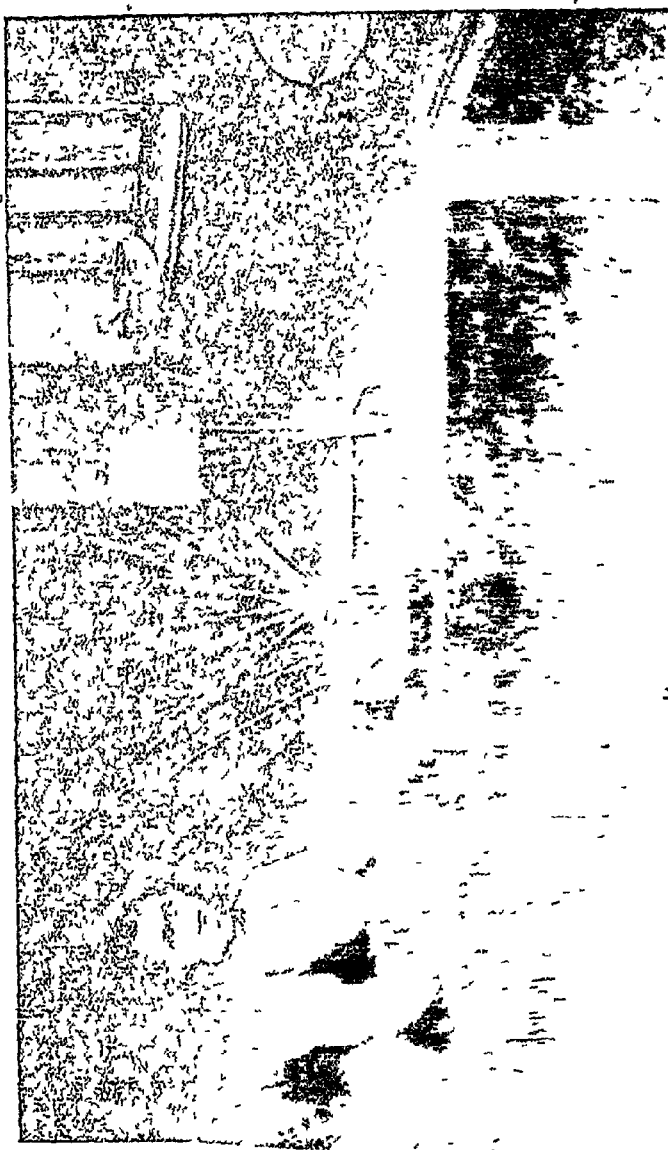
पिच ब्लैण्डि (Pitch Blende) नामक जिस खनिज पदार्थ से रेडियम निकाली जाती है वह पृथ्वी पर सर्वत्र नहीं पाया जाता*। इस कारण साधारण वैज्ञानिकों को इसका मिलना दुर्लभ है। इस समय रेडियम के समान प्रकाश देनेवाली प्रायः २४ धातुओं का पता लगा है। इससे रसायनवेत्ताओं के लिए, अनुसन्धान करने में, बड़ा सुभीता हो गया है।

बाईं ओर खनिज पिच ब्लैण्डि का चित्र है।

उसी के प्रकाश से फ़ोटोग्राफ़ के काँच के ऊपर जो चित्र बन गया वही दाहिनी ओर दिखलाया गया है।

थोरियम (Thorium) नाम का पदार्थ बहुत दुर्लभ नहीं है। आजकल जो गैस की शिखा (Gas-flame) के ऊपर एक श्वेत आवरण लगाकर प्रकाश की वृद्धि की जाती है वह इसी थोरियम से बनाया जाता है। इसकी परीक्षा करके जर्मन विद्वान् अध्यापक हान (Prof. Otto Hahn) साहब ने और भी कई प्रकाश देनेवाले नवीन पदार्थों का आविष्कार

---

* हाल ही में समाचार मिला है कि हमारे देश में गया ज़िले के एक स्थान में बहुत सा पिच ब्लैण्डि वर्त्तमान है। इसको निकालने का उद्योग किया जा रहा है।

किया है। आज तक रेडियम के ऊपर जितनी परीक्षाएँ की गई हैं उनमें शुद्ध रेडियम का व्यवहार नहीं किया गया। इसको शुद्ध करने का उपाय भी नहीं जाना गया है। इस कारण रेडियम (Radium) और ब्रोमीन (Bromine) के संयोग से उत्पन्न रेडियम ब्रोमाइड (Radium Bromide) की परीक्षा करके ही सन्तुष्ट होना पड़ा। हाल मे मैडम क्यूरी ने रेडियम को शुद्ध करने की रीति निकालकर अनुसन्धान की एक बड़ी बाधा दूर कर दी है।

अधिक उष्णता और अधिक शीत में पदार्थ की क्या अवस्था होती है—इसकी परीक्षा करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता होती है। परन्तु वैज्ञानिक अभी तक पदार्थों को बहुत उष्ण अथवा शीतल करने का उपाय नहीं जानते थे, इस कारण बहुत सी परीक्षाएँ दुःसाध्य समझकर छोड़ दी गई थीं। आजकल बिजली की भट्ठी में अनेक पदार्थ अनायास ही ३००० डिग्री (अंश) तक उष्ण किये जा सकते हैं। एक सौ अंश पर पानी उबलने लगता है, इसका तीन सौ गुना ताप कितना होगा सो हम लोग सहज ही में अनुमान कर सकते हैं। वायु को दबाकर और शीतल करके पानी के समान तरल कर सकते हैं। इस तरल वायु के समान शीतल पदार्थ आज तक कहीं नहीं देखा गया है। इसके द्वारा आजकल अनेक पदार्थों को शीतल करके नाना परीक्षाएँ की जा रही हैं।

पहले वैज्ञानिक इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि हाइड्रोजन वाष्प भी किसी प्रकार तरल हो सकती है। आजकल यह भी सहज हो गया है। तरल हाइड्रोजन की उष्णता तरल वायु से भी बहुत कम है। सैन्टिग्रेड थर्मामीटर (Centigrade Thermometer) के शून्य अंश (Zero degree) पर उष्णता पहुँचने से पानी जमकर वर्फ़ बन जाता है। तरल वायु की उष्णता वर्फ़ की उष्णता से केवल ६० अंश कम है, परन्तु तरल हाइड्रोजन की उष्णता वर्फ़ की अपेक्षा २५२ अंश कम पाई गई है। विज्ञानवेत्ता पाठक अवश्य ही जानते होंगे कि वैज्ञानिकों ने पदार्थों की एक तापरहित अवस्था मानी है। उष्णता की मात्रा वर्फ़ की शीतलता से २७३ अंश कम करने से ही वह अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था मे पदार्थों के अणुओ का कम्पन वन्द हो जाता है; और इस दशा मे, वायव पदार्थों का—सङ्कीर्ण पात्र में वन्द कर रखने पर भी—दवाव नही पड़ता। इस प्रकार देखा जाता है कि तरल हाइड्रोजन की सहायता से शीतल करने का उपाय निकालकर वैज्ञानिक उसी ताप-रहित और निस्पन्द अवस्था के अत्यन्त निकट पहुँच गये हैं। उष्णता को यदि किसी प्रकार बीस अंश और कम कर सकें, तो जड़ अवस्था की उसी शुद्ध प्रकृति का परिचय मिलेगा। १२-१३ वर्ष हुए, इँगलैण्ड के रायल इन्स्टिट्यूशन (Royal Institution) के अध्यापक डेवर

(Dewar) साहब ने हाइड्रोजन को तरल करने का उपाय निकाला था। इस समय भी उसी उपाय से हाइड्रोजन तरल किया जाता है।

विज्ञान का कोई आविष्कार एक बार ही की चेष्टा से तथा एक ही दिन मे नहीं कर लिया जाता। किसी विशेष उद्देश्य को लक्ष्य बनाकर उसके विषय में दीर्घ काल तक अनुसन्धान करने से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है। इस कार्य मे ख़र्च भी थोड़ा नहीं होता। जिन तरल वायु और तरल हाइड्रोजन के द्वारा आजकल नाना प्रकार की परीक्षाओं मे मुख्य सहायता मिली है उनके बनाने का उपाय ढूँढ़ने में बहुत-सा धन व्यय हुआ है। डाक्टर मण्ड (Dr. Mond) नामक एक जर्मन धनी ने ही इस सम्पूर्ण व्यय का भार लिया था। जो बात सच्ची है वह किसी प्रकार भी किसी व्यक्ति अथवा किसी जाति-विशेष की सामग्री नहीं हो सकती— यह जानते हुए भी आधुनिक नाना आविष्कारों के कर्तृत्व के ऊपर अनेक देशों के वैज्ञानिकों मे व्यर्थ वाद-विवाद चल रहा है। अँगरेज वैज्ञानिक डेवर साहब की परीक्षाओं की सहायता के लिए एक जर्मन का दान देना, आधुनिक युग मे, सचमुच ही एक नई बात है।

तीस वर्ष पहले भी चेतन रसायनशास्त्र (Organic Chemistry) की विशेष उन्नति के कोई लक्षण नहीं दिखाई

पड़ते थे। कुछ पुरानी बातों से ही वैज्ञानिक तृप्त थे। बहुतों का विश्वास था कि चेतन पदार्थों का हम विश्लेष कर सकते हैं, परन्तु उपादान-द्रव्यों का संग्रह करके उनको फिर बना नहीं सकते। यह विश्वास अभी तक बिलकुल हटा नहीं है, तथापि बिजली की भट्ठी की उष्णता और तरल हाइड्रोजन की शीतलता का प्रयोग करके गत कुछ वर्षों में वैज्ञानिक लोग चेतन पदार्थों के बनाने में कृतकार्य हुए हैं। प्रवीण जर्मन पण्डितों ने रसायन-शाला में दिन-रात परीक्षा करके कितने ही भेदों का पता लगाया है, तथा कार्यालयों (कारख़ानों) में उनके द्वारा (वाणिज्य की) जो उन्नति हुई है उसका कुछ ठिकाना नहीं।

हमारी पृथ्वी के ऊपर जो वायुमण्डल का गहरा आवरण है उसमें अक्षिजन तथा नाइट्रोजन नामक दो स्वच्छ वायव पदार्थ ही मुख्य उपादान हैं। हम जो यह सचराचर जगत् देखते हैं इसमें बहुत अक्षिजन और नाइट्रोजन वर्त्तमान हैं, परन्तु इनके संयुक्त अवस्था में रहने के कारण इन पदार्थों में से अक्षि-जन अथवा नाइट्रोजन को अलग निकालकर काम में लाना कठिन है। इसके सिवा, इस प्रकार से जो अक्षिजन और नाइट्रोजन प्राप्त होते हैं उनका परिमाण भी अधिक नहीं होता। परन्तु इस प्रकार नाइट्रोजन संग्रह करने के सिवा और कोई उपाय भी नहीं था। मनुष्य नाइट्रोजन के समुद्र में डूबे रहने

पर भी, व्यवहार मे, मुक्त नाइट्रोजन का प्रयोग करना नहीं जानते थे। गत कुछ वर्षों की चेष्टा से वायु के नाइट्रोजन का आजकल नाना कार्यों मे प्रयोग होने लगा है।

नाइट्रोजन से बने हुए जो-जो पदार्थ आजकल के व्यवसाय-वाणिज्य मे आवश्यक हो गये हैं उनकी गणना करने में पहले नाइट्रिक ऐसिड (Nitric Acid) नामक द्रव की बात ही ध्यान में आती है। कल-कारख़ानों के काम मे दूसरी इतनी आवश्यक वस्तु ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती। आधुनिक वैज्ञानिक वायु से नाइट्रोजन निकालकर नाइट्रिक ऐसिड बनाने की बहुत काल तक चेष्टा करते रहे। अब इनका प्रयत्न सफल हुआ है। वायु के नाइट्रोजन मे बिजली का प्रवाह करके अँगरेज़ वैज्ञानिक हैम्पसन (Sir William Hampson) साहब ने नाइट्रिक ऐसिड बनाने का एक उपाय निकाला है। इसी समय नारवे (Norway) देश के एक बड़े जल-प्रपात के निकट इसी उपाय से नाइट्रिक ऐसिड बनाने के लिए एक कार्यालय स्थापित किया गया है। जल-प्रपात की शक्ति से बिजली बनाई जाती है तथा उसी की सहायता से नाइट्रिक ऐसिड बना लिया जाता है।

शोरा (Saltpetre) नामक पदार्थ भी हमारे कम काम की वस्तु नहीं। धरती की उर्वरता को बढ़ाने के लिए यह उत्तम खाद है। इसके सिवा बारूद आदि बनाने में

इसका यथेष्ट व्यवहार होता है। अनेक स्थानों मे जो स्वाभाविक रीति से ही शोरा उत्पन्न होता था उसी को लेकर आज तक लोग काम चलाते थे; परन्तु इसमे नाइट्रोजन को ही मुख्य उपादान देखकर, वायु के नाइट्रोजन से किसी प्रकार इसको बनाने के लिए बहुत उद्योग किया जा रहा है। वायु के भीतर बिजली चलाकर आजकल वैज्ञानिक लोग कृत्रिम शोरा बनाने में भी कृतकार्य हुए हैं।

अमोनिया (Ammonia) नामक वस्तु भी नाइट्रोजन-प्रधान है, तथा कार्यालयों मे इसका भी यथेष्ट व्यवहार होता है। थोड़े ही दिन हुए, वायु के नाइट्रोजन से इसके भी बनाने का उपाय निकाला गया है। अध्यापक हाबर (Haber) नामक एक जर्मन विद्वान् इसके आविष्कर्त्ता हैं। अमोनिया बनाने के लिए एक नवीन कार्यालय स्थापित किये जाने का उद्योग चल रहा है। बहुत से लोग आशा करते हैं कि थोड़े ही दिनों मे यह वस्तु बहुत सुलभ हो जावेगी।

धरती में से जो ताँबा, लोहा, सोना, चाँदी आदि धातुएँ निकाली जाती हैं वे शुद्ध-दशा में नहीं निकलती। अनेक विजातीय पदार्थों के मेल से उनके आकार-प्रकार में इतना भेद हो जाता है कि उनको पहचानना कठिन होता है। इन्हीं सब मिली हुई धातुओं को शुद्ध करने के जो उपाय प्रचलित हैं उनमें से कोई भी सहज अथवा अल्प-व्यय-साध्य नहीं।

सोना और चाँदी यदि सोना और चाँदी के रूप में ही खान से निकाले जाया करते तो इनका मूल्य इतना अधिक कदापि न होता। इनकी महँगी का कारण तो इनको अनेक स्थानों मे बड़ी जटिल रासायनिक प्रक्रियाओं के द्वारा शुद्ध करना है। गत तीस वर्षों के उद्योग से बिजली की सहायता से इन धातुओं को शुद्ध करने की जो नई रीति निकाली गई है उससे भी रसायनशास्त्र की कम उन्नति नहीं हुई। सोना, चाँदी और ताँबा—इन तीनों प्रधान धातुओं से मिले हुए खनिज-पदार्थ आजकल ऐसी आसानी से अलग कर दिये जाते हैं कि जिसका विवरण सुनकर चकित होना पड़ता है। सुलभ होने पर भी लोहे को शुद्ध अवस्था मे संग्रह करना बड़ा कठिन है। विशुद्ध लोहे का प्रयोजन यथेष्ट है। साधारण लोहे का तार बनाने मे जितना श्रम पड़ता है, विशुद्ध लोहे का व्यवहार करने मे उसका शतांश भी नहीं पड़ता। इसके सिवा, बिजली के यन्त्र आदि मे ऐसे ही लोहे का चुम्बक व्यवहार करने से थोड़ी सी शक्ति के व्यय से बहुत काम निकल सकता है। जर्मनी के लिपज़िग (Leipzig) नगर के कारख़ानों में जो शुद्ध लोहा बनाया जाता है उसी से आजकल अनेक यन्त्र आदि बनाकर परीक्षाएँ की जाती हैं। साधारण यन्त्र की अपेक्षा शुद्ध लोहे की बनी हुई कलों से प्रायः अढाई गुना काम निकलता है। यह थोड़े लाभ की बात नहीं है।

एक सूर्य की उष्णता से ही पृथ्वी की सम्पूर्ण शक्ति का भण्डार भरा हुआ है। जिस कोयले को जलाकर हम वाष्पयन्त्र अथवा बिजली की कल चलाते हैं वह वृक्षों के शरीर मे सञ्चित शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। वृक्षो ने अति प्राचीन काल में इस शक्ति को सूर्य की उष्णता से निकालकर अपने शरीर में जमा कर रक्खा था। इस कारण कोयले की शक्ति को सौर-शक्ति का ही रूपान्तर कहना पड़ता है। जिस जल-प्रपात को बाँधकर आजकल नाना प्रकार के काम निकाले जाते हैं,—अनुसन्धान करने से देखा जाता है—उसकी शक्ति भी सूर्य की शक्ति ही है। पर्वत के शिखर पर जल का सञ्चय करना सूर्य की उष्णता के प्रभाव ही का फल है। जल भी उसी सौर-शक्ति को धारण कर लेता है और नीचे गिरते समय उसको प्रकट कर देता है। बुद्धिमान् मनुष्य इस सुयोग को व्यर्थ नहीं खोना चाहते, इसलिए नीचे गिरते हुए जल के प्रवाह द्वारा कलों के चक्र घुमाकर अनेक प्रकार के कार्य निकाल लेते हैं।

कोयले मे जो शक्ति सञ्चित रहती है, जलाने से वही उष्णता और प्रकाश के रूप मे बाहर निकलती है। यदि इसी निकलती हुई शक्ति को हम काम में लगा सकें तो भी हमको लाभ हो, परन्तु अति उत्तम यन्त्रों में भी कोयला जलाने से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण शक्ति को हम काम में नहीं लगा

सकते। इसका अधिक अंश व्यर्थ उष्णता और प्रकाश के रूप मे, तथा पार्श्वस्थ वायु को व्यर्थ उष्ण करके, सदा ही नष्ट हो जाता है। हिसाब करके देखा गया है कि १०० में ८५ भाग इसी प्रकार व्यर्थ नष्ट होते हैं। अर्थात् शक्ति के १०० भागों मे से केवल १५ भाग कल के चलाने में व्यय होते हैं। यह अपव्यय कुछ थोड़ा नहीं। दीर्घ काल तक इस प्रकार यदि व्यर्थ व्यय होता रहा तो कोयले के चुक जाने पर यन्त्रों और कार्यालयों के बन्द हो जाने की पूरी आशङ्का है। इन्हीं कारणों से, विज्ञान की सम्मति के अनु-सार कोयले को जलाकर उसकी अधिकांश शक्ति को काम में लगाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक यथेष्ट उद्योग कर रहे हैं। गत कुछ वर्षों के रसायनशास्त्र के इतिहास का अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के मार्ग मे ये लोग कुछ अग्रसर भी हुए हैं। साधारण भट्ठी जलाने में कोयले में से जो व्यर्थ वाष्प उत्पन्न होती है उसी से शक्ति नष्ट होती है। आधुनिक वैज्ञानिक इस वाष्प को व्यर्थ न खोकर इसको भी यन्त्र में जलाने का प्रयत्न करते हैं और इस कार्य में उनको कुछ सफलता भी हुई है। आशा की जाती है कि इस प्रकार कोयला जलाने से अब कोयले की जितनी शक्ति काम मे लगती है उससे कम से कम चौगुनी शक्ति हमारे अधीन रहेगी। इसके सिवा कोयले की वाष्प बनाने में जो

तार कोल (Coal Tar) और अमोनिया उत्पन्न होंगे वे भी नष्ट न होंगे।

यह तो जड़-रसायनशास्त्र (Inorganic Chemistry) की उन्नति की बात हुई। चेतन रसायनशास्त्र (Organic Chemistry) के अनेक विभागों में गत बीस वर्षों में बहुत सी उन्नति के लक्षण पाये गये हैं। कृत्रिम रबर, कृत्रिम चीनी तथा अनेक प्रकार के कृत्रिम रङ्ग तथा गन्ध-द्रव्य बनाकर जर्मनी आदि देश कैसे धन-सम्पन्न हो गये हैं इसका विशेष विवरण देना व्यर्थ है। कृत्रिम नील बनाने का उपाय निकल आने से हमारे देश की नील की खेती एक प्रकार से नष्ट ही हो गई है। सस्ता कृत्रिम रङ्ग सन्मुख पाकर लोग बहुमूल्य लाख अथवा मजीठ का रङ्ग व्यवहार मे नहीं लाते। जो हो, इन सब कृत्रिम पदार्थों के बनाने के उपाय कैसे निकाले गये, इस विषय की आलोचना करने के लिए चेतन रसायनशास्त्र के क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ेगा।

———

धातुओं के कुछ गुण

जिस स्थान पर सीमा की रेखा खींची जाती है वहाँ जितना सन्देह और जितना विरोध होता है वह सबको विदित है। सीमा के ऊपर केवल राजाओं में ही युद्ध नहीं छिड़ता, प्रत्युत वैज्ञानिक जब सीमा बाँधकर प्राणियों को उद्भिज्जों से, अथवा चेतन पदार्थों को अचेतन पदार्थों से पृथक् करने की चेष्टा करते हैं तब वहाँ भी यही विरोध और सन्देह दिखाई देता है। इस लड़ाई में गोलों की वर्षा अथवा रक्त-पात नहीं होता, परन्तु तर्क और कोलाहल का ठिकाना नहीं रहता। निर्जीव संसार के भी—धातु और अ-धातु—ये दो भाग किये जाते हैं। यह श्रेणी-विभाग भी मोटे-मोटे कुछ लक्षण मिला-कर किया गया है, परन्तु वैज्ञानिक जभी स्पष्ट सीमा निर्दिष्ट कर, धातुओं और अ धातुओं का भेद निर्णय करना चाहते हैं, तभी बड़ा झगड़ा उठता है। एक दल के वैज्ञानिक जिन पदार्थों को धातुओं की श्रेणी में रखना चाहते हैं उन्हीं को अन्य वैज्ञानिक अ-धातु मानते हैं। इससे कई पदार्थ—निर्णय न होने के कारण—अभी तक किसी श्रेणी में नहीं रक्खे गये। सेलेनियम (Selenium), टेलूरियम (Tellurium), आर्सेनिक

(Arsenic), एण्टिमनी (Antimony) आदि पदार्थ इसी प्रकार समाज-च्युत हो रहे हैं। ये धातुओं और अ-धातुओं की सीमा-रेखा ही पर स्थित हैं।

सर हेनरी रस्को साहब वर्त्तमान युग के प्रसिद्ध रसायन-वेत्ता हैं। इनके ग्रन्थों में धातुओं के लक्षण देखने से विदित होता है कि पारे को छोड़कर धातुएँ साधारणतः कठिन अवस्था मे ही रहती हैं, इस कारण कठिनता धातुओं का प्रधान लक्षण है। इसके सिवा प्रकाश को रोकना, उसका कुछ भाग प्रतिभासित करना, ताप और बिजली के प्रवाह को ले जाना, थोड़ी उष्णता से तरल न होना, कठिन आघात से न टूटना, आकार बदलना आदि और भी अनेक प्रकार के लक्षणों का उल्लेख है, परन्तु इन सब लक्षणो मे धातुओं ही की कोई विशेषता नहीं। जो पदार्थ प्रत्यक्ष अ-धातु हैं उनमें भी इनमें से एक या अधिक लक्षण पाये जाते हैं। इस कारण यह मीमांसा फिर निर्णय के लिए उपस्थित हुई है कि धातुओं के वे विशेष गुण कौन-कौन से हैं जिनको देखकर पदार्थ को धातु की श्रेणी मे रक्खा जावे।

इलैक्ट्रन अथवा अतिपरमाणु नामक जिन अतिसूक्ष्म जड़-कणों के ऊपर आधुनिक वैज्ञानिक लोग सृष्टि का भार रखना चाहते हैं उन्हीं की सहायता से धातुओं के विषय मे अनेक गुप्त भेदों के प्रकट होने की आशा की जाती है। इनके द्वारा धातुओं के स्वाभाविक गुण और उन गुणो के प्रकाशित

होने की विधि पृथक्-पृथक् ज्ञात होती है। धातुएँ वर्त्तमान सभ्यता की मुख्य सामग्री हैं। कलें, कारखाने, घर, द्वार तथा घर सजाने के पदार्थ प्रायः धातुओं के ही बनते हैं, इस कारण धातुओं के गुण जानकर इनको ठीक-ठीक संसार के व्यवहार मे लगाने का उपाय वैज्ञानिक लोग बहुत दिनों से कर रहे हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस उद्योग का कुछ फल नहीं हुआ। गणित-विशारदों ने धातुओं की आणविक अवस्था और अणुओं की गति विधि के विषय मे अनेक बातें कही हैं। रश्मिनिर्वाचनयन्त्र के द्वारा वैज्ञानिकों ने प्रज्वलित धातुओं की किरणों के विषय में अनेक भेद जान लिये हैं। दो अथवा अधिक धातुओं के मेल से जो सङ्कर धातु (Alloy) उत्पन्न होती है उसके भीतर के अणुओं का विन्यास अनेक विद्वानों के उद्योग से हम लोग जानने लगे हैं। चतुर रसायनवेत्ताओं ने अनेक परीक्षाओं के द्वारा हमको दिखला दिया है कि तरल वायु (Liquid Air) के समान शीतल और बिजली की भट्ठी के समान उष्ण स्थान मे ये धातुएँ किस अवस्था मे रहती हैं। इन सब आविष्कारों से हमारे ज्ञान की जो प्रचुर वृद्धि हुई है उसको अवश्य मानना पड़ेगा, परन्तु यह हम कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि ज्ञान की वृद्धि के साथ हमारे व्यवहार की भी उन्नति हुई है। जब तक यह अच्छी तरह समझ में न आ जावे कि धातुओं का

विशेष गुण क्या है, तब तक उनके व्यवहार में कभी उन्नति नहीं हो सकती। आजकल कभी-कभी अनेक लोग नाना धातुओं को भिन्न-भिन्न परिमाण में मिलाकर इच्छा के अनुसार बहुत सी सङ्कर धातुएँ बनाते हैं, परन्तु इस मेल का कोई बँधा नियम नहीं देखा गया; इस कारण सदा इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं होता। जिस मूल कारण से धातु में ताप और विद्युत् के वहन करने की शक्ति होती है और साथ ही साथ वह लचीली और कोमल हो जाती है, उसको बिना जाने हम लोग कभी धातुओं को पूरे तौर से व्यवहार में नहीं लगा सकेंगे।

बिजली के प्रवाह को ले जाना धातुओं का प्रधान गुण है। लकड़ी अथवा पत्थर के भीतर बिजली सहज में चल-फिर नहीं सकती, परन्तु धातु के भीतर वह भली भाँति प्रवाहित होती है। इसी कारण टेलीग्राफ़ (Telegraph), टेलिफ़ोन (Telephone) अथवा अन्य किसी यन्त्र में बिजली ले जाने के लिए धातु के तार का प्रयोग किया जाता है। कपास के सूत अथवा रस्सी में बिजली नहीं चल सकती। धातुओं की इसी विद्युद्वाहिनी शक्ति के ऊपर पहले पहल वैज्ञानिकों की दृष्टि पड़ी। उन्होंने पहले यही खोज करना आरम्भ किया कि धातुओं के अणुओं और परमाणुओं में ऐसा कौन सा विशेष गुण है जिसके द्वारा इनमें बिजली का प्रवाह चल सकता है। इस अनुसन्धान से जो-जो तत्त्व

जाने गये हैं वे सचमुच बड़े अद्भुत हैं। डाल्टन साहब के आणविक सिद्धान्त का प्रचार होने के समय से ही हम लोग जानने लगे थे कि सभी पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं के बने हैं, और वे अणु दो या अधिक सूक्ष्मतर परमाणुओं के योग से उत्पन्न हैं। अणुओं और परमाणुओं के विषय में इतने प्रमाणों का संग्रह कर लिया गया है कि डाल्टन साहब के सिद्धान्त पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। परन्तु इतना ज्ञात हो जाने पर भी हम यह बात निश्चय-पूर्वक नहीं जान सकते कि पदार्थ में अणु-परमाणु किस प्रकार विन्यस्त हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों की गवेषणा से धातुओं के भीतर की इस आणविक अवस्था का बहुत कुछ भेद जान लिया गया है। ये कहते हैं कि जिस धातु-पिण्ड को हम स्थूल दृष्टि से ठोस देखते हैं वह सचमुच ठोस नहीं; धातु के भीतर परमाणुओं के विन्यास से—मधु के छत्ते के समान—एक सछिद्र पिण्ड बनता है। परमाणुओं के इस प्रकार के विन्यास से वैज्ञानिक पहले ही परिचित थे। गाढ़ी चीनी का रस जमाकर जब दानेदार चीनी अथवा मिश्री बनाई जाती है तब इसी प्रकार का विन्यास देखा जाता है। परन्तु भारी धातु-पिण्ड के भीतर भी अणुओं और परमाणुओं के विन्यास से दाने बन जाते हैं, अथवा मधुचक्र के समान ही धातु-पिण्ड भी सछिद्र होता है यह बात बिलकुल नई है। केवल यही नहीं, आधुनिक वैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि

धातुओं के भीतर के सूक्ष्म छिद्र इलेक्ट्रन अर्थात् अतिपरमाणुओं से पूर्ण रहते हैं। वायव पदार्थों के अणु जैसे सदा चञ्चल रहते हैं और परस्पर धक्के देते रहते हैं वैसे ही धातु के छिद्रों में स्थित अतिपरमाणु भी चञ्चल होकर चलते-फिरते रहते हैं। आज कोई बारह वर्ष से अनेक देशों के वैज्ञानिक लोग अतिपरमाणुओं की परीक्षा कर रहे हैं। रेडियम धातु से निकले हुए अतिपरमाणुओं में, अथवा क्रुक्स साहब की नली के भीतर के अतिपरमाणुओं में इन लोगों ने सदा ऋणात्मक बिजली का पता पाया है। यह भली भाँति निश्चय कर लिया गया है कि सब अतिपरमाणु ऋणात्मक बिजली (Negative Electricity) के ही वाहक हैं। इस कारण धातुओं के भीतर के छिद्रों मे जो अतिपरमाणु रहते हैं उनमे बहुत-सी ऋणात्मक बिजली सञ्चित रहती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि अतिपरमाणुओं की ऋणात्मक बिजली अणुओं में सञ्चित धनात्मक विद्युत् (Positive Electricity) के साथ मिलकर ऐसी शान्त अवस्था मे रहती है कि हमको बाहर से धातुओं मे—धन अथवा ऋण—किसी प्रकार की बिजली के लक्षण दिखाई नहीं पडते।

धातुओं में आबद्ध पूर्वोक्त अतिपरमाणुओं के द्वारा थोड़ी-बहुत बिजली को ले जाने की जो शक्ति धातुओं मे देखी गई है, आजकल उसका ख़ुलासा वैज्ञानिक लोग यों करते हैं कि जब धातु का कोई खण्ड विद्युत्-शक्ति की सीमा के भीतर आ

जाता है तब उसके छिद्रों के भीतर के अतिपरमाणु बिजली की शक्ति की ओर चलने लगते हैं। इस प्रकार धातुओं मे अति-परमाणुओं का जो प्रवाह उत्पन्न होता है उसी को हम लोग विद्युत् का प्रवाह समझते हैं।

यदि किसी सङ्कीर्ण स्थान मे बन्द वायव पदार्थ को उष्ण किया जावे तो वह फैलना चाहता है, और पात्र की दीवारों पर दबाव डालता है। अनुसन्धान करने से इसका यह कारण निश्चय किया गया है कि उष्णता से वायव पदार्थ के अणुओं की चञ्चलता बढ़ जाती है; इस अवस्था में वे शीघ्रता-पूर्वक परस्पर धक्का देकर पात्र पर दबाव डालते हैं, इसी कारण उष्णता के साथ ही दबाव की मात्रा भी बढ़ जाती है। उष्णता के योग से बिजली को ले जाने की धातु की शक्ति कम हो जाती है, इस सुपरिचित व्यापार की व्याख्या में वैज्ञानिक कहते हैं कि ताप की वृद्धि के साथ ही धातु के अतिपरमाणुओं की भी गति बढ़ जाती है। इन अतिपरमाणुओं का गुरुत्व और परिमाण इतना कम है कि जब तक ये ३६०० एकत्र न मिले तब तक हाइड्रोजन के एक अणु के समान नहीं होते। गुरुत्व का यही परिमाण लेकर, गणित करके देखा गया है कि जितनी उष्णता पाकर हाइड्रोजन के अणु जितने वेग से भ्रमण करते हैं, उतनी ही उष्णता से धातु के अतिपरमाणु प्राय: ६० गुने वेग से घूमते फिरते हैं। इस गणित के आधार पर, बर्फ़

के समान शीतल अवस्था मे भी, प्रत्येक अतिपरमाणु को प्रति सेकण्ड (Second) सौ मील से भी अधिक वेग से भ्रमण करते हुए देखा गया है। तोप का गोला अथवा वन्दूक़ की गोली जितने वेग से छोड़ी जाती है, वाहर के भूमध्य का आकर्षण तथा अन्य वाधाओं को भेदकर, वह उसी वेग से चलती है। उष्णता के प्रयोग से धातु के भीतर के अतिपरमाणु जिस समय गोलों के समान प्रवल वेग से छूटने लगते हैं उस समय वाहर की वैद्युत् शक्ति उनको अपनी ओर खींचकर प्रवाह उत्पन्न करने का अच्छा अवसर नहीं पाती, इसी कारण विजली का अधिक प्रवाह उत्पन्न नहीं हो सकता।

केवल विजली को ले जाना ही अतिपरमाणुओं का कार्य नहो है, वरन् उष्णता भी इन्हीं के द्वारा पहुँचाई जाती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि—धातु के एक वड़े दण्ड के एक सिरे को तपाने से दूसरा सिरा तक तप्त हो जाता है—इससे विदित होता है कि तपाये हुए सिरे के अतिपरमाणु ही उष्णता को ले जाकर धातु के सब अंशों में फैला देते हैं। यहाँ भी वैज्ञानिकों ने—उष्णता के संयोग से जो सूक्ष्म अतिपरमाणुओं के वेग की वृद्धि होती है—उसी की शरण ली है। ये कहते हैं कि उष्णता के योग से धातु के छिद्रों में स्थित अतिपरमाणुओं की चञ्चलता वहुत बढ़ जाती है, इस कारण ये सङ्कीर्ण स्थान मे आवद्ध न रहकर धातु के सब भागों में उष्णता फैला देते हैं।

दो भिन्न धातुओं को जोड़कर उनके संयोग-स्थल को तपाने से, उन जुड़ी धातुओं में बिजली का प्रवाह अपने आप चलने लगता है। विज्ञान की भाषा में इस प्रकार की बिजली तापज विद्युत् (Thermo-Electricity) कहलाती है। बिजली का नाम चाहे जो रक्खा जावे, हम आज तक इस बात की कोई सन्तोषजनक व्याख्या नहीं जानते थे कि केवल उष्णता से कैसे बिजली बन जाती है। अतिपरमाणुओं के वर्त्तमान सिद्धान्त के अनुसार इसका कारण भी स्पष्ट हो गया है। वैज्ञानिकों का कथन है कि धातुओं के छिद्रो मे जो अतिपरमाणु रहते हैं उनकी संख्या सब धातुओं मे तुल्य नहीं होती। सीसा (Lead) और बिसमथ (Bismuth) दोनों ही धातुएँ हैं, परन्तु उनके भीतर के अतिपरमाणुओं की संख्या गणना करके देखी गई तो ज्ञात हुआ कि बिस्मथ के किसी खण्ड मे जितने अतिपरमाणु होते हैं, सीसे के उतने ही बड़े टुकड़े मे ठीक उससे दुगुने अतिपरमाणु पाये जाते हैं। वैज्ञानिकों ने धातुओं के भीतर के इन्हीं अतिपरमाणुओं की संख्या की विषमता को तापज विद्युत् के उत्पन्न होने का कारण निर्दिष्ट किया है।

अब मान लिया कि एक बिस्मथ के दण्ड और एक सीसे के दण्ड को जोड़कर सन्धिस्थल को तपाना आरम्भ किया। ऐसा करते ही बिस्मथ से सीसे की ओर एक विद्युत्प्रवाह (Electric current) चलता हुआ स्पष्ट दिखाई पड़ेगा।

इसकी व्याख्या में वैज्ञानिक कहते हैं कि सीसे में अतिपरमाणुओं की संख्या बिस्मथ से बहुत अधिक है, इस कारण ताप के संयोग से वे अत्यन्त वेगवान् होकर तपे हुए सन्धिस्थल को पार कर बिस्मथ की ओर चलने लगते हैं। इस प्रकार ऋणात्मक बिजली से युक्त अतिपरमाणुओं का प्रवाह सीसे से बिस्मथ की ओर चलने लगता है और यही ऋणात्मक प्रवाह बाहर से हम लोगों को बिस्मथ से सीसे की ओर चलता हुआ धनात्मक विद्युत्प्रवाह जान पड़ता है।

दो भिन्न धातुओं को पूर्वोक्त प्रकार से जोड़कर उनके सन्धिस्थल मे बिजली का प्रवाह चलाने से, कभी सन्धिस्थल गरम हो उठता है और कभी ठण्ढा पड़ने लगता है। मान लो कि पूर्वोक्त उदाहरण मे बिस्मथ से सीसे की ओर प्रवाह चलाया जा रहा है। परीक्षा करके देखने से स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि सन्धिस्थल गरम हो उठा है। परन्तु प्रवाह को बिस्मथ से सीसे की ओर न चलाकर यदि भारी सीसे से बिस्मथ की ओर चलाया जावे तो इसका फल ठीक उलटा होगा, अर्थात् इस दशा में सन्धिस्थल और अंशों की अपेक्षा शीतल हो जाता है। सयुक्त धातुओं में बिजली के प्रवाह की यह विचित्रता बहुत दिनों से हम जानते हैं। आज तक वैज्ञानिक इसको Peltier Effect (पेलटीयर साहब का अनुभव) कहकर ही सन्तुष्ट थे। इसका कारण जानने के लिए उद्योग में त्रुटि नहीं हुई, परन्तु इस

विषय मे जितने व्याख्यान दिये गये उनमें से कोई भी सन्तोष-जनक प्रतीत नही हुआ। अब अतिपरमाणुओं की सहायता से धातुओं की इस विशेषता की भी व्याख्या पाई गई है। वैज्ञानिक कहते हैं कि जब हम सीसे और बिस्मथ के भीतर बिजली का प्रवाह चलाते हैं तब, स्वाभाविक रीति से, बिस्मथ के अतिपरमाणुओं को बलपूर्वक सीसे के अतिपरमाणुओ मे मिला देते हैं। जैसे फ़ुटबाल (Foot-ball) की थैली के भीतर बलपूर्वक वायु भरने से थैली गरम हो उठती है, इसी प्रकार बिस्मथ के अतिपरमाणुओ के सीसे मे प्रवेश करने के कारण सन्धि-स्थल गरम हो जाता है। अब मान लो कि प्रवाह सीसे की ओर से बिस्मथ की ओर चलाया जाता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि बिस्मथ की अपेक्षा सीसा भारी है इस कारण इसके अतिपरमाणुओं की संख्या बिस्मथ की अपेक्षा बहुत अधिक है। अतएव सीसे से बिस्मथ की ओर बिजली का प्रवाह चलाने से सीसे के अतिपरमाणुओं का भण्डार क्रम से क्षीण होने लगता है, और पहले जहां बहुत से अतिपरमाणु भरे थे वहाँ अब शून्य स्थान पाकर वे फैलने लगते हैं। सङ्कीर्ण स्थान मे आबद्ध वायव पदार्थ को यदि फैलने का अवकाश दिया जावे तो उस पदार्थ की उष्णता अपने आप कम हो जाती है। इसी प्रकार सीसे के अतिपरमाणुओं के परस्पर विच्छिन्न होकर फ़ॅस जाने के कारण यहाँ भी उष्णता कम हो जाती है।

पदार्थों के अणु और परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने पर भी वैज्ञानिकों ने अनेक उपायों से उनके गुरुत्व और परिमाण का निर्णय कर लिया है। अति परमाणुओं के सिद्धान्त की सहायता से धातुओं के अणुओं और परमाणुओं के आयतन आदि का विशेष परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला है। पहले ताप से उत्पन्न बिजली (Thermo-Electricity) की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में अति परमाणुओं के प्रवाह की जो बात कही गई है उसी की सहायता से हिसाब लगाकर यह निर्णय कर लिया गया है कि प्रत्येक परमाणु में कितने मुक्त अतिपरमाणु रहते हैं। इसके पीछे बिजली के चलने (Electric Conduction) के नये सिद्धान्त के द्वारा सम्पूर्ण अतिपरमाणुओं की संख्या जानकर, धातु के कितने अंश में कितने परमाणु हैं यह निर्णय करके, प्रत्येक परमाणु का परिमाण जान लेना कठिन नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक घन इञ्च (Cubic Inch) मे कितने परमाणु हैं यह जानकर प्रत्येक परमाणु का आयतन स्थिर कर लिया गया है। काँच, जल, वायु आदि थोड बहुत स्वच्छ हैं, परन्तु धातु कोई भी स्वच्छ नहीं। अतिपरमाणुओं के सिद्धान्त के द्वारा धातुओं के इस विशेष गुण की भी व्याख्या पाई गई है। वैज्ञानिकों का यह सिद्धान्त है कि धातु के छिद्रों में स्थित मुक्त अतिपरमाणु ही धातु को अस्वच्छ (Opaque) करते हैं। धातु के ऊपर प्रकाश पड़ते ही अतिपरमाणु प्रकाश की

तरङ्गों का शोषण कर लेते हैं। जब धातु को पीटकर बहुत पतला पत्र बना लिया जाता है केवल तभी कुछ प्रकाश धातु को भेदकर पार आ सकता है। सोने के पतले पत्र में से जो प्रकाश बाहर आता है वह हरा होता है। नये सिद्धान्ती कहते हैं कि जैसे सितार के तारों को विशेष सुर पर बाँध रखने से बजाने के समय वे उस सुर के सिवा और कोई सुर नहीं दे सकते उसी प्रकार विशेष धातुओं के छिद्र में फँसे हुए अति-परमाणु एक विशेष प्रकाश की तरङ्गों को छोड़कर अन्य तरङ्गों का उत्तर नहीं दे सकते। सोने के छिद्रों मे अतिपरमाणु केवल हरे रङ्गवाली तरङ्गों का उत्तर दे सकते हैं, इस कारण स्वर्णपत्र के भीतर से जो प्रकाश आता है वह हरा होता है। पूर्वोक्त तत्त्व के आधार पर हा वैज्ञानिकों ने इस बात की मीमांसा कर ली है कि अनेक प्रज्वलित धातुओं के वर्णछत्र (Spectrum) मे कुछ निर्दिष्ट वर्ण-रेखाओं का ही प्रकाश क्यों होता है। इसके सिवा प्रकाश की किरणों का समतलीभवन (Polarisation of Light) आदि अनेक जटिल प्राकृतिक विषयों का भेद, अतिपरमाणुओं के इस सिद्धान्त के द्वारा जान लिया गया है। परन्तु इन जटिल विषयों की व्याख्या भी ऐसी दुर्बोध है कि उनका उल्लेख मात्र करके हमको यहीं रुकना पड़ता है।

वर्णछत्र

सफेद प्रकाश के विश्लेष से उत्पन्न वर्णछटा हम लोगों को संसार में सदा दिखाई पड़ती है। इन्द्र-धनुष का अपूर्व वर्ण-विन्यास, तथा पत्तों की नोक से लटकती हुई ओस की बूँद पर बाल-सूर्य की किरणों की अद्भुत छटा ही इसके प्रकृष्ट उदाहरण हैं। यह तो स्वाभाविक वर्णछत्र की बात हुई, परन्तु कृत्रिम उपाय से भी हम सहज ही में प्रकाश का विश्लेष कर सकते हैं। काँच के एक तिकोने टुकड़े के ऊपर साधारण स्वच्छ प्रकाश डालने से लाल, पीले आदि रङ्गों से युक्त अपूर्व दृश्य दिखलाई देता है। इसको वैज्ञानिक वर्णछत्र (Spectrum) कहते हैं। छत से लटकते हुए झाड़ या हाँड़ियों के काँच के तिकोनिये टुकड़ों के द्वारा किसी पदार्थ को देखने से वह इसी कारण अनेक रङ्गों से रँगा हुआ दिखाई पड़ता है। त्रिकोण काँच-खण्ड की इस वर्ण-विश्लेषिणी शक्ति को बालक-वृद्ध सभी जानते हैं। बचपन में, उत्सव के समय, झाड़ों से गिरे हुए दो-एक काँच के टुकड़े संग्रह करने के लिए तेल की गन्ध से वासित छोटे से दीपक-गृह से नौकरों के साथ कुछ अधिक मेल करने की इच्छा से कुछ मिठाई का लालच देकर काँच के एक टूटे टुकड़े को उठा लाने की बात आज भी स्मरण

है। इस काँच के द्वारा अपूर्व रङ्गो से युक्त एक विचित्र संसार देखकर, जान पडता है कि उस समय हरामी नौकरों का लालच और उत्सव का आनन्द एक बार तो सभी भूल जाते थे। प्रवीण वैज्ञानिक भी इस छोटे से काच के टुकड़े का कम आदर नहीं करते। बालक तो इसके द्वारा ससारी पदार्थों से अनेक विचित्र रङ्गो का योग देखकर प्रसन्न होते हैं, परन्तु वैज्ञानिक इसके द्वारा करोड़ो योजन दूर के छोटे से नक्षत्र की रचना तथा गति-विधि जानकर, और अदृश्य नक्षत्रों की अपूर्व शोभा देखकर, अनन्त संसार के ध्यान मे मुग्ध होते हैं। थोड़े से परिश्रम से ही एक त्रिकोण कॉच का टुकड़ा लेकर यथेष्ट प्रकाश का विश्लेष हो सकता है। इसके लिए अन्यान्य वैज्ञानिक यन्त्रो के समान, वर्णछत्र देखने के लिए, किसी जटिल यन्त्र के बनाने की आवश्यकता नहीं हुई। केवल काच के इस छोटे से टुकड़े के द्वारा आजकल जो अपूर्व आविष्कार हुए हैं उनके अनुसार आधुनिक विज्ञान के इस सामान्य यन्त्र को अमूल्य कहने मे भी अत्युक्ति नहीं होगी। केवल प्रकाश के विज्ञान मे ही नहीं, वरन् विज्ञान की सभी शाखाओं मे वर्णछत्र के द्वारा अनेक नवीन तत्त्व जाने गये हैं। आधुनिक रसायनवेत्ता वर्णछत्र की परीक्षा से पदार्थों की प्रकृति का निर्णय करते हैं और थोड़े ही दिनों में इसी उपाय से बहुत से बिलकुल नये मूलपदार्थ जाने गये हैं। इसके सिवा पदार्थ-विश्लेष के ज्ञात

उपायों में वर्णछत्र की परीक्षा (Spectrum Analysis) की प्रथा ही अतिसूक्ष्म और सरल समझी जाती है।

जड़ विज्ञान के इतिहास की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि इसकी प्रत्येक शाखा की पूर्णता के लिए बहुत काल तक अनेक विद्वानों के अनुसन्धान और गवेषणा की आवश्यकता हुई है। एक मनुष्य के आजीवन परिश्रम से भी कोई विज्ञान उन्नति के शिखर पर नहीं पहुँचा। प्रकाश-विज्ञान और वर्णछत्र का इतिहास भी इस नियम से बाहर नहीं। अनेक प्रसिद्ध विज्ञानाचार्यों के निरन्तर उद्योग और परिश्रम से ही प्रकाश-विज्ञान की आज इतनी उन्नति हुई है; परन्तु बिजली आदि के विज्ञान की उन्नति में जितना समय लगा है उतना समय भाग्यवश वर्णछत्र की उन्नति में नहीं लगा। प्रकाश के विश्लेष-द्वारा जटिल यौगिक पदार्थों की प्रकृति का निर्णय करने की बात तीस वर्ष पहले कोई रसायनवेत्ता मान ही नहीं सकता था; परन्तु आज केवल वर्णछत्र की सहायता से, संसार के पदार्थों की तो कोई बात ही नहीं,—सूर्य तथा बहुत दूर के नक्षत्रों की रचना एवं चिररहस्यमय आकाश-गङ्गा तक का सच्चा हाल जान लिया गया है।

वर्णछत्र के प्रारम्भिक इतिहास की आलोचना करते समय, पहले सर आइज़क न्यूटन की बात ध्यान में आती है। सब से पहले सन् १६७५ ईसवी में न्यूटन साहब ने ही यह प्रकट

किया था कि इन्द्रधनुष के अन्तर्गत कई मूलरङ्गों के मेल से साधारण स्वच्छ प्रकाश उत्पन्न होता है। अँधेरी कोठरी में छोटे से छिद्र के द्वारा सूर्य की किरण पहुँचाकर और पूर्वोक्त त्रिकोण काँच के द्वारा प्रकाश का विश्लेष कर लाल, पीले, हरे आदि रङ्गों से युक्त वर्णछत्र को सबसे पहले इन्हा ने विज्ञान के कार्य मे लगाया था। परन्तु उस समय शुद्ध वर्णछत्र बनाने का उपाय तथा किरणों के झुकने

न्यूटन।

का परिमाण कोई नहीं जानता था, इस कारण न्यूटन के रचित वर्णछत्र में सम्पूर्ण मूलरङ्ग नहीं दिखाई पड़ते थे। इनका वर्णछत्र दो या अधिक रङ्गो का, अविच्छिन्न और मिला हुआ था। अस्तु, न्यूटन ने ही सबसे पहले इस बात का प्रचार किया कि स्वच्छ प्रकाश कई मूलरङ्गो से मिलकर बना है; और वर्णछत्र के रङ्गों को एक स्थूलमध्य काँच (Double convex

lens) के द्वारा एकत्र करके उन्होंने स्वच्छ प्रकाश बनाकर प्रत्यक्ष दिखला दिया था। परन्तु न्यूटन के उपाय से स्पष्ट वर्ण-छत्र बनना असम्भव होने के कारण, सूर्य के वर्णछत्र के प्रधान लक्षण, प्रसिद्ध काली रेखाएँ उस समय नहीं जानी गई थीं।

वर्णछत्र द्वारा आजकल जो विचित्र कार्य किया गया है उसको समझने के लिए प्रकाश के विश्लेप का कुछ हाल जानना आवश्यक है। आधुनिक विद्वानों का कथन है कि स्वच्छ प्रकाश उत्पन्न करनेवाले मूलरङ्गों की प्रकृति समान नहीं। प्रत्येक रङ्ग विश्वव्यापी ईथर (Ether) नामक पदार्थ के क्षोभ से उत्पन्न एक तरङ्ग से बनता है। इस तरङ्ग की लम्बाई वर्णछत्र के लाल अंश में सबसे अधिक और क्रम से, रङ्गों के अनुसार घटते घटते, नील-लोहित अंश में अत्यन्त कम देखी जाती है हिसाब लगाने से लाल रङ्ग की लहरों की लम्बाई नील-लोहित तरङ्गों की अपेक्षा प्रायः दुगुनी होती है। यद्यपि मूल-रङ्गों की लहरो की लम्बाई में इस प्रकार का भेद देखा जाता है परन्तु सब पदार्थों के भीतर इनकी गति एक ही सी होती है इस कारण तरङ्गों की दीर्घता के अनुसार ईथर के कणों के कम्पन का परिमाण कमती-बढ़ती देखा जाता है, तथा दीर्घ तरङ्गवाले रङ्गों की कम्पन-संख्या ह्रस्व तरङ्गवाले रङ्गों की अपेक्षा न्यून होती है। इसी कारण लाल आदि रङ्गों की अपेक्षा नील-लोहित के द्वारा ही ईथर के कण सबसे

अधिक वेग से कम्पित होते हैं। विज्ञान के अनुरागी पाठक जानते हैं कि प्रकाश की किरण किसी स्वच्छ पदार्थ के भीतर सीधी जाती है। एक अँधेरी कोठरी में खिड़की के एक छेद द्वारा सूर्य की किरण डालकर देखने से, वायु में चमकते हुए धूल के कणों-द्वारा, किरण की गति सहज ही देखी जा सकती है। परन्तु वही किरण जब उस पदार्थ को छोड़कर उससे गाढ़े अथवा पतले किसी और नये पदार्थ मे प्रवेश करती है तब पहले के सीधे मार्ग से नही चल सकती। इन दोनों पदार्थों के सन्धि स्थल मे इसकी दिशा बदल जाती है, तथा—पदार्थ के गाढेपन के अनुसार झुककर—यह नई दिशा मे चलने लगती है। इसके सिवा प्रकाश की किरणों के झुकने के और भी कई नियम हैं जिनका विवरण वर्त्तमान प्रबन्ध मे देने की आवश्यकता नहीं।

प्रकाश की दिशा बदलने का कोई परिमाण निर्दिष्ट नहीं, इस कारण एक ही किरण अवस्था-भेद से नाना दिशाओं मे जा सकती है। आलोक-वाहक पदार्थ (Medium) यदि समान हो तो जब किसी पदार्थ से किरण गाढ़े पदार्थ मे वक्र भाव से प्रवेश करके किसी नवीन दिशा मे चलने लगती है तब परीक्षा करके देखा गया है—वह दिशा आलोकवाहक पदार्थों के सन्धिस्थल के लम्ब की ओर झुकी हुई होती है, परन्तु गाढ़े पदार्थ से पतले पदार्थ मे प्रवेश करने के समय इसका ठीक विपरीत फल दिखाई पड़ता है। इस दशा में प्रकाश की किरण

उक्त लम्ब से दूर होकर सन्धिभूमि की ओर ही झुक जाती है। प्रकाश की किरणों की दिशा इन्हीं दो स्थूल नियमों के अनुसार बदलती रहती है। यदि कोई दो स्वच्छ पदार्थों की सन्धि-भूमियाँ परस्पर समन्तराल (Parallel) हों तो पूर्वोक्त नियम का प्रयोग करने से देखा जाता है कि प्रकाश की किरण दोनों स्थानों मे दो बार झुककर अपनी पूर्व दिशा के साथ ठीक समन्तराल होकर बाहर आती है। परन्तु त्रिकोण काँच के टुकड़े मे कहीं समन्तराल भूमि नहीं होती। इस कारण प्रकाश की किरण दो ां स्थानों मे दो बार झुककर विच्छिन्न होने लगती है, समन्तराल होना सम्भव नहीं। त्रिकोण काँच के टुकड़े की रचना से यह विशेषता होने के कारण इ के द्वारा प्रकाश का विश्लेष हो जाता है। न्यूटन आदि विद्वानों ने प्रकाश की किरणों की दिशा के इस जटिल परिवर्त्तन के अनेक कारण बतलाये हैं। परन्तु प्राचीन सिद्धान्त झूठे सिद्ध हो जाने के कारण आधुनिक विद्वान् इन्हें नहीं मानते, और गाढ़े पदार्थ की अपेक्षा पतले स्वच्छ पदार्थ में प्रकाश का वेग बढ जाना ही आज-कल प्रकाश की किरणों के झुक जाने का कारण माना गया है।

इसके सिवा प्रकाश की दिशा के परिवर्त्तन में और भी दो-एक बातें देखी जाती हैं। जब किरणें दोनों पदार्थों के सन्धि-स्थल को ठीक लम्ब रूप से पार कर दूसरे पदार्थ में प्रवेश करती हैं तब इनकी दिशा में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, परन्तु इन

किरणों के तिरछे प्रवेश करने से ही दिशा का परिवर्त्तन होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि दूसरे पदार्थ में प्रवेश करने से गति में परिवर्त्तन होने के कारण ही दिशा में भी परिवर्त्तन हो जाता है। प्रकाश की सभी किरणें इस नियम के अधीन हैं, परन्तु दूसरे पदार्थ मे प्रवेश करते समय लम्ब में स्थित सब किरणो की गति एक बार ही बदलने के कारण उनकी दिशा मे कोई परिवर्त्तन नहीं होता। लेकिन जब किरणें तिरछी होकर प्रवेश करती हैं तब उनके सब अंश एक ही समय में दूसरे पदार्थ में प्रवेश नहीं करते। तरङ्ग का जो अंश पहले सन्धि-स्थल मे पहुँचता है केवल उसी की गति बदलती है, और शेष अंश कुछ काल तक पूर्व गति से चलता रहता है। इस प्रकार प्रकाश की एक ही किरण के भिन्न-भिन्न अंशों के पृथक्-पृथक् गति से चलने के कारण, सम्पूर्ण किरण के पदार्थ मे प्रवेश करने पर, उसकी दिशा मे परिवर्त्तन हो जाता है। यही प्रकाश की दिशा के बदलने का कारण है।

प्राय: सभी विज्ञान के ग्रन्थो मे प्रकाश की दिशा का परिवर्त्तन समझने के लिए एक सुन्दर उदाहरण देखा जाता है। इसके द्वारा यह विषय सहज ही समझ मे आ जाता है। इसमें किरणो को चलती हुई सेना की, और सेना की श्रेणियों को प्रकाश की तरङ्गों की उपमा दी गई है। सेना का एक दल सीधे मार्ग में समान गति से क़दम मिलाकर चलता हुआ

जब किसी सम्मुखवर्ती जलाशय को पैदल पार करने लगता है तब सेना की प्रत्येक श्रेणी, जल में प्रवेश करते ही, उसको पार करने के लिए अपनी गति को घटाती है। इसी प्रकार प्रकाश की किरण भी गाढ़े पदार्थ मे प्रवेश करते समय कुछ धीमी पड़ जाती है। यदि सैन्य-दल सीधे मार्ग से आकर लम्ब रूप से (Perpendicularly) पानी में प्रवेश करे तो सेना की प्रत्येक श्रेणी एक साथ ही पानी मे प्रवेश करेगी, और उसकी गति एक ही समय मे सम भाव से बदल जावेगी। इस कारण न तो सेना के दल के जाने की दिशा में कोई परिवर्त्तन होगा, और न श्रेणी का भङ्ग होगा। परन्तु यदि यही तिरछी होकर जलाशय के पार उतरने लगे तो एक ही श्रेणी के कुछ सैनिकों को धीरे-धीरे पानी में प्रवेश करते हुए, तथा अन्य सैनिकों को शीघ्र गति से स्थल पर चलते हुए देखा जावेगा। इस प्रकार एक ही श्रेणी के भिन्न अंशो के एक ही समय मे भिन्न गति से चलने के कारण दिशा मे परिवर्त्तन हो जावेगा। इसको विचारने से स्पष्ट समझ मे आ जावेगा कि प्रकाश की दिशा बदल जाने का भी ठीक यही कारण है।

प्रकाश की दिशा बदलने के ये स्थूल और साधारण नियम हैं। किसी एक मूलरङ्ग अर्थात् वर्णछत्र के लाल, पीले आदि में से कोई एक रङ्ग लेकर परीक्षा करने से ठीक पूर्वोक्त फल देखा जाता है। परन्तु वर्णछत्र के प्रत्येक रङ्ग की परीक्षा करने से प्रत्येक

के परिवर्त्तन का परिमाण समान नहीं पाया जाता। किसी र
की दिशा में थोड़ा और किसी मे अधिक झुकाव देखा जाता है
परीक्षा के द्वारा देखा गया है कि रङ्गों की किरणो की
अनुसार ही इनकी झुकने की शक्ति पाई जाती
छोटी तरङ्गवाले रङ्गों की किरणें बड़ी तरङ्गवाले
अधिक झुक जाती हैं। मूलरङ्गो के इस
झुकने के कारण वर्णछत्र बन जाता है,
बनना ही असम्भव होता। इस
किरणों का काँच के तिकोने टुकड़े पर
प्रकृतिवाले मूलरङ्गों को भिन्न-भिन्न
काश देते हैं। नील-लोहित रङ्ग की
होने के कारण अत्यन्त झुककर
तथा दीर्घ तरङ्गवाले लाल र
इस कारण स्वच्छ प्रकाश में
विच्छिन्न हो जाते हैं,
अलग-अलग हो जाते हैं
नहीं होती, इस कार
और नील-लोहित रङ्गों
के अनुसार व्यवस्थि
साधारण स्वच्छ प्रका
मूलरङ्गों से युक्त विभि

नूतन विश्लेष-प्रथा

सूर्य के प्रकाश के विश्लेष से जो वर्णच्छत्र प्राप्त होता है उसमें लाल आदि रङ्ग अविच्छिन्न भाव से मिले रहते हैं, केवल सूर्य के वर्णच्छत्र के प्रधान लक्षण यानी कुछ काली रेखाएँ बीच-बीच में दिखाई पड़ती हैं। परन्तु ये काली रेखाएँ, अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, स्थूल दृष्टि से साधारण वर्णच्छत्र को देखने से सहसा दिखाई नहीं पड़तीं, इस कारण सूर्य का वर्णच्छत्र प्रायः अविच्छिन्न ही जान पड़ता है। यह तो सूर्य के प्रकाश
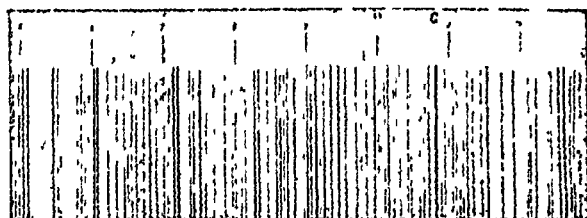
सूर्य्य के वर्णच्छत्र के एक अंश की काली रेखाएँ।

की बात हुई। अन्य प्रकाश के विश्लेष से भी वर्णच्छत्र उत्पन्न हो सकता है। परन्तु जिन मूल-रङ्गों की किरणों के संयोग से सूर्य का प्रकाश उत्पन्न होता है वे सब अन्य प्रकाश में एक ही

समय मे उपस्थित नही होते। इस कारण भिन्न-भिन्न वर्ण-छत्रों में वर्णविन्यास के अनेक भेद देखे जाते हैं, तथा कहीं-कहीं इसी कारण से वर्णछत्रों में भी भेद पाया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रकृति के भेद से सब पदार्थों के वर्णछत्रों को तीन मुख्य श्रेणियों मे विभक्त किया है। जिन वर्ण-छत्रों के रङ्ग अविच्छिन्न भाव से क्रमानुसार मिले रहते हैं उनको एक श्रेणी में रक्खा गया है। परीक्षा करके देखा गया है कि कठिन और तरल पदार्थों को प्रज्वलित करने से उनके प्रकाश से साधारणतः यही अविच्छिन्न (continuous) वर्णछत्र प्रकट होता है। दूसरी श्रेणी के वर्णछत्रों के विश्लिष्ट रङ्गों की उज्ज्वलता समान नहीं होती, इस कारण इसके सब रङ्ग अलग-अलग प्रकाशित देखे जाते हैं। सूर्य का वर्णछत्र इस श्रेणी के अन्तर्गत है, क्योंकि इसके सब अंशों मे काली रेखाएँ व्याप्त रहने के कारण पूर्वापर रङ्गो मे व्यवधान पड जाता है, इस कारण यह प्रथम श्रेणी के वर्णछत्र के समान अविच्छिन्न नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक कहते हैं कि इस जाति के वर्णछत्र उत्पन्न करनेवाले प्रकाश में से किसी प्रकार से कुछ मूल-रङ्गो की किरणें लुप्त हो जाती हैं इस कारण ऐसे वर्ण-छत्रों मे लुप्त वर्ण प्रकाशित नही होते और इनके स्थान ख़ाली पड़ जाते हैं। ये ख़ाली स्थान ही सूर्य के वर्णछत्र में काली रेखाओं के आकार मे दिखाई पड़ते हैं। तृतीय श्रेणी के वर्ण-

छत्रों में भी रङ्गों का अविच्छिन्न समावेश नहीं देखा जाता। इनमें केवल बीच-बीच में कुछ स्थूल और उज्ज्वल वर्णरेखाएँ ही दिखाई पड़ती हैं। जो किरणें केवल दो या अधिक मूल-रङ्गों के योग से बनती हैं उन्हों के विश्लेष से यह अन्तिम जाति का वर्णछत्र बनता है। प्रज्वलित वाष्प के प्रकाश से उत्पन्न वर्णछत्र का यही प्रधान लक्षण है।

न्यूटन ने जब वर्ण-विश्लेष की प्रक्रिया का आविष्कार किया तब वर्णछत्र के विषय में वैज्ञानिक-समाज में कुछ दिनों तक बहुत आन्दोलन होता रहा, परन्तु इसके द्वारा कोई नई बात नहीं जानी गई। न्यूटन के आविष्कार के बहुत समय पीछे सन् १७५२ ईसवी में टामस मेलविल (Thomas Melville) नामक एक विद्वान युवक, न्यूटन के प्रदर्शित मार्ग से, वर्णछत्र का नये सिरे से अनुसन्धान करने में प्रवृत्त हुआ। सौभाग्यवश अन्य समकालीन वैज्ञानिकों के समान मेलविल का अनुसन्धान और यत्न निष्फल नहीं हुआ। दाह्य पदार्थ के भेद से दीप के प्रकाश के अनेक वर्णछत्र हो सकते हैं, इस बात का प्रचार सबसे पहले युवक मेलविल ने ही किया, तथा मोटे काग़ज़ में छोटे छिद्र करके और उनके द्वारा त्रिकोण काच पर प्रकाश डालकर प्रज्वलित वाष्प के स्थूल उज्ज्वल रेखा-युक्त वर्णछत्रों का भी आविष्कार इन्हीं ने किया। सामान्य यन्त्र के द्वारा नाना प्रकार के वर्णछत्रों का आविष्कार करने के कारण उस

समय वैज्ञानिक-समाज में मेलविल का बड़ा आदर हुआ, और इस सम्मान को पाकर युवक मेलविल दूने उत्साह से प्रकाश-विज्ञान के अनुसन्धान मे लगे, परन्तु दुर्भाग्यवश पूर्वोक्त आविष्कार करने के दो वर्ष पीछे ही मेलविल की मृत्यु से विज्ञान-संसार की बड़ी हानि हुई।

मेलविल के पश्चात् प्रसिद्ध वैज्ञानिक ओलस्टन् साहब वर्णछत्र के अनुसन्धान मे प्रवृत्त हुए, और सन् १८०२ ईसवी में रायल सोसाइटी (Royal Society) के अधिवेशन में उनकी, परीक्षाओं से सिद्ध की हुई, कई नई बातें प्रकाशित हुईं। परन्तु इससे प्रकाश-विज्ञान की कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। इसका निश्चय नहीं कि आलोक-विज्ञान की उन्नति का आरम्भ कब से हुआ। इस विषय मे वैज्ञानिकों में बहुत मतभेद है। अनेक वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रसिद्ध विद्वान् जोज़फ़ फ्रानहोफ़र के समय से प्रकाश-विज्ञान की उन्नति का आरम्भ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकाश-विज्ञान और वर्णछत्र की उन्नति के इतिहास में फ्रानहोफ़र के विख्यात आविष्कार और उनकी परीक्षाएँ उल्लेखनीय हैं। सन् १८१४ ईसवी मे फ्रानहोफ़र के द्वारा सूर्य के वर्णछत्र की पूर्ववर्णित काली रेखाओं का आविष्कार होने से ही अनेक लोगों का ध्यान उधर आकर्षित हुआ। दो भिन्न प्रकृति के काँच लेकर विविध रश्मियों की दिशा के परिवर्त्तन का परिमाण निर्णय करते समय सूर्य के वर्णछत्र में

इन्होंने अचानक काली रेखाएँ देखी। इस विचित्र आविष्कार पर अन्य विद्वानों के सन्देह करने पर इन्होंने थिओडोलाइट (Theodolite) यन्त्र की दूरबीन (Telescope) के द्वारा इन रेखाओं की संख्या और स्थान स्पष्ट निर्दिष्ट करके सबका सन्देह दूर कर दिया। फ़ानहोफ़र साहब ने इसी क्षुद्र यन्त्र के द्वारा प्रायः ६०० काली रेखाओं का आविष्कार किया था। इस प्रसिद्ध विद्वान् ने काली रेखाओं का केवल आविष्कार ही नहीं किया था वरन प्रायः तीन वर्ष तक निरन्तर परिश्रम करके और उनके पारस्परिक अन्तर का निर्णय करके सूर्य के वर्णछत्र के कई चित्र भी खींचे थे। इसके सिवा इन्होने वर्णछत्र के विषय मे और भी कई नई-नई बातें निकाली थीं। सबसे पहले फ़ानहोफ़र साहब ने ही इस बात का प्रचार किया कि इन काली रेखाओं की संख्या नियत है, तथा साधारण सूर्य के प्रकाश मे और चन्द्र आदि ग्रहों-उपग्रहों से प्रतिफलित प्रकाश मे इन काली रेखाओ का स्थान निर्दिष्ट और अपरिवर्त्तन-शील है। इस प्रकार नाना विषयों में कृतकार्य होने पर भी, अनेक परीक्षाओं और बहुत कुछ उद्योग के करने पर भी फ़ानहोफ़र साहब इन काली रेखाओं के उत्पन्न होने का मूल कारण न बतला सके।

फ़ानहोफ़र की बात छोड़ने पर वर्त्तमान शताब्दी के अनुसन्धान करनेवाले विद्वानों में इस समय सर जान हर्शेल और

फ़ाक्स टालबट की बात ध्यान में आती है। इन दोनों वैज्ञानिकों के विशेष उद्योग से वर्णछत्र की प्रकृति के विषय में अनेक नवीन बातें प्रकाशित हुईं, तथा वर्णछत्र के द्वारा पदार्थों की प्रकृति के निर्णय करने की प्रथा का प्रचार संसार मे सबसे पहले इन्हीं दोनों पण्डितों ने किया। सन् १८२२ ईसवी में हर्शल साहब विविध प्रज्वलित पदार्थों के वर्णछत्रों की परीक्षा में प्रवृत्त हुए और प्रत्येक पदार्थ के वर्णछत्र के निर्दिष्ट अंश में एक-एक स्थूल रेखा देखकर उन्होंने इन रेखाओं को ही दाह्य पदार्थों की प्रकृति का ज्ञापक समझा। हर्शल साहब की परीक्षा के समय, उस समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर डेविड ब्रुस्टर साहब ने भी उनका साथ दिया था, तथा नाना प्रकार के पौधों के रसों में वर्णछत्र डालकर और इनके रङ्ग का परिवर्तन होते देखकर इन्हीं दोनों वैज्ञानिकों ने सबसे पहले यह अनुमान किया कि वर्णछत्र के द्वारा विश्लेष हो सकता है। इसके सिवा, प्रत्येक वाष्प की निर्दिष्ट किरणों को हर लेने की शक्ति देखकर, सूर्य के वर्णछत्र की काली रेखाओं के उत्पन्न होने के सच्चे कारण को इन्हीं लोगों ने सबसे पहले संसार में प्रसिद्ध किया।

हर्शल और ब्रुस्टर की परीक्षाओं का फल प्रचारित होने से सन् १८२६ ईसवी में प्रसिद्ध रसायनवेत्ता फ़ाक्स टालबट साहब ने उक्त वैज्ञानिकों के आविष्कार की समालोचना में एक पुस्तक लिखी। वैज्ञानिकों के मत से टालबट साहब की यह

छोटी सी पुस्तक प्राचीन विज्ञान-भण्डार का एक अमूल्य रत्न है, क्योंकि इस छोटी सी पुस्तक की बदौलत ही वर्तमान वर्णछत्र के द्वारा विश्लेष-प्रथा की नींव पड़ी। ग्रन्थकार ने एक स्थान में स्पष्ट लिखा है कि जटिल रासायनिक पदार्थों को प्रज्वलित कर केवल वर्णछत्र की परीक्षा के द्वारा इनकी रचना बहुत सूक्ष्मता से निर्णीत हो सकती है। इतना सूक्ष्म विश्लेष अन्य किसी रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा सम्भव नहीं। सब वर्ण-छत्रों में सोडियम (Sodium) की पीली रेखा देखकर पीली रेखा उत्पन्न करनेवाले पदार्थ के आविष्कार के लिए टालबट साहब ने अनेक परीक्षाएँ कीं, परन्तु दुर्भाग्यवश वे कृतकार्य न हो सके। प्राय: सभी पदार्थों में थोड़ा-बहुत पानी रहता है यह देखकर पहले उन्होंने पानी को ही पीला रङ्ग उत्पन्न करनेवाला पदार्थ समझा परन्तु पीछे लाल रङ्ग के वर्णछत्र में पीली रेखा देखकर इसका कारण गन्धक को समझा।

अब पूर्वोक्त प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों की अनेक परी-क्षाओं के द्वारा देखा जाता है कि सभी पदार्थों के, उष्णता के योग से, वाष्प-रूप और प्रज्वलित होने पर उनके वर्णछत्र में एक-एक निर्दिष्ट रङ्ग की रेखा दिखाई पड़ती है; तथा जभी वे पदार्थ होते हैं तभी वर्णछत्र के निर्दिष्ट स्थान में वही सब रेखाएँ प्रकाशित देखी जाती हैं; इस कारण वर्णछत्र की इन स्थिर रेखाओं को देखकर अति जटिल पदार्थों की रचना का भी

अनायास ही निर्णय हो सकता है। सोडियम (Sodium), पोटासियम (Potassium) आदि कई धातुएँ साधारण दीप की शिखा मे सहज ही वाष्परूप और प्रज्वलित हो जाती हैं, इस कारण इनका वर्णछत्र बड़ी आसानी से बन सकता है; परन्तु अन्य पदार्थों को थोड़े ताप से वाष्परूप अथवा प्रज्वलित करना कठिन है, बल्कि कभी-कभी असाध्य भी हो जाता है, इस कारण साधारण विश्लेषकार्य मे वर्णछत्र का व्यवहार अब तक नहीं किया गया। परन्तु आजकल बिजली के प्रवाह और अम्लि-हाइड्रोजन-शिखा (Oxyhydrogen flame) के द्वारा ये सब काम हो सकते हैं, अतएव विश्लेष की यह नई रीति सबसे सरल होने के कारण आदर पाने लगी है केवल बिजली के प्रवाह से आजकल सब धातुओं की वाष्प बनती है।

वर्णछत्र के द्वारा केवल पदार्थों के विश्लेष का ही सुभीता नहीं हुआ किन्तु गत पचास वर्षों मे इसके द्वारा कई नवीन धातुओं का भी आविष्कार किया गया है। पोटासियम आदि कई धातुओं के वर्णछत्र मे इनकी वर्णरेखा दिखलाते समय जगत्प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् बुन्सन साहब ने दो नई धातुओं का आविष्कार किया। पोटासियम के वर्णछत्र मे वर्णरेखा के पास और एक नवीन वर्णरेखा देखकर उसको किसी विजातीय पदार्थ के योग से उत्पन्न समझकर बुन्सन साहब ने वर्णोत्पादक पदार्थ को अलग करने की चेष्टा की, और इस उद्योग के फल से

रुबिडियम (Rubidium) और सिजियम नामक दो नवीन धातुओं का आविष्कार किया। इस घटना के कुछ दिन पीछे प्रसिद्ध वैज्ञानिक क्रुक्स साहब ने किसी यौगिक पदार्थ के वर्णछत्र की परीक्षा के समय वर्णछत्र में एक अति उज्ज्वल नीली रेखा देखी और इसको किसी परिचित मूल-पदार्थ से उत्पन्न न जानकर किसी नये पदार्थ के अस्तित्व का बोधक समझा, और थोड़े ही परिश्रम से थैलियम (Thallium) नामक एक नवीन धातु को ढूँढ निकाला। वर्णछत्र के द्वारा धातुओं के आविष्कार करने में बुन्सन और क्रुक्स आदि को सफल होते देखकर उस समय के अनेक विद्वानों ने सब पदार्थों के वर्णछत्रों की परीक्षा करना आरम्भ कर दिया। इस उद्योग से वयस्बाद्रो और फ्रेनबर्ग नामक दो वैज्ञानिकों ने थोड़े ही समय में इण्डियम (Indium) और गैलियम (Gallium) नामक दो नवीन धातुओं को ढूँढ निकाला।

प्रत्येक पदार्थ के वर्णछत्र की स्थिर वर्णरेखाएँ ही विश्लेष की इस नवीन पद्धति का मुख्य आधार हैं यह पहले ही कहा जा चुका है कि यदि पदार्थ में परिवर्त्तन न किया जावे तो वर्णछत्र की निर्दिष्ट रेखाओं का स्थान सदा एक ही रहता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि किसी जटिल पदार्थ के तत्त्वों का निर्णय करने के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि इस वस्तु के वर्णछत्र में कौन-कौन सी वर्णरेखाएँ मूलपदार्थों की

वर्णरेखाओं के समान हैं, क्योंकि इसको जान लेने से सहज ही निर्णय हो जायगा कि उन-उन वर्णरेखाओं को उत्पन्न करने-वाले मूलपदार्थ उस यौगिक वस्तु मे वर्त्तमान हैं। अनेक पदार्थों की रँगी हुई प्रतिकृति देखकर यह अनायास ही जाना जा सकता है कि कौन-सा मूल-पदार्थ कौन-सी वर्णरेखा उत्पन्न करता है। आजकल साधारण विश्लेष-कार्य इसी प्रकार किया जाता है।

इससे अब सन्देह नही रहा कि वर्णछत्र की रेखाओं के स्थान सदा ही नियत रहते हैं। परन्तु प्रकाश देनेवाले पदार्थों की अवस्था के भेद से कई बार वही रेखाएँ कभी पतली और कभी मोटी दिखाई पड़ती हैं। परीक्षा के द्वारा देखा गया है कि प्रकाश उत्पन्न करनेवाले पदार्थ का दबाव और ताप बढ़ाने से उसकी रेखाएँ क्रम से उज्ज्वल और स्पष्ट होती जाती हैं, तथा ताप की मात्रा बहुत बढ़ाने से कभी-कभी वर्णछत्र मे एक ही रङ्ग की और दो-एक रेखाएँ दिखाई पड़ने लगती हैं। दबाव और ताप के द्वारा वर्णछत्र के इस परिवर्त्तन से परीक्षा मे बड़ी गड़बड़ मचती है, क्योंकि, साधारण रीति से अविच्छिन्न उज्ज्वल वर्णछत्र प्रज्वलित कठिन पदार्थों से उत्पन्न माने जाते हैं; परन्तु वाष्प से उत्पन्न विच्छिन्न वर्णछत्र की रेखाओं को भी, बहुत ताप और दबाव के द्वारा फैलाकर, कठिन पदार्थ के वर्णछत्र के समान अविच्छिन्न किया जा सकता है। इस

कारण वर्णछत्र के विश्लेष के समय वर्णरेखाओं का परस्पर व्यवधान बहुत सूक्ष्मता से देखना पड़ता है, तथा परीक्षा के पदार्थ को उपर्युक्त उष्णता देकर बड़ी सावधानी से प्रज्वलित करना पड़ता है।

यह तो विच्छिन्न वाष्पीय वर्णछत्र की बात हुई। कृष्ण-रेखा-युक्त सूर्य के वर्णछत्र के द्वारा भी रासायनिक विश्लेष बड़ी सूक्ष्मता से किया जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि स्वच्छ प्रकाश की सब किरणें सूर्यमण्डल से पृथिवी पर आते समय कुछ बदल जाती हैं, और कुछ किरणें किसी प्रकार लुप्त हो जाती हैं, इसी कारण सूर्य के वर्णछत्र में लुप्त वर्णों के स्थान में काली रेखाएँ दिखाई देती हैं। इस लुप्तरश्मि-प्रकाश के वर्णछत्र के द्वारा बहुधा तरल पदार्थों की रचना का निर्णय सहज ही में हो सकता है। विज्ञान के अनुरागी पाठक अवश्य जानते होंगे कि हम लोग संसार में जिन सचराचर पदार्थों को देखते हैं उन सबके रङ्ग सूर्य के प्रकाश से ही भासते हैं। इन पदार्थों पर स्वच्छ प्रकाश पड़ने से स्वाभाविक नियम के अनुसार, ये प्रकाश की कुछ किरणों को हर लेते और शेष को छोड़ देते हैं—इन प्रतिफलित किरणों के द्वारा ही हमको पदार्थों में रङ्ग दिखाई देते हैं। यह साधारण पदार्थों के रङ्ग का वर्णन हुआ। स्वच्छ (Transparent) पदार्थ भी उसी प्रकार वर्णयुक्त देखे जाते हैं; केवल इनमे बची हुई किरणें प्रतिभासित न

होकर पदार्थ के भीतर से निर्विघ्न बाहर आकर इनका रङ्ग प्रकट करती हैं। वर्णछत्र की सहायता से किसी तरल पदार्थ की प्रकृति का निर्णय करने के लिए इस तरल पदार्थ के ऊपर स्वच्छ प्रकाश डालकर तथा पूर्वोक्त साधारण उपाय से वर्णछत्र उत्पन्न कर उसकी परीक्षा करके उस पदार्थ की रचना का निर्णय करना पड़ता है। इस प्रकार के वर्णछत्र का एक प्रधान लक्षण यह है कि तरल पदार्थ के भीतर से आने के समय साधारण सूर्य-प्रकाश की कुछ किरणें पदार्थ की प्रकृति के अनुसार लुप्त हो जाती हैं, इस कारण इस लुप्तरश्मि-प्रकाश से जो वर्णछत्र बनता है उसमें सूर्य के वर्णछत्र की स्थिर रेखाओं के अतिरिक्त और भी कई नई काली रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। यदि यह मालूम हो जाय कि इन नई रेखाओं का स्थान वर्णछत्र के किस-किस अंश में है, और किस-किस मूलपदार्थ के द्वारा सब उक्त लुप्तवर्ण रेखाएँ उत्पन्न होती हैं तो तरल पदार्थ की प्रकृति का अनायास ही निर्णय हो सकता है।

आजकल पूर्वोक्त उपाय से सब जड़ और चेतन पदार्थों का विश्लेष किया जाता है। जो चेतन पदार्थ जटलिता के कारण अभी तक अ-विश्लिष्ट थे उनके अति सूक्ष्म उपादान भी वर्ण-छत्र की सहायता से अत्यन्त सहज में जान लिये गये हैं। इसके सिवा, सन्देहजनक मृत्यु के समय मृत व्यक्ति के पाकाशय में स्थित पदार्थों का विश्लेष असम्भव होने से, अनेक समय

केवल वर्णछत्र की परीक्षा के द्वारा अनेक विषमय पदार्थों के लक्षण पाये गये हैं। थोड़े दिन हुए, हप्सेलर साहब नाम के एक वैज्ञानिक ने मनुष्य के रक्त का वर्णछत्र बनाया और यह भी दिखलाया कि विष के संसर्ग से रक्त के दूषित होने पर वर्णछत्र में क्या क्या परिवर्तन होता है। हप्सेलर साहब के इस आविष्कार के द्वारा यह सहज ही निर्णय किया जा सकता है कि विकृत शोणितवाले व्यक्ति का रक्त किस विष से दूषित हुआ है। आजकल अध्यापक सर्लि आदि कई विद्वानों ने वर्णछत्र की सहायता से व्यापारियों के पदार्थों की विशुद्धता की भी परीक्षा करना आरम्भ कर दिया है, तथा यूरोप की अनेक वणिक-सभाएँ विशुद्धता के निरूपण का यही सर्वोत्कृष्ट और सूक्ष्मतम उपाय मानती हैं।

चाय पान

प्रात:काल बिस्तरा छोड़ने पर शरीर की सुस्ती दूर करने के लिए एक प्याला चाय जितना आनन्द देती है उसकी सुधि दिलाना चाय के प्रेमी पाठकों को व्यर्थ है। इसी प्रकार तीसरे पहर अथवा साँझ के समय, जब दिन भर के परिश्रम से शरीर थक जाता है तब, एक प्याला गरम चाय शरीर में जो स्फूर्ति उत्पन्न करती है उसका विशेष वर्णन चाय पानवाले के सम्मुख करना केवल धृष्टता है। चाय पीनेवाले के इस आनन्द को देखकर यदि कोई कहे कि चाय भी एक प्रकार का नशा है—अफ़ीम, गाँजा, भाँग अथवा तमाखू के समान तीव्र नशा न सही एक प्रकार का हलका नशा तो है—तो चाय पीनेवालों पर बड़ा अन्याय होगा। निकोटीन (Nicotine), मार्फ़ीन (Morphine) आदि जो उद्भिज्ज द्रव्य शरीर मे पहुँचकर नशा उत्पन्न करते हैं उनका लेशमात्र भी चाय मे नहीं। इस कारण इस पदार्थ को गाँजा, भाँग, अफ़ीम या तमाखू की श्रेणी में रखना अन्याय होगा। परन्तु यदि कोई चाय पीनेवाला कहे कि चाय में कोई ऐसी वस्तु

नहीं जो स्नायुमण्डल को उत्तेजित कर शरीर का श्रम दूर करे तो उसकी वह बात भी विज्ञान-सम्मत नहीं होगी। हम नहीं जानते कि पृथ्वी पर जितने पेड़-पौधे हैं वे सब मनुष्य के उपकार के लिए ही परमेश्वर ने बनाये हैं या नहीं, परन्तु यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बुद्धिमान् मनुष्य युग युगान्तर तक लताएँ, पत्ते, फल, मूल, संग्रह करके अनेक औषधियों का आविष्कार करते रहे हैं। जान पड़ता है कि डाक्टरी, आयुर्वैदिक, अथवा यूनानी चिकित्सकों की पन्द्रह आना ओषधियाँ वृक्षों से बनती हैं, शेष एक आना मात्र ही खनिज पदार्थ अथवा अन्य किसी वस्तु से बनती हैं। पौधों का जो भाग प्राणियों के शरीर में जाकर नाना प्रकार के विकार उत्पन्न करता है उसे विज्ञान की भाषा में साधारणतः सत्त्व (Alkaloids) कहते हैं। कुनैन (Quinine), सिनकोना (Cinchona), कोकेन (Cocaine), स्ट्रिकानीन (Strychnine) ये सब सत्त्व हैं। रसायनवेत्ताओं ने चाय का विश्लेष कर उसमें से भी एक विशेष गुण-सम्पन्न सत्त्व निकाला है। इसको विज्ञान की भाषा में कैफ़ीन (Caffeine) कहते हैं। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि हमारे शरीर पर इस वस्तु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी कारण कहते हैं कि यदि कोई चाय पीनेवाला कहे कि चीनी, दूध और गरम पानी के मिश्रण मे चाय का काथ

मिलाने से इसमे केवल कुछ सुगन्ध और स्वाद आ जाता है, तो यह कथन कभी पक्षपात-रहित नहीं कहा जा सकता। चाय में कुछ ऐसी वस्तु है जो चाय पीनेवालों को चाय के प्याले की ओर खींचती है। इस आकर्षण का कारण जठराग्नि नहीं कही जा सकती, क्योंकि ऐसे अनेक चाय पीनेवाले पाये जाते हैं जो सन्मुख ही गरमा-गरम पूड़ियों और मिठाई का ढेर देखकर भी केवल एक प्याला चाय पीकर चल देते हैं। परम्परा भी इसका कारण नहीं, क्योंकि ऐसे भी चाय पीनेवाले दुर्लभ नहीं जो टूटी कड़ाही मे पानी गरम करके लोटे मे चाय बनाते हैं, और उसी को पीतल अथवा काँसे के बर्तन मे उँड़ेल-कर पीते हैं। दो-चार आदमी साथ बैठकर जब तक चाय न पियें तब तक चाय की सभा नहीं जमती इस कारण मालूम होता है कि इष्ट-मित्रों के साथ थोड़ी देर बैठने के लिए ही चाय के प्याले की ओर हमारा चित्त आकर्षित होता है। परन्तु ऐसे भी अनेक लोग देखे जाते हैं जो अन्तःपुर के एक निभृत कोने में बैठकर अकेले चाय पीते हैं और इस प्रकार उनकी तृप्ति मे कोई विघ्न नहीं होता।

यह हम पहले कह चुके हैं कि चाय का विश्लेष करने से कैफ़ीन नाम का पदार्थ निकाला जाता है। इसके सिवा टैनिन (Tannin) या टैनिक ऐसिड (Tannic Acid) नामक एक अम्ल तथा एक प्रकार का सुगन्धित तेल के समान पदार्थ

इन सब बातों को सोचने से जान पड़ता है कि चाय पीने-वालों में बारह आने लोग बिना जाने गरम पानी के गुणों पर ही मुग्ध होकर चाय के प्याले की ओर आकर्षित होते हैं। ऐसे अनेक लोग देखे जाते हैं जो गरम पानी न पी सकने के कारण ही चाय पीते हैं। इनका चाय पीना बच्चों के कुनेन खाने के समान है। कुनेन की कड़वी गोली के ऊपर चीनी का आवरण रहने से बच्चा औषधि के सेवन में आपत्ति नहीं करता, तथा अन्त मे आग्रह के साथ कुनेन की गोली माँगकर खा लेता है। उसी प्रकार ये लोग भी स्वाद तथा गन्ध-रहित गरम पानी न पीकर उसमें दूध, चीनी और चाय के पत्तों का सुगन्धित क्वाथ मिलाकर पी लेते हैं। शक्कर लगी रहने से कुनेन का गुण कम नहीं होता, तथा चाय का क्वाथ, दूध और चीनी मिलाने से भी गरम पानी के गुण की हानि नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि निरा गरम पानी न पी सकने के कारण ही वे दूध, चीनी आदि मिलाकर उसी गरम पानी को पीते हैं। इन लोगों को गरम पानी ही चाय के प्याले की ओर बहुत कुछ आकर्षित करता है।

अब चाय के काढ़े के दो प्रधान उपादानों—टैनिक ऐसिड और कैफ़ीन—के गुण-दोषों का विचार करना है। टैनिक ऐसिड अनेक पौधों के पत्तों और छाल में थोड़ा-बहुत पाया जाता है, तथा चाय के पत्ते मे भी होता है। तन्दुरुस्त प्राणी

के शरीर पर इस द्रव्य का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। यह वस्तु कषाय गुणवाली है, इस कारण कषाय द्रव्य खाने से जो हानि होती है वही इसमे भी दिखाई पड़ती है। फिटकरी (Alum) भी कषाय द्रव्य (Astringent) है। दाँत माँजने के समय इसको मुँह मे डालने से मुँह के भीतर की झिल्ली सिकुड़ जाती है, जीभ ऐंठने लगती है और मुँह सूख जाता है। केवल मुँह मे ही इसका ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता, वरन् हमारे शरीर के भीतर जिस अंश में कषाय-द्रव्य पहुँचता है उसको इसी प्रकार सुखाकर ऐंठ देता है। पाकाशय में पहुँचकर यह पाकेन्द्रिय की झिल्ली को इतना सुखा देता है कि पचने में बाधा पड़ जाती है। मुँह मे रहते समय यह मुँह को सुखा देता है, जिससे आहार के साथ यथेष्ट लार (Saliva) नहीं मिल सकती और लारहीन भुक्त पदार्थ पाकाशय में पहुँचकर शीघ्र नहीं पचते। पाकाशय मे भुक्त-द्रव्य के साथ इसका मेल होने पर फल अच्छा नही होता। इसके संयोग से भुक्त पदार्थ भी सूखकर ऐसे कड़े हो जाते हैं कि उनको पचाना कठिन हो जाता है, जिससे अजीर्ण हो जाता है। मांस के साथ टैनिक ऐसिड तथा अन्य कषाय-द्रव्यों की घोर शत्रुता है। इसके संस्पर्श मात्र से मांस रबर के समान एक अपूर्व वस्तु बन जाता है। जिनकी जठराग्नि बहुत प्रबल होती है वे भी इस प्रकार के रूपान्तरित मांस को सहज मे नही पचा सकते।

वैज्ञानिकों का कथन है कि मांस में अल्बूमिन (Albumen) नाम की जो धातु होती है वह टैनिक ऐसिड के संस्पर्श से ही कड़ी (Coagulated) हो जाती है।

टैनिक ऐसिड के गुणों के विषय में ये बातें जानने से स्पष्ट मालूम होता है कि आहार के साथ इसको बहुत ग्रहण करने से हमारा पाकाशय कभी ठीक नहीं रह सकता। परन्तु इससे चाय पीनेवालों को शङ्कित होने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। चाय के पत्तों मे टैनिक ऐसिड बहुत थोड़ा होता है और जो कुछ है उसका सामान्य अंश ही गरम पानी की सहायता से तीन चार मिनट मे बाहर निकलता है। वैज्ञानिकों ने परीक्षा करके देखा है कि चाय के पत्तो को गरम पानी में डालने से चार मिनट मे केवल कैफ़ीन ही पत्तों मे से निकल सकता है, इसके पीछे धीरे-धीरे टैनिक ऐसिड निकलने लगता है। सम्पूर्ण टैनिक ऐसिड के निकलने के लिए चाय के पत्तों को कम से कम आध घण्टे तक उबलते पानी में रहने देना चाहिए। परन्तु जान पड़ता है कि संसार भर में ऐसा अनाड़ी शायद ही कहीं मिले जो चाय बनाने के लिए पत्ती को आधे घण्टे तक पानी में पटक रक्खे। इसलिए चाय पीने का जिन लोगों को अच्छा अभ्यास है वे टैनिक ऐसिड का भय न करके मज़े से चाय पी सकते हैं।

अब चाय के अन्य उपादान कैफ़ीन नामक उद्भिज्ज पदार्थ की आलोचना करनी है। कैफ़ीन के समान परम उपकारी

उद्भिज्ज पदार्थ संसार में दुर्लभ है। शरीर में पहुँचते ही यह स्नायुमण्डली को उत्तेजित करता है, परन्तु अन्य उत्तेजक पदार्थ (Stimulants) ग्रहण करने से उत्तेजना के पीछे जो एक प्रकार का अवसाद (Depression) उपस्थित होता है उसका लेश भी इसमे नहीं दिखाई पड़ता। यह बात थोड़ी नहीं है। शराब, अफ़ीम (Opium) आदि पदार्थ बहुत उत्ते-जित करते हैं, परन्तु उत्तेजना के शान्त होने पर जो अवसाद (ख़ुमारी) देखा जाता है उससे उपकार नष्ट होकर अपकार ही विशेष प्रतीत होता है। इसके सिवा प्राणी के मस्तिष्क पर कैफ़ीन का प्रभाव अत्यन्त आश्चर्यजनक है। कुचले (Nux Vomica) का सार स्ट्रिकनिया (Strychnine) कभी-कभी मस्तिष्क की उत्तेजना के लिए व्यवहार में लाया जाता है, परन्तु यह कभी प्रत्यक्ष रूप से मस्तिष्क को उत्तेजित नहीं कर सकता। कैफ़ीन किसी प्रकार का अवसाद न करते हुए भी मस्तिष्क को प्रत्यक्ष रूप से उत्तेजित करता है।

कैफ़ीन के पूर्वोक्त गुणों की बात सुनकर यह आशङ्का होती है कि चाय के साथ कैफ़ीन भक्षण कर लेने से कहीं निद्रा मे व्याघात न हो। मस्तिष्क के जितने उत्तेजक हैं वे बहुधा निद्रा मे विघ्न करते हैं, इसी कारण चाय भी निद्रा का नाश करने-वाली कही जाती है। परन्तु चाय पीनेवालों को यह मन-समझौता कर लेना चाहिए कि चाय के बहुत से गुणों में एक

छोटा सा दोष भी गुणों को ही सुशोभित करता है। इसके सिवा जिस चाय, काफ़ी (Coffee) का हम लोग प्रति दिन दो बार व्यवहार करते हैं उसी के प्रयोग से जब किसी निद्रालु अफ़ीमची को अथवा बेहोश व्यक्ति को सचेत होते देखते हैं तब सचमुच ही आनन्द होता है। चाय के जिस धर्म को साधारण लोग दोष मानते हैं वही अच्छे वैद्यों के हाथ मे गुण हो जाता है।

पूर्वोक्त आलोचना से स्पष्ट विदित हो जाता है कि जब हम प्रातःकाल उठकर एक प्याला चाय के लिए आग्रह करते हैं तब गरम पानी पीने की इच्छा तथा साथ ही साथ थोड़ा सा कैफ़ीन भक्षण कर स्नायु को सचेत करने की चेष्टा, दोनों मिलकर हमको चाय के प्याले की ओर आकर्षित करती हैं। मनुष्य भूलों और भ्रान्तियों से भरा हुआ है, तथा यह विशाल संसार भी भूल, भ्रान्ति और मोह से आच्छन्न है। यदि ऐसा न होता तो पृथ्वी स्वर्ग हो जाती और मनुष्य भी देवता बन जाते। परन्तु देवताओं के आसन पर मनुष्य अभी तक अधिकार नहीं कर सके हैं इस कारण कुछ मनुष्य चाय पीने के प्राकृतिक रहस्य को न जानकर इसी भीतरी इच्छा से चाय के प्याले की ओर आकर्षित होते हैं, और अन्य लोग इनको देखकर एक अन्य भूल के वश होकर चाय पीनेवालों को मदमत्त (नशाख़ोर) बतलाते हैं।

हम लोग जैसी चाय बनाकर पीते हैं उसके दो उपादानों—चीनी और दूध—के विषय में अभी तक कुछ नहीं कहा गया। अधिक कहने से क्या, गरम बढ़िया दूध तथा स्वच्छ चीनी दोनों ही अति रुचिकर पदार्थ हैं। इन दो पदार्थों ने बहुत लोगों को चाय के प्याले की ओर आकर्षित किया है, और कितने ही तो अन्त मे नित्य-चाय-सेवी हो गये हैं। चीनी सुस्वादु वस्तु अवश्य है, पर तो भी चाय के साथ इसका अधिक व्यवहार अच्छा नहीं; परन्तु दूध के अनुरूप व्यवहार करने मे दोष नही है। हम पहले ही कह चुके हैं कि चाय का टैनिक ऐसिड स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, परन्तु यदि चाय के पत्ते चार मिनट से अधिक गरम पानी मे न रक्खे जावें तो वह नहीं निकलता, अथवा यदि कुछ निकलता भी है तो चाय के क्वाथ मे दूध मिलाने से ऐसिड की अनिष्टकारिता निकल जाती है। इस कारण जो लोग नाम मात्र का दूध मिलाकर चाय पीते हैं उनका यह कार्य कभी विज्ञान-सम्मत नही कहा जा सकता। बिना चीनी के चाय पीना तो अच्छा है परन्तु बिना दूध के चाय पीना अत्यन्त निषिद्ध है।

इन अदृश्य किरणों की बात कोई नहीं जानता था। गत सन् १८०० ईसवी में विलियम हर्शेल ने, तापमान यन्त्र के द्वारा वर्णछत्र के विविध रङ्गों के ताप का निर्धारण करते समय इसके लाल अंश के भी पूर्व सबसे अधिक उष्णता देखकर, यह सिद्धान्त स्थिर किया कि यह अवश्य ही वर्णछत्र की किसी अदृश्य किरण से उत्पन्न हुआ है। हर्शेल के इस आविष्कार के एक वर्ष पीछे, नाना प्रकार के रासायनिक पदार्थों मे प्रकाश के द्वारा उत्पन्न होनेवाले पदार्थों की परीक्षा करते समय, रिटार नामक एक वैज्ञानिक ने यह निश्चय किया कि वर्णछत्र के सब रङ्गों की अपेक्षा नील-लोहित की रासायनिक शक्ति अतीव प्रबल है, तथा वह नील-लोहित के परवर्त्ती प्रकाश-हीन स्थान में और भी अधिक है। बहुत दिनों तक कोई यह निश्चय न कर सका कि वर्णछत्र के बाहर प्रकाश-हीन स्थान में यह विचित्र रासायनिक शक्ति कहाँ से आई। इसके कुछ दिन पीछे उस समय के विद्वानों के बहुत उद्योग और अनुसन्धान से यह निश्चय हुआ कि निःसन्देह यह नील-लोहित रङ्ग उत्पन्न करनेवाली तरङ्गों की अपेक्षा क्षुद्रतर तरङ्गवाली किरणों के प्रभाव से उत्पन्न होती है। साधारण दृश्य वर्णछत्र के लाल और नील-लोहित सिरों के बाहर भी और कुछ अदृश्य किरणें रहती हैं, यह इस प्रकार हर्शेल और रिटार की परीक्षाओं के ही आधार पर भली भाँति प्रमाणित हो गया।

इस आविष्कार के पीछे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ओलस्टन साहब ने वर्णछत्र के इसी अदृश्य अंश की प्रकृति के विषय में अनेक परीक्षाएँ करके इन दोनों आविष्कर्त्ताओं के सिद्धान्त की सत्यता प्रतिपादित की, तथा वर्णछत्र के विषय में अनेक नवीन तत्त्व भी प्रकाशित किये। रश्मिपुञ्ज की दिशा के परिवर्त्तन की सामर्थ्य (Refrangibility) तथा रासायनिक शक्ति वर्णछत्र के लाल छोर पर सबसे न्यून होकर, क्रम से बढ़ते-बढ़ते नील-लोहित प्रान्त मे ही सबसे अधिक हो जाती है—इसका ओलस्टन ने ही सबसे पहले आविष्कार किया; तथा उन्हीं ने सबसे पहले इस बात का प्रचार किया कि ताप की मात्रा इससे विपरीत होती है, अर्थात् नील-लोहित से बढ़ते-बढते लाल अंश में ही सबसे अधिक प्रबल हो जाती है।

सन् १८३९ ईसवी से लगभग कुछ वर्षों तक सर जान हर्शेल साहब अदृश्य किरणो के विषय में अनेक परीक्षाओं मे लगे रहे, तथा आलोकचित्र (Photograph) के काँच (Sensitive Plate) के ऊपर उनके प्रभाव के विषय मे उन्होंने अनेक तत्त्वों का आविष्कार किया। इसी समय डाक्टर ड्रेपर नामक एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक भी इस विषय की परीक्षा मे लगे, परन्तु दुर्भाग्यवश वे कोई विशेष नवीन आविष्कार न कर सके, केवल वर्णछत्र के कुछ चित्र बनाकर ही शान्त हो गये।

वर्णछत्र के विषय मे, विशेष कर इन अदृश्य किरणों के सम्बन्ध में, जो नई बातें जानी गई हैं उनका अधिक अंश आलोक-चित्रों की सहायता से जाना गया है। आलोक-विज्ञान में आलोकचित्र का बहुत काम पड़ता है; विशेषतः रश्मिनिर्वाचन के कार्य में इसके समान उपयोगी साधन दुष्प्राप्य है। आलोकचित्र के कॉच की पूर्वोक्त वर्णछत्र-अङ्कनशक्ति के आविष्कृत होने पर भी, सर्वाङ्गसुन्दर वर्णछत्र उत्पन्न करने का सहज उपाय न जानने के कारण, बहुत दिनों तक अदृश्य किरणो के विषय में किसी आविष्कार का संवाद नहीं मिला। सन् १८५२ ईसवी मे अनेक पदार्थों की रश्मि-हरणशक्ति (Power of Absorption) की परीक्षा करते समय अध्यापक स्टोक्स (Stokes) ने कार्टज़ (Quartz) नामक एक बालू के पत्थर मे अदृश्य किरणों के निर्वाचन की शक्ति देखी। साधारण कॉच (Lens) के भीतर से आलोक लाने से अधिकांश अदृश्य किरणें कॉच ही में रुक जाती हैं; इस कारण इस आलोक से उत्पन्न वर्णछत्र में अदृश्य किरणों का परिमाण बहुत थोड़ा होता है। परन्तु उक्त पत्थर के बने शीशे (Lens) की सहायता से वर्णछत्र उत्पन्न करने पर इसके भीतर से सभी किरणें अक्षत और अलुप्तभाव से निकलकर सर्वाङ्गसुन्दर पूर्ण वर्णछत्र का विकास करती हैं। आलोक की परीक्षा का यह सुअवसर पाकर स्टोक्स साहब

पूर्वोक्त बालुका-प्रस्तर के द्वारा अनायास ही इष्ट वर्णछत्र बनाने लगे, तथा आलोक-चित्र के द्वारा उन्होंने इनकी अनेक तसवीरें भी बना डालीं। स्टोक्स साहब की इस परीक्षा के द्वारा अदृश्य किरणों के सम्बन्ध में अनेक रहस्य प्रकाशित हुए। उन्होंने बिजली के वर्णछत्र का जो चित्र बनाया उसमें इतनी अदृश्य किरणें थीं कि केवल उन्हीं का वर्णछत्र दृश्यमान साधारण वर्णछत्र से प्रायः सात गुना लम्बा था।

इस अदृश्य आलोक का साधारण रङ्ग कैसा है सो हमारे ज्ञान के बाहर है। साधारण मनुष्यों की दृष्टि उक्त किरणों का किसी प्रकार अनुभव नहीं कर सकती। नील-लोहित के अपर पार्श्व में स्थित अदृश्य किरणों की रासायनिक शक्ति अत्यन्त प्रबल है, तथा यही शक्ति आलोक की एकमात्र बोधक है। आलोक-चित्र के काँच पर इस आलोक को डालने से उसी क्षण विकार हो जाता है। काँच का यह विकार देख-कर ही हमको अदृश्य किरणों का ज्ञान होता है।

आजकल जिस प्रणाली से आलोकचित्र उतारे जाते हैं उसका प्रधान आधार पूर्वोक्त अदृश्य किरणें ही हैं। स्थूलमध्य शीशे (Lens) के द्वारा कैमरे (Camera) के भीतर काँच-जवनिका पर छायालोकमय जो चित्र बनता है उसके आलोक में, दृश्यमान किरणों के साथ अदृश्य किरणें मिली रहती हैं। यही अदृश्य आलोक अपनी स्वाभाविक रासायनिक

शक्ति के प्रभाव से जवनिकासंलग्न काँच में विकार उत्पन्न करता है ; परन्तु काँच का छाया-हीन अंश, आलोक के अभाव से, पहली दशा में ही रहता है। इसके पीछे अन्य प्रक्रिया-द्वारा उक्त काँच के अविकृत अंश को विकृत अंश से स्पष्टतः अलग करने से चित्र प्रकट हो जाता है।

यह तो नील-लोहित के पासवाली अदृश्य किरणों का वर्णन हुआ। अब वर्णछत्र के लाल छोरवाली अदृश्य किरणों का हाल सुनिए। उनकी प्रकृति इनसे बिलकुल भिन्न है। इन अदृश्य किरणों का अस्तित्व केवल उष्णता के द्वारा जाना गया है। इस कारण उष्णता की परीक्षा ही इन किरणों से उत्पन्न वर्णछत्र के विस्तार और गुण आदि जानने का एक मात्र उपाय है। परन्तु इस वर्णछत्र की परीक्षा के योग्य अति सूक्ष्म तापमान यन्त्र अभी तक नहीं बना, इस कारण इसका प्रकृत रहस्य अभी तक अज्ञात है। पूर्ववर्णित अदृश्य किरणों के समान इसमे रासायनिक शक्ति का लेश भी नहीं, इस कारण इसकी प्रकृति का निश्चय करने के लिए आलोकचित्र के काँच के समान कोई रासायनिक पदार्थ भी विशेष उपयोगी नहीं होता। इन अदृश्य किरणों की प्रकृति जानने के लिए, इस प्रकार गड़बड़ मच जाने से बहुत दिनों तक कोई वैज्ञानिक इस विषय में हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सका। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक टिण्डल और

मेलोनी कुछ समय तक इस परीक्षा में लगे रहे। परन्तु इन दोनों के एकान्तिक उद्योग से भी अदृश्य आलोक के विषय मे कोई विशेष नवीन तत्त्व नहीं प्रकट हुआ। परन्तु मेलोनी साहब-द्वारा आविष्कृत वैद्युतिक तापमान यन्त्र (Thermo-Electric Pile) के अत्यल्प ताप के परिमाण मे विशेष उपयोगी होने के कारण यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि अदृश्य वर्णछत्र के विस्तार के विषय मे प्राचीन वैज्ञानिकों का जो अनुमान था वह सर्वथा निर्मूल था, और यह भी ज्ञात हो गया कि इस वर्णछत्र का विस्तार अनुमान से कहीं अधिक है। अध्यापक लाँगले की वर्णछत्र की परीक्षा के समय एक बात उठी थी। वह यह कि कप्तान अबनी (Captain Aboney) नामक एक वैज्ञानिक ने पूर्वोक्त आलोकचित्र के समान एक ऐसा रासायनिक पदार्थ बनाया है जो वर्णछत्र के लाल सिरेवाले अदृश्य आलोक मे कुछ देर रखने से विकृत हो जाता है।

अस्तु, लाल प्रान्त के अदृश्य आलोक के विषय मे अभी तक अनेक ज्ञातव्य विषय अज्ञान के अन्धकार मे पड़े हैं, और इसमे तनिक भी सन्देह नहीं कि भविष्यत् काल के वैज्ञानिक इन सब आविष्कारों के लिए धीरे-धीरे अनुसन्धान करने का उद्योग करेंगे।

डापलर साहब का सिद्धान्त

किसी बहती हुई नदी में एक मनुष्य स्थिरतापूर्वक खड़ा होकर स्नान कर रहा है, और दूसरा मनुष्य बहाव के विरुद्ध तैरकर जा रहा है। मान लो कि दस मिनट तक ये दोनों मनुष्य जल में रहे। अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि इन दोनों मनुष्यों में से किसके शरीर पर लहरों के अधिक धक्के लगे तो इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं होगा। जो मनुष्य जल को काटकर बहाव के विरुद्ध चला है उसी के शरीर में लहरों के अधिक धक्के लगे हैं।

इसका कारण पूछने पर सहज ही में कह सकते हैं कि जो मनुष्य खड़ा होकर स्नान कर रहा था उसको अधिक लहरों के धक्के खाने का कुछ प्रयोजन नहीं जान पड़ता। लहरें जिस नियम से चलती हैं उसी नियम के अनुसार चलती हुई निश्चल स्नान करनेवाले के शरीर में धक्के देती चली जाती हैं। परन्तु जो मनुष्य बहाव के विरुद्ध, धार को काटकर, तैर रहा था उसको पूर्वोक्त नियमित लहरों के धक्कों के अलावा और भी कई नई लहरों के धक्के सहन करने पड़े। इसका कारण यह है कि जिस ओर से वे लहरें आती थीं उस ओर उस मनुष्य ने तैरते

हुए धार को काटा और आगे बढ़कर कुछ और नई लहरों का सामना किया। इस कारण यह देखा गया है कि यदि खड़े होकर स्नान करनेवाले पुरुष के शरीर मे दस मिनट में दो सौ लहरों के धक्के लगे तो तैरकर स्नान करनेवाले के शरीर में दो सौ पच्चीस धक्के लगे।

मान लो कि खड़े होकर स्नान करनेवाला अभी खड़ा ही है, केवल तैरनेवाला मनुष्य बहाव की ओर फुर्ती के साथ तैर रहा है। अब किस पुरुष के शरीर मे अधिक धक्के लगेंगे? विचार करने से स्पष्ट विदित हो जावेगा कि खड़े हुए मनुष्य के शरीर मे ही अधिक धक्के लगेंग; क्योंकि तैरनेवाला मनुष्य बहाव के साथ जा रहा है इसलिए पीछे की लहरें उसके शरीर में देरी से धक्का देंगी, और इस तरह धक्कों की संख्या कम हो जावेगी। खड़े हुए मनुष्य को यदि दस मिनट मे दो सौ लहरों के धक्के लगें तो इस प्रकार बहनेवाले मनुष्य को एक सौ पचहत्तर से अधिक लहरों के धक्के नहीं लगेंगे।

लहरों के धक्के खाने का अभी जो उदाहरण दिया गया है इसी की सहायता से ज्योतिषशास्त्र तथा शब्द-तत्त्व मे इतने रहस्यों की मीमांसा हुई है कि सचमुच ही उनकी गिनती नहीं हो सकती। ईथर, वायु, अथवा पानी इनमे से किसी पदार्थ में जब लहरें उठती हैं तब इसमें निमग्न निश्चल पदार्थों की अपेक्षा सचल पदार्थ कब अधिक तथा कब कम लहरों के धक्के

जाते हैं, इस बात का विज्ञान 'Doppler's Principle' 'डापलर साहब के सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है।

मान लो कि एक रेल का एञ्जिन दूर खडा हुआ सीटी दे रहा है, और एक मनुष्य समीप ही स्टेशन के प्लैटफ़ार्म पर खड़ा हुआ सुन रहा है। सीटी बजने के समय वायु में जो लहरें उत्पन्न होती हैं वे फैलते-फैलते जब सुननेवाले के कान तक पहुँचकर उसमें प्रवेश करती हैं तब उसे शब्द सुनाई पड़ता है; यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है। अब मान लो कि वह एञ्जिन सीटी बजाता हुआ स्टेशन की ओर आ रहा है। पहले, खड़े हुए एञ्जिन की सीटी से वायु में जितनी लहरें उत्पन्न होती थीं इस समय भी उतनी ही होती हैं—यह सत्य है, परन्तु एञ्जिन सीटी बजाता हुआ स्टेशन की ओर आ रहा है इस कारण प्लैटफ़ार्म पर खड़े हुए मनुष्य के कान में पहले से अधिक लहरें पहुँचेंगी। और, लहरों की संख्या पर ही स्वर की गम्भीरता निर्भर है। प्रति सेकण्ड में १२०० धक्के पाने से हमको जो शब्द सुनाई देगा वह एक सेकण्ड में २००० धक्कों के शब्द की अपेक्षा मन्द अर्थात् गम्भीर होगा। चरखे का शब्द मोटा अर्थात् गम्भीर होता है, क्योंकि उससे वायु मे जो लहरें उत्पन्न होती हैं उनका विस्तार अधिक होता है, इसलिए श्रोता के कान में बहुत धीरे-धीरे आघात पहुँचता है। परन्तु मच्छड़ का शब्द हलका अर्थात् ऊँचा होता है, क्योंकि उसके पह्लों से

वायु में जो लहरें उत्पन्न होती हैं वे बहुत छोटी होती हैं, इसलिए श्रोता के कान में बड़ी शीघ्रता से टकराती हैं। इसी प्रकार देखा जाता है कि हमारे उदाहरण के एञ्जिन से सीटी का जो शब्द श्रोता के कान में पहुँचेगा वह पहले के शब्द की अपेक्षा ऊँचा होगा। स्टेशन की ओर एञ्जिन बहुधा सीटी बजाता हुआ आता है, इस कारण किसी गाड़ी के शब्द की परीक्षा करने से पाठक सीटी के शब्द को क्रम से ऊँचा होते हुए निश्चय ही सुन सकते हैं।

अब मान लो कि गाड़ी सीटी बजाते-बजाते स्टेशन की ओर न आकर स्टेशन से दूर जा रही है। सोचना चाहिए कि इस दशा में सीटी का शब्द ऊँचा होगा कि नीचा। हम पहले ही कह चुके हैं कि शब्द की ऊँचाई-निचाई, अर्थात् हलका-भारीपन, कान में प्रवेश करनेवाली लहरों की संख्या पर निर्भर है। एञ्जिन, खड़ा होकर सीटी बजाने के समय, श्रोता के कान तक जितनी लहरें पहुँचा सकता था, अब स्टेशन से दूर जाते समय उसकी अपेक्षा बहुत कम लहरे पहुँचा सकता है। इस कारण शब्द मोटा हो जावेगा। परीक्षा करने से सचमुच ही इस दशा में गाड़ी का शब्द मोटा होता हुआ जान पड़ता है।

जल की तरङ्गों के उदाहरण को वायु की तरङ्गों पर घटाने से एक ही फल पाया गया; अब देखना चाहिए कि ईथर की लहरों पर इसका प्रयोग करने से क्या परिणाम निकलता है।

साधारण वाष्प को जलाते समय जो वर्णछत्र उत्पन्न होता है वह खण्डित होता है, अर्थात् इसमें सब रङ्ग साथ-साथ नहीं दिखाई पड़ते। हाइड्रोजन जलाने से जो वर्णछत्र देखा जाता है उसमें केवल नारङ्गी, हरे तथा नीले रङ्ग की कुछ रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। जब हाइड्रोजन के प्रकाश का विश्लेष किया जाता है तब कुछ वर्ण-रेखाओं के सिवा और कुछ वर्णछत्र में प्रकाशित नहीं होता। इसी प्रकार सोडियम के जलाने से वर्णछत्र के पीले भाग में ही कुछ रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। प्रत्येक मूलपदार्थ का इसी भाँति एक विशेष प्रकार का वर्णछत्र नियत होने के कारण, जब हम दूरवर्ती नक्षत्र की किरणों का विश्लेष करके वर्णछत्र उत्पन्न करते हैं तब परिचित पदार्थों के वर्णछत्र के साथ उसका मिलान करने से हम यह कह सकते हैं कि इस नक्षत्र में कौन-कौन से पदार्थ भासमान हैं। इसी कारण, दूरवर्ती नक्षत्रों की रचना के पदार्थों का निर्णय करने में वर्णछत्र की परीक्षा एक प्रधान साधन समझी गई है।

अब मान लो कि हम लोग रश्मिनिर्वाचन यन्त्र (Spectroscope) द्वारा किसी दूरवर्ती नक्षत्र के प्रकाश की परीक्षा कर रहे हैं। यदि वह नक्षत्र हमारे सूर्य के समान तरुण है, अर्थात् उसकी देह में जलते हुए कठिन, तरल और वाष्पीय पदार्थ मिले हुए हैं तो उससे लाल, पीला, हरा, नीला, आदि रङ्गों का एक अखण्ड वर्णछत्र प्रकाशित होगा। परन्तु वह नक्षत्र

यदि सूर्य की अपेक्षा न्यून अवस्था का होगा, अर्थात् यदि वह अभी तक वाष्प रूप में ही स्थित रहकर प्रकाश फैलाता है, तो उसका वर्णछत्र खण्डित दिखाई पड़ेगा। इसमें लाल, नीला आदि वर्णों के स्थान में कुछ मोटी रङ्गदार लकीरों के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ेगा। यदि उस नक्षत्र में केवल हाइड्रोजन के जलने का प्रकाश हो रहा है तो वह केवल हाइड्रोजन का वर्णछत्र प्रकाशित कर सकेगा। अच्छा, अब मान लो कि इस श्रेणी का एक प्रदीप्त वाष्पमय नक्षत्र तीव्र गति से हमारी ओर आ रहा है, तथा उसी समय हम उसके प्रकाश की वर्णछत्र-परीक्षा कर रहे हैं। हम पहले देख चुके हैं कि कोई वस्तु निश्चल रहकर जिस प्रकार का प्रकाश देती है वही, दर्शक की ओर आते समय, अन्य प्रकार का प्रकाश पहुँचाने लगती है। क्योंकि निश्चल अवस्था में जितनी ईथर की तरङ्गें दर्शकों की आँखों तक पहुँचती हैं, आगे बढ़ने की दशा में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक तरङ्गें पहुँच जावेंगी। इन तरङ्गों की मात्रा के भेद को हमारी आँखें नहीं पहचान सकतीं, परन्तु रश्मिनिर्वाचन यन्त्र धोखे में नहीं पड़ सकता। ज्योतिषियों ने परीक्षा करके देखा है कि जैसे हमारी उदाहृत रेलगाड़ी की सीटी—निकट आते हुए—नीचे से ऊँचे स्वर की हो जाती है, उसी प्रकार नक्षत्र की वर्णछत्रस्थ रेखाएँ भी नीचे से ऊँचे वर्ण की हो जाती हैं। अर्थात् वर्णछत्र में यदि केवल

नीली या पीली रेखाएँ हों तो वे सरककर नील-लोहित की ओर हट जाती हैं। जो नक्षत्र हमसे दूर होने लगते हैं उनके वर्णछत्र की परीक्षा करने पर देखा जाता है कि, उसी उदाहृत दूरगामी रेलगाड़ी की सीटी के स्वर के समान, वर्णछत्र भी ऊँचे से नीचा हो जाता है। अर्थात् वर्णछत्र में यदि पीली या नीली रेखाएँ हों तो वे लाल की ओर हटने लगती हैं।

नक्षत्रों की गति के कारण वर्णछत्र की रेखाओं का जो विचलन होता है उसकी परीक्षा करके वर्त्तमान काल के ज्योतिषियों ने नक्षत्रों की गति के विषय में पचीसों नये-नये तत्त्वों का अविष्कार किया है। इन सब तत्त्वों का निर्णय कैसे हो सकता है, इस बात को पचास वर्ष पहले के ज्योतिषी स्वप्न में भी नहीं समझ सकते थे।

पाठक अवश्य ही जानते हैं कि जैसे हमारी पृथ्वी प्रायः चौबीस घण्टों मे एक बार घूम जाती है उसी प्रकार सूर्य भी एक नियत काल में घूमता है, किन्तु पहले इसके आवर्त्तन-काल को जानने का उपाय नहीं था। अब सूर्य के वर्णछत्र की रेखाओं में कितना विचलन होता है, इनका परिमाण करने से उसके आवर्त्तन-काल का भी निर्णय हो गया है। नक्षत्र हम लोगों को आकाश मे निश्चल दिखाई पड़ते हैं सही, परन्तु प्रत्येक की गति भिन्न-भिन्न है। ये नक्षत्र पृथिवी से अत्यन्त दूर पर स्थित हैं। हज़ार-दो हज़ार वर्ष निरीक्षण करते रहने

पर भी इनकी चाल दिखाई नहीं पड़ सकती, इसी लिए इनकी गति का परिमाण जाना नहीं गया था। आजकल केवल वर्ण-छत्र के विचलन की परीक्षा के द्वारा इन दूरवर्ती नक्षत्रों की गति का भी, मोटे रूप से, निर्णय हो गया है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर विलियम हगिन्स (Hug. ins) ने इसी प्रकार से कुछ नक्षत्रो को एक सेकण्ड मे ३० मील के हिसाब से चलते देखा है।

युग्म नक्षत्रों की बात (Binary Stars) तो पाठकों ने सुनी ही होगी। ये नक्षत्र भी युगल-सूर्य हैं। ये जोडी-जोड़ी होकर आकाश मे स्थित रहते, तथा एक दूसरे के चारो ओर घूमते रहते हैं। दूरवीक्षण-यन्त्र के द्वारा इसी प्रकार के अनेक युग्म-नक्षत्र देखे गये हैं, परन्तु अति दूर के नक्षत्रो की युग्मता दूरवीक्षण यन्त्र-द्वारा नहीं दिखाई पड़ती। प्रत्येक दूरवीक्षण यन्त्र की शक्ति की सीमा नियत है। इतनी शक्तिवाली दूरबीन अभी तक नहीं बनी जिसके द्वारा अति दूर-स्थित नक्षत्र भी युग्म दिखाई पड़ें। दूर के नक्षत्रों की युग्मता के निर्धारण के लिए वर्णछत्र की रेखाओं के विचलन की परीक्षा ही एकमात्र उपाय है। इसी पद्धति से अनगिनती नक्षत्रों की युग्मता का निरूपण किया गया है। इतना ही नहीं, वे परस्पर कितने वेग से एक दूसरे के चारों ओर घूमते हैं तथा उनको इस प्रदक्षिणा मे कितना समय लगता है, यह भी जान लिया गया है।

मान लो कि बहुत दूरी पर कोई युग्म नक्षत्र है, तथा अच्छे प्रबल दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा भी उसकी युग्मता नहीं जानी जाती। अब यदि रश्मिनिर्वाचन यन्त्र द्वारा इसके वर्णछत्र की परीक्षा की जावे तो दोनों के भिन्न-भिन्न वर्णछत्र अलग-अलग प्रकाशित होंगे। हम पहले ही कह चुके हैं कि इस श्रेणी के नक्षत्रों में दोनों एक दूसरे के चारों ओर घूमते रहते हैं। यदि उदाहृत नक्षत्र-युग्म में से एक हमारी ओर आता हो और दूसरा पीछे हटता जाता हो तो हम केवल दो वर्णछत्र ही नहीं देखेंगे, प्रत्युत प्रथम नक्षत्र की वर्णरेखा—डापलर साहब के उसी सिद्धान्त के अनुसार—नील-लोहित की ओर हटती दिखाई पड़ेगी, तथा दूसरे नक्षत्र की रेखा लाल की ओर सरकेगी। इसी प्रकार कुछ देर तक दोनों वर्णछत्र अलग-अलग रहकर ठीक एक के ऊपर एक आ जावेंगे और फिर अलग-अलग हो जावेंगे। इस उपाय से नक्षत्रों की केवल युग्मता ही नहीं जानी जायगी प्रत्युत दोनों वर्णछत्रों के एक दूसरे में मिल जाने का समय निर्धारित कर देने से, उनके परिभ्रमण के काल का भी निर्णय हो जावेगा। इसी रीति के अनुसार हमारे उत्तराकाश के उज्ज्वल नक्षत्र ब्रह्महृदय (Capella) की युग्मता जानी गई है, तथा यह भी निर्णय कर लिया गया है कि इसका प्रत्येक नक्षत्र दूसरे की १०४ वर्ष में प्रदक्षिणा करता है। आजकल युग्म-नक्षत्रों की

नामावली बहुत बढ़ गई है। इससे ज्योतिषी कहते हैं कि आकाश में अधिकांश नक्षत्र-युग्म ही हैं, तथा हमारे सूर्य के समान एकाकी नक्षत्र तो बहुत कम हैं।

वैज्ञानिक पाठक अवश्य ही जानते हैं कि वर्तमान समय के ज्योतिषियों ने सूर्य के वाष्पावरण में, स्थूल प्रमाण से, तीन स्तरों का वर्णन किया है। सूर्य की मूल-देह कठिन, तरल, या वाष्पाकार है सो नहीं जाना जाता। यदि वाष्पाकार हो तो यह अत्यन्त दबी हुई अवस्था मे होगी, इतना हम लोग वर्णछत्र की परीक्षा से भली भाति समझ सकते हैं। कठिन, तरल, अथवा दबी हुई वाष्प का वर्णछत्र जैसा अखण्ड प्रकाशित होता है, सूर्य की मूल-देह का वर्णछत्र ठीक उसी प्रकार अखण्ड दिखाई पडता है। जो हो, सूर्य के तीन वाष्पावरणों की बात जो हमने कही है उनमे प्रथम को ज्योतिषी लोग 'आलोकमण्डल' (Photo-sphere) कहते हैं। सूर्य का प्रकाश इसी अलोकमण्डल से उत्पन्न होता है। वस्तुतः यह मण्डल प्रज्वलित वाष्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके ऊपर सूर्य के वाष्पावरण का और एक स्तर है जिसको 'वर्णमण्डल' (Chromosphere) कहते हैं। पूर्ण सूर्य-ग्रहण के समय, जब सूर्य का बिम्ब काले चन्द्रमा के द्वारा आच्छादित होता है तब, यह वर्णमण्डल प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। लाल, नारङ्गी, आदि अनेक रङ्गो से युक्त वाष्प-

राशि जो शिखाकार ऊपर उठकर अत्यन्त आश्चर्यमय दृश्य दिखलाती है, वह बड़ा ही सुन्दर होता है। इसके ऊपर सूर्य के आकाश में जो तीसरा स्तर है वह ज्योतिषियों में 'छटामुकुट' (Corona) के नाम से प्रसिद्ध है। दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा इसका पता नहीं लगता। इस स्तर की परीक्षा के लिए पूर्ण सूर्य-ग्रहण का समय ही उपयुक्त है। ग्रहण के समय, जब चन्द्रमा का काला बिम्ब सूर्य के उज्ज्वल केन्द्र तथा आलोक-मण्डल को ढक लेता है तब, सूर्य का यह तृतीय स्तर छटा के समान सूर्य को घेरे हुए दिखाई पड़ता है। जो हो, डापलर साहब के सिद्धान्त के अनुसार वर्णछत्र की परीक्षा करने से सूर्य के वर्णमण्डल तथा छटामुकुट से निकली हुई वर्णरेखाओं के विषय में अनेक नवीन बातें जान ली गई हैं। इस प्रकार परीक्षा करने से कुछ शिखाएँ प्रायः६००००८ मील तक लम्बी देखी गई हैं, तथा इनमें से कुछ एक सेकण्ड में २०० से ३०० मील तक के वेग से ऊपर को उठती देखी गई हैं। सूर्य के तृतीय वाष्पावरण, अर्थात् छटामुकुट, की परीक्षा से भी आधुनिक ज्योतिःशास्त्र को यथेष्ट लाभ हुआ है। इस अंश के वर्णछत्र में ऐसी कितनी ही रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं जो हमारे किसी परिज्ञात पदार्थ के वर्णछत्र के साथ मेल नहीं खातीं।

वैज्ञानिकों ने इसी प्रकार कोरोनियम (Coronium)नामक एक मूलपदार्थ का आविष्कार किया है। हेलियम (Helium)

धातु के आविष्कार के बहुत पहले सूर्य के वाष्पावरण में इसका अस्तित्व जान लिया गया था। हेलियम का आविष्कार करने-वाले सर विलियम रामज़े (Ramsay) साहब ने इसी प्रकार पहले इस पदार्थ का पता लगाया था।

वर्णछत्र तथा डापलर साहब के सिद्धान्त की सहायता से इतने नवीन आविष्कार करने पर भी वैज्ञानिक अभी चुप नहीं हुए हैं। इनके सहारे इस समय बहुत से पर्यवेक्षण और अनुसन्धान के कार्य चलते हैं।

भूकम्प

हमारी पृथ्वी पर नाना प्रकार के दैवी उपद्रव होते रहते हैं। थोड़े ही समय में सैनफ्रांसिस्को, चिली, किंगस्टन और सुमात्रा आदि स्थानों से जितने भूकम्पों के समाचार आये हैं उनको सुनकर अवश्य ही चकित और स्तम्भित होना पड़ता है। यह जान पड़ता है कि मानो पृथ्वी के एक-एक अंश पर प्रलय हो गया है।

भूकम्प पृथ्वी पर चिरकाल से होता आया है। बहुत पुराने समय में, जब पृथ्वी अत्यन्त उष्ण अवस्था में थी, बड़े-बड़े भूकम्प उन दिनों की दैनिक घटनाओं में गिने जाते थे। यह अनुमान किया गया है कि बड़े-बड़े पर्वत, समुद्र और महासागर इन्हीं उत्पातों के कीर्त्ति-चिह्न हैं। परन्तु आज पृथ्वी की वह दशा नहीं है। प्राचीन काल की अग्निमय पृथ्वी ताप विकिरण करते-करते आज अग्निगर्भा होकर रह गई है। इसके भीतर की आग का परिचय हम लोगों को केवल ज्वालामुखी पर्वतों के उत्पातों तथा मृदु भूकम्पों-द्वारा मिला करता है।

इन्हीं के कारण कुछ वर्षों से वैज्ञानिकों का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित हुआ है।

भूकम्प की उत्पत्ति के विषय में आज तक अनेक वैज्ञानिक नाना प्रकार की बातें कहा करते थे। इंगलैण्ड की रायल सोसाइटी के एक विशेष अधिवेशन में वर्त्तमान काल के दैवी उपद्रवों की आलोचना करते हुए लार्ड केलविन (Lord Kelvin) ने इस विषय मे जिन नई बातों का निरूपण किया था वे बड़ो ही सारगर्भित हैं। इस प्रबंध मे हम उन्हीं की आलोचना करेंगे।

लार्ड केलविन की वात अच्छी तरह समझने के लिए इस जल-थलमय पृथ्वी की रचना का कुछ भेद जान लेना आवश्यक है। प्राचीन यूनान तथा रोम देश के पण्डितों ने इस विषय में जो सिद्धान्त प्रचलित किये थे पहले उन्हीं को देखना चाहिए। प्राय: ये सब लोग इस बात में सहमत हैं कि सृष्टि के पहले हमारी पृथ्वी की रचना की सामग्री अति सूक्ष्म परमाणुओं के आकार में, महाकाश के करोड़ों योजनों के विस्तार में, फैली हुई थी; तथा प्रत्येक परमाणु समन्तराल गति (Parallel motion) से चलता था। परन्तु इन समन्तराल गतिवाले परमाणुओं ने किस प्रकार मिलकर पृथ्वी के इन विचित्र पदार्थों की रचना की, इस विषय की पूर्वोक्त प्राचीन पण्डितों ने कोई मीमांसा नहीं की। लार्ड केलविन का कथन

है कि पृथ्वी की रचना की उपादान-सामग्री को समन्तराल-गति-विशिष्ट मानने से जगत्-रचना की मूल प्रक्रिया जानी नहीं जा सकती। सम्भव है, महाकाश में सर्वत्र फैले हुए परमाणुओं में से प्रत्येक की अलग-अलग केन्द्राभिमुखी गति रही हो, तथा इस प्रकार नाना जातियों के परमाणुओं के आपस में मिल जाने से नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति हुई हो।

परमाणुओं के मिलते ही उनके संयोग से उत्पन्न हुए पदार्थों का घनत्व जल या मिट्टी के समान नहीं हो गया। लार्ड केलविन ने हिसाब लगाकर दिखाया है कि सम्भवतः इस अवस्था में ये पदार्थ जल की अपेक्षा प्रायः दसगुने हलके थे; तथा इनके परमाणुओं के पुनः संयोग से हमारे परिचित नाना प्रकार के यौगिक पदार्थों की उत्पत्ति हुई है।

अनेक योजनों के विस्तार में फैले हुए परमाणुओं के एक ही केन्द्र की ओर चलना आरम्भ करने से दूर के परमाणुओं के धक्के से केन्द्र के समीपवाले परमाणुओं के ऊपर बड़ा भारी दबाव पड़ा। लार्ड केलविन ने अपने हिसाब में इस दबाव का परिमाण बतलाया है। जब कोई चलता हुआ पदार्थ किसी स्थान में आकर प्रबल वेग से धक्का देता है तब पहले उस आहत स्थान पर बड़ा भारी दबाव पड़ता है, परन्तु क्षण भर में ही जब वह पदार्थ टकराकर उलटा लौटने लगता है तब उस आहत स्थान पर फिर कोई दबाव नहीं रहता। लार्ड केलविन

का कथन है कि इन केन्द्राभिमुखी परमाणुओं के घात-प्रतिघात से केन्द्र के निकटवर्त्ती स्थान पर कुछ देर तक दबाव रहकर फिर, ठीक पूर्वोक्त प्रकार से, शीघ्र ही कम हो गया। पृथ्वी के भीतर यह चञ्चलता कितने समय तक रही सो ठीक नहीं कहा जा सकता। सम्भव है, कालक्रम से परमाणुओं के अणु बन जाने पर पृथिवी पर इस अस्थिरता का अन्त हो गया हो। लार्ड केलविन का कथन है कि इस अवस्था में पृथ्वी तरल पदार्थ-मय थी, और यहीं से सृष्टि का आरम्भ हुआ। पृथ्वी उस समय सूर्य के समान प्रकाशयुक्त थी, तथा ताप विकिरण करते-करते बहुत काल मे इसके ऊपर एक कठिन आवरण बन गया है।

किसी पदार्थ को सिकोड़ने से उसकी गरमी बढ़ जाती है; इस कारण पृथ्वी के ऊपर कठिन आवरण बन जाने पर भी उसके भीतर की गरमी कम नहीं हुई। सङ्कोचन के प्रभाव से ही भीतर की उष्णता बहुत काल से बनी चली आती है। अब गरमी बहुत घट जाने के कारण, ऊपर के साथ-साथ पृथ्वी का भीतरी भाग भी शीतल हो चला है।

तरल पदार्थ का ऊपरी अंश जमकर घनतर और भारी हो जाने से ऊपर का भारी पदार्थ टूट-फूटकर नीचे जा पड़ता है। केलविन साहब का अनुमान है कि पृथ्वी के कठिन आवरण का इस प्रकार तोड़-फोड़ किसी समय पृथ्वी पर बहुत काल तक चलता रहा, तथा इसके पृष्ठदेश से गिरे हुए बडे-बड़े शिला-

खण्ड भीतर के उष्ण तरल पदार्थ में सञ्चित होने लगे। लार्ड केलविन इन सब अनुमानों के आधार पर कहते हैं कि वर्तमान समय मे

ज्वालामुखी पर्वत के अग्नि-प्रकोप से भूकम्प।

भूगर्भ केवल तरल-पदार्थ-मय कहीं भी नहीं है। ऊपर के भारी

और कठिन आवरण के टूट-फूटकर नीचे डूब जाने से ही इस समय भूगर्भ कठिन और तरल-पदार्थ-मय हो गया है।

भूपृष्ठ के जमे हुए अंश का पूर्वोक्त प्रकार से तोड़-फोड़ ही, लार्ड केलविन के मत से, ज्वालामुखी पर्वत के अग्नि-प्रकोप और भूकम्प का कारण निर्धारित हुआ है। इनका कथन है कि कालक्रम से पृथ्वी का कड़ा आवरण बहुत मोटा तो हो गया है परन्तु उसका तोड़-फोड़ इस समय भी पहले के समान चला जाता है। इसी कारण भूपृष्ठ के नीचे के अंश का मिट्टी-पत्थर टूटकर जब भूगर्भ मे स्थित द्रव-पदार्थ में गिरता है तब वह द्रव-पदार्थ उछलकर बाहर निकलने की चेष्टा करता है। बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वतो के गह्वर भूगर्भ के बहुत गहरे भाग तक चले गये हैं। इन छिद्रों से उछला हुआ द्रव-पदार्थ यदि बाहर निकलकर भूपृष्ठ पर बहने लगे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? यही ज्वालामुखी पहाड़ का अग्नि-प्रकोप है। लार्ड केलविन के कथन के अनुसार भूकम्प भी इस भीतरी आन्दोलन का ही फल है। क्योकि भूपृष्ठ के नीचे के अंश के मिट्टी-पत्थर जब टूट-फूटकर भूगर्भ मे गिरने लगते हैं तब उस आन्दोलन के समय पृथ्वी बिना हिले-डुले नही रह सकती।

कालक्रम से पृथिवी शीतल होती जाती है; तो इसमे भी सन्देह नहीं कि इसके भीतर का द्रव-पदार्थ भी शीतल होकर किसी समय कड़ा हो जावेगा। अब यह प्रश्न उठता है कि दूर

भविष्यत् काल में जब सम्पूर्ण पृथ्वी जमकर कड़ी हो जावेगी तब ज्वालामुखी पर्वतों के उत्पात और भूकम्प क्या बन्द हो जावेगे?

लार्ड केलविन ने इस प्रश्न की मीमांसा की है। उनके मत से भविष्यत् मे ज्वालामुखी पर्वतों से अग्नि का निकलना अवश्य ही बन्द हो जावेगा। अति प्राचीन काल में भूपृष्ठ पर अनेक बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वत विद्यमान थे परन्तु पृथ्वी के शीतल होने के साथ-साथ उनका भी वह प्रताप नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए, विसूवियस आदि जो कुछ सजीव ज्वालामुखी पर्वत हैं उनका भी काल-क्रम से लोप हो जावेगा, यह हम लोग अच्छी तरह अनुमान कर सकते हैं। परन्तु भूकम्पों के लोप के विषय मे लार्ड केलविन विशेष आश्वासन नहीं देते। इस विषय मे उनका मत यही है कि भूगर्भ के सम्पूर्ण तरल-पदार्थ के शीतल होकर जम जाने पर भी भूगर्भ का सिकुड़ना बन्द नहीं होगा। उस समय पृथ्वी के भीतर बड़े-बड़े गह्वर बन जावेगे तथा समय-समय पर ऊपर के मिट्टी-पत्थर टूट-फूटकर इन गह्वरों मे जा पड़ेंगे। इस प्रकार की तोड़-फोड़ के कारण भूकम्प पृथिवी पर पूर्ण रूप से विद्यमान रहेगा।

भूपृष्ठ की मिट्टी के टूट-फूटकर भूगर्भ के गह्वरों मे गिरने से भूकम्प का होना, कुछ नवीन भूकम्पों के परिणाम को देखकर, हम लोग अच्छी तरह समझ सकते हैं। सुमात्रा द्वीप में जो बड़ा भूकम्प हो गया है उससे भूपृष्ठ बहुत नीचा होकर एक

नगर का कुछ अंश समुद्र मे डूब गया है। १८९७ ईसवी के बङ्गाल के बड़े भूकम्प की बात पाठक अभी भूले नहीं होंगे। इसमे भी उत्तर बङ्गाल के अनेक स्थान ऊँचे-नीचे होते हुए देखे गये हैं। सम्प्रति जापान मे जो एक भूकम्प आया है उससे वहाँ का एक स्थान कोई २० .फुट नीचा हो गया है। इस-लिए भूकम्प की उत्पत्ति के विषय मे लार्ड केलविन का वर्तमान सिद्धान्त निर्विवाद माना जा सकता है।

बुलबुले

यद्यपि हम लोगों में पानी का बुलबुला संसार की क्षण-भंगुरता और असारता का उत्तम उदाहरण गिना जाता था तथापि वैज्ञानिकों में बहुत दिनों तक यह गम्भीर विचार और खोज का विषय बना रहा। अनेक विख्यात पण्डितों ने पानी के असार बुलबुलों के विषय मे अनेक प्रकार की बातें कही हैं, परन्तु प्रकृति और पदार्थ के भेद से उनके स्थायित्व के विषय में आज तक किसी ने अच्छा सन्तोषजनक कारण नहीं दिखलाया। प्रसिद्ध अँगरेज़ विद्वान् लार्ड रैले, पुराने वैज्ञानिकों के समान, इस विषय की आलोचना और नाना प्रकार की परीक्षाएँ करके, कुछ दिन पहले बुलबुलों की उत्पत्ति के विषय मे एक मनोहर और सारमय विवरण दे गये हैं। नाना प्रकार के तर्क-वितर्क के पीछे रैले का प्रचारित मत आजकल सभ्य-समाज में सत्य मान लिया गया है।

पाठकगण देख सकते हैं कि निर्मल और स्वच्छ तरल-पदार्थ में बुलबुले प्रायः नहीं दिखाई देते। साफ़ पानी को अच्छी तरह हिलोड़ने से बहुत यत्न करने पर भी उसमें स्थायी बुद्बुद उत्पन्न नहीं होते, तथा शुद्ध अल्कोहल (Alcohol) या ईथर मे भी बुलबुले दिखाई नहीं पड़ते। परन्तु आश्चर्य

का विषय है कि पूर्वोक्त शुद्ध पानी और अल्कोहल किसी परिमाण में मिलाने से हिलोड़ने पर बहुत से स्थायी बुलबुले उठने लगते हैं। पानी में कपूर मिलाने से थोड़े ही परिश्रम से इसी प्रकार बहुत से बुलबुले उठने लगते हैं। बुलबुलों के विषय में इन सहज परीक्षाओं तथा और कई उदाहरणों को देखकर वैज्ञानिक कहते हैं कि विजातीय पदार्थों का मेल न होने से किसी तरल-पदार्थ में बुलबुले नहीं उठ सकते। पूर्वोक्त प्रकार से, बुद्बुद परीक्षा-द्वारा मोटे रूप से, सहज ही में जाना जा सकता है कि पानी में किसी विजातीय पदार्थ का मेल है कि नहीं। थोड़ा हिलाने से यदि पानी में स्थायी बुलबुले उठने लगें तो समझ लेना चाहिए कि पानी में कुछ मिला हुआ है। हम लोगों को समुद्र और नदी के पानी में जो स्थायी बुलबुले उठते दिखाई पड़ते हैं उनके उठने का वही पूर्वोक्त कारण है। साबुन के समान स्थायी बुलबुले उत्पन्न करनेवाले नाना प्रकार के उद्भिज्ज पदार्थ नदी के जल में सदा ही मिले रहते हैं, इसी कारण पानी में सदा फेन उठता रहता है। समुद्र के पानी में लवण का घुला होना ही आज तक बुलबुलों के उठने का कारण समझा जाता था, परन्तु अब ज्ञात हुआ है कि ऐसा नहीं है। बुलबुलों के उठने से लवण का कुछ सम्बन्ध नहीं है। समुद्र में सेवार जाति के उद्भिज्ज पदार्थों के गले हुए अंश रहते हैं, वही बुलबुले उठने के प्रधान कारण माने गये हैं।

अब विचार करना चाहिए कि यदि तरल-पदार्थ में विजातीय वस्तु का मेल ही बुलबुलों के उठने का कारण हो तो यह कार्य कैसे सम्पन्न होता है। सभी ने देखा है कि बुलबुलों के ऊपर अत्यन्त सूक्ष्म आवरण रहता है। शुद्ध जल अथवा ईथर के क्षणिक बुलबुलों तथा साबुन के स्थायी बुलबुलों पर भी उक्त आवरण दिखाई देता है। यह सूक्ष्म आवरण जितना ही दृढ़ और दबाव सहने के योग्य होगा उतना ही स्थायी बुलबुला बनेगा। इससे सिद्ध होता है कि तरल-पदार्थ के सूक्ष्म आवरण का स्वाभाविक वैषम्य ही बुलबुले की उत्पत्ति और उसके स्थायित्व का कारण है।

सभी तरल-पदार्थों के मुक्त अंश का ऊपरी भाग पूर्वोक्त सूक्ष्म आवरण के द्वारा ढका रहता है। इस आवरण में एक विशेष गुण यह है कि जैसे रबर के एक टुकड़े को खींचने से वह फिर सिकुड़ने की चेष्टा करता है उसी प्रकार तरल-पदार्थ के सूक्ष्म आवरण मे भी आकुञ्चन-शक्ति है। प्रत्येक तरल-पदार्थ में यह गुण सर्वदा बना रहता है। इसका अनुभव नाना प्रकार की सहज परीक्षाओं के द्वारा अच्छी तरह किया जा सकता है। साबुन के पानी के एक बुलबुले के बीच में धीरे-धीरे काँच की एक सूक्ष्म नली डालने से बुलबुले के भीतर की हवा नली के बाहरी सिरे से शीघ्रता-पूर्वक निकलती है। इसको देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि पानी के आवरण

मे आकुञ्चन की शक्ति है, इसी कारण बुलबुले के भीतर की हवा शीघ्रता से बाहर निकलती है। साधारण बुलबुले के आवरण के ऊपरी और भीतरी दोनों भागों में थोड़ी-बहुत आकुञ्चन की शक्ति रहती है, परन्तु पानी की बूँद अथवा बरतन मे भरे हुए किसी स्थिर तरल-पदार्थ में आवरण के केवल बाहरी भाग मे आकुञ्चन की शक्ति दिखाई पड़ती है।

किसी तरल-पदार्थ मे सर्वदा एक ही आवरण नहीं रहता; दूसरे पदार्थ के मेल से आकुञ्चन की भिन्न शक्तिवाले आवरण भी हो सकते हैं। पानी के ऊपर पड़ी तेल की बूँद इस बात का अच्छा उदाहरण है। तेल, पानी और वायु इन तीनों पदार्थों के संयोग-स्थल मे—तेल के बिन्दु के बाहरी भाग में, तेल और वायु के मध्य मे, इसके नीचे पानी और तेल के बीच में तथा बाहर पानी और वायु के मध्य मे भिन्न गुणवाले तीन आवरण दिखाई पडते हैं। इस तीसरे आवरण की आकुञ्चन-शक्ति जब तेल और वायु तथा तेल और पानी के बीच के दोनों आवरणो की संयुक्त आकुञ्चन-शक्ति के समान अथवा उससे न्यून हो तो वह क्षुद्र बिन्दु के आकार मे पानी मे पड़ा दिखाई देगा; परन्तु साधारण दशा मे शुद्ध पानी और वायु के बीच के आवरण की आकुञ्चनशक्ति अन्य दोनों आवरणों की संयुक्त शक्ति की अपेक्षा भी प्राय: अधिक देखी जाती है, इस कारण पानी मे तेल डालते ही

पूर्वोक्त आवरण की शक्ति अधिक होने से तेल की बूँद सारे पानी के ऊपर फैल जाती है, इसी लिए एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकती। जब हम तेल की छोटी सी बूँद को पानी के ऊपर बहुत थोड़ी जगह में पड़ी देखते हैं तब वहाँ दूसरा ही कारण होता है। सारा पानी तेल से न ढँका जाकर केवल एक स्थान में तेल दिखाई देना शुद्ध पानी में किसी प्रकार सम्भव नहीं। जिस पानी मे, पहले विजातीय पदार्थ के संयोग अथवा तेल के मेल से, ऊपर के आवरण की आकुञ्चनशक्ति कम होकर तेल की बूँद के दोनों आवरणों की संयुक्त शक्ति के समान हो गई है उसी के ऊपर तेल की बूँद बिना फैले हुए पड़ी रह सकती है। उत्सुक पाठक एक छोटे से बरतन मे थोड़ा सा पानी डालकर सहज ही में इसकी परीक्षा कर सकते हैं।

अब पूर्वोक्त सहज परीक्षा तथा और भी अनेक उदाहरणों के द्वारा सिद्ध कर लिया गया है कि विजातीय पदार्थ के मेल से तरल-पदार्थ के आवरण की स्वाभाविक आकुञ्चनशक्ति बहुत कम हो जाती है, इस कारण बुलबुले उठने का सुयोग उपस्थित हो जाता है। इसका कारण यह है कि आकुञ्चनशक्ति के कम हो जाने से बुलबुले के आवरण पर अधिक दबाव नहीं पड़ता, इसलिए वह दृढ़ होकर सहज ही में नहीं टूटता।

विजातीय पदार्थ के संयोग से सूक्ष्म आवरण की आकुञ्चन-शक्ति के विकार के और दो-एक सहज उदाहरण दिये जा

सकते हैं। अनेक पाठकों ने देखा होगा कि यदि किसी स्वच्छ बरतन में निर्मल जल भरकर उसमे कपूर पीसकर डाला जावे तो उसके कण जीते हुए कीड़ों के समान नाना प्रकार की गति से शीघ्रतापूर्वक पानी के ऊपर दौड़ते दिखाई पड़ेंगे। अनुसन्धान द्वारा सिद्ध हुआ है कि कपूर के संयोग से पानी के आवरण की आकुञ्चनशक्ति का कम हो जाना ही इसका कारण है। शुद्ध जल के सम्पूर्ण अंश मे कपूर न फैलकर केवल समीप ही के जल की आकुञ्चनशक्ति को कम कर देता है, इस कारण दूर के पानी के आवरण की शक्ति का अतिशय खिंचाव पाकर उसके कण इधर-उधर दौड़ने लगते हैं। पानी को किसी प्रकार कलुषित करने से, अथवा तेल डालकर उसकी आकुञ्चन-शक्ति कम करने से कपूर की गति एकदम बन्द हो जाती है।

इसके सिवा आंधी के समय समुद्र के पानी मे तेल डालकर लहरों का वेग शान्त करके इस आपत्ति से उद्धार पाने का जो आजकल नवीन उपाय ढूँढा गया है वह भी पानी के आवरण के ऊपर तेल के प्रभाव का ही फल सिद्ध हुआ है आँधी के कारण क्षुभित समुद्र के पानी पर तेल डालने से वह चारो ओर फैलकर आवरण की आकुञ्चनशक्ति के द्वारा तेल-युक्त पानी में एक प्रकार का खिँचाव उत्पन्न कर देता है, इस कारण सम्पूर्ण पानी स्थिर होकर समतल बना रहता है। इसी से इस खिँचाव के विरुद्ध प्रबल आँधी का वेग भी सहसा लहरें उत्पन्न नहीं कर सकता।

पहले ही कहा जा चुका है कि कलुषित तरल-पदार्थ में आवरण की आकुञ्चनशक्ति कम होने से बुलबुले के आवरण पर खिँचाव नहीं रहता, इस कारण सहज ही में बुलबुला बन सकता है। यह बुलबुले की उत्पत्ति और स्थिरता का कारण अवश्य है, परन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं, क्योंकि इसके अतिरिक्त और भी कारण हैं। कलुषित तरल-पदार्थ अथवा साबुन के पानी में सब अंशों में आकुञ्चनशक्ति समान नहीं होती इसी कारण बुलबुला अधिक काल तक ठहर सकता है। यदि आवरण की आकुञ्चनशक्ति सब भागों मे बराबर होती तो भीतर से शून्य बुलबुला किसी प्रकार ठहर नहीं सकता था। वह अपने ही बोझ से अपने जल में गल जाता। पहले कहा जा चुका है कि विजातीय पदार्थ के परिमाण-भेद से तरल-पदार्थ के आवरण की आकुञ्चनशक्ति में अवश्य विकार होता है। एक ही पदार्थ के जिस अंश में विजातीय पदार्थ का अधिक मेल होता है उसी अंश की आकुञ्चनशक्ति अन्य भागों की अपेक्षा बहुत कम हो जाती है। बुलबुले के आवरण के ऊपरी भाग की अपेक्षा नीचे के भाग में विजातीय पदार्थ अधिक परिमाण में सञ्चित रहता है, इस कारण उसके नीचे के भाग की अपेक्षा अल्प-कलुषित ऊपर के भाग की आकुञ्चनशक्ति अधिक होने से बुलबुला अधिक देर तक ठहर सकता है।

लार्ड केलविन

मनुष्य चिरकाल तक नहीं जीता। इसलिए, अस्सी वर्ष से अधिक अवस्था के बूढे, लार्ड केलविन को अपना सुदीर्घ जीवन और अपरिमेय शक्ति विज्ञान की उन्नति के कार्य मे लगाकर अन्त मे विश्राम लेने के समय, यदि मृत्यु अपनी शान्तिमय उदार गोद मे ले ले तो इसमें आश्चर्य अथवा क्षोभ का कोई कारण नहीं। दुःख का विषय यही है कि डारविन, मैक्सवेल, हक्सले और टिन्डाल आदि की मृत्यु के पीछे भी, अतीत और वर्त्तमान विचारों एवं भावनाओं मे जो एक गाढ़ा सम्बन्ध चला आता था वह—जान पड़ता है कि—लार्ड केलविन की मृत्यु से अब टूट गया। जैसे नाना प्रकार की शाखा-प्रशाखाओं से युक्त विज्ञान को सङ्कीर्ण रहस्यों में बन्द कर रखना दोष-युक्त है, वैसे ही नाना प्रकार के अवान्तर व्यापार और आवर्जनाओं को उसमे स्थान देना भी कहीं अधिक दोषयुक्त है। लार्ड केलविन के नेतृत्व मे इँगलैण्ड का विज्ञान आज तक निर्दोष था। इस महारथी के अभाव मे सर ओलिवर लाज आदि नवीन नेताओं के द्वारा इँगलैण्ड के परीक्षालयों में मार्किन के भाव का प्रकट होना असम्भव नहीं। इस भौतिक नृत्य मे न्यूटन और हर्शेल के कर्मक्षेत्र इँगलैण्ड

लार्ड केलविन ।

की पूर्व पवित्रता और महिमा कहाँ तक अखण्डित रहेगी सो अवश्य ही विचार का विषय हो गया है।

राजा की मृत्यु से राजसिंहासन शून्य नहीं होता तथा सङ्गठित समाज में नायक का अभाव होने पर नायक स्वयं ही आकर शून्य स्थान पर अधिकार कर लेता है। परन्तु लार्ड केलविन के समान राजा और नायक कहाँ? साधारण शास्त्र-ज्ञान और कार्य-कुशलता का जो अपूर्व संयोग लार्ड केलविन के वैज्ञानिक समाज के नेतृत्व में देखा गया था वह इँगलैण्ड के किसी विद्वान् मे अब दिखाई नहीं पडता। आधुनिक विज्ञान को जिन लोगों ने अपने उद्योग से इतना महिमाशाली कर दिया था उनमें से, थोड़े ही दिनों में, तीन-चार रत्न खो गये हैं। रासायनिक मौण्डलिफ़, फ़्रान्सीसी विद्वान् क्यूरी तथा बान्तलो की मृत्यु से यूरोप की भिन्न-भिन्न दिशाओं से सचमुच ही एक-एक दिक्पाल लुप्त हो गया है। लार्ड केलविन की मृत्यु से यूरोप की और एक दिशा से एक और दिक्पाल का लोप हो गया, यह अवश्य ही मानना पड़ेगा।

लार्ड केलविन का जन्म सन् १८२४ ईसवी मे हुआ था। इनके पिता भी बड़े ही विद्वान् थे। ग्लासगो-विश्वविद्यालय मे बहुत दिनों तक गणित के अध्यापक रहकर उन्होंने बहुत यश प्राप्त किया था। ऐसे पिता की अध्यक्षता मे पुत्र के सुशिक्षित होने मे क्या आश्चर्य है? केलविन दस वर्ष की अवस्था मे

प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होकर, इक्कीसवें वर्ष में केम्ब्रिज की अन्तिम परीक्षा में सम्मिलित हुए। उन्होंने इस परीक्षा मे द्वितीय स्थान पाकर बहुत सम्मान पाया। उस समय जड़-तत्त्व की गवेषणा के योग्य अच्छा परीक्षालय इँगलैण्ड मे कहीं नहीं था। केम्ब्रिज की दशा उन दिनों बहुत ही शोचनीय थी। न्यूटन के समय में परीक्षालयों की दशा जैसी थी, उस समय भी उनकी अवस्था वैसी ही बनी थी। फ़ान्सीसी विद्वानों का यश उस समय संसार मे फैल गया था। युवक केलविन ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल उत्कण्ठा से विज्ञान के उसी केन्द्र की ओर चले। प्रसिद्ध फ़ान्सीसी वैज्ञानिक रैनो (Regnault) उस समय बड़े प्रयत्न से पानी की वाष्प के ताप की रक्षा के लिए गवेषणा कर रहे थे। लार्ड केलविन ने इनकी अधीनता मे कुछ दिन परीक्षालय का काम-काज सीखा। परन्तु फ़ान्स मे उनका बहुत दिन रहना न हुआ। एक वर्ष के भीतर ही उनको अपने देश मे लौटकर ग्लासगो-विश्वविद्यालय मे जड़विज्ञान के अध्यापक का पद ग्रहण करना पड़ा। उसी समय से ५३ वर्ष तक लार्ड केलविन इसी पद पर नियुक्त रहे, तथा जिन बड़े-बड़े आविष्कारों के कारण उनका नाम चिर-स्मरणीय हो गया है उनमें से अधिकांश उन्होंने इसी समय किये थे। गत अर्द्ध शताब्दी से एक केलविन के कारण ही ग्लासगो का विश्वविद्यालय वैज्ञानिक-संसार का बड़ा तीर्थ हो गया था।

लार्ड केलविन ने अध्यापक का पद ग्रहण करते ही अपनी असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया था। इस समय भूतत्त्ववेत्ता भूगर्भ के शिलास्तरो का उत्पत्तिकाल देखकर पृथ्वी की आयु निर्धारित करने की चेष्टा कर रहे थे। इन्होंने हिसाब करके दिखलाया था कि पृथ्वी दस अरब (१००००००००००) वर्ष से भी अधिक की है। लार्ड केलविन ने इस गणना के विरुद्ध घोर प्रतिवाद आरम्भ किया, तथा—ताप के क्षीण होने से इस समय की शीतल अवस्था में आने के लिए पृथ्वी को कितना समय लगा—इसका निश्चय करने के लिए वे हिसाब करने लगे। हिसाब लगाने से पृथ्वी की आयु १० करोड़ वर्ष से अधिक नहीं हुई। इसी गणना के आधार पर भूतत्त्ववेत्ताओ के साथ लार्ड केलविन का बहुत वाद-विवाद हुआ, परन्तु अन्त मे लार्ड केलविन ही की जीत रही। लोग जान गये कि लार्ड केलविन साधारण अध्यापक नहीं हैं।

ताप और कार्य का घना सम्बन्ध (Thersmodynamics) जो आजकल वैज्ञानिकों का परिचित विषय है, लार्ड केलविन ही की कृपा का फल है। मेयर, जूल तथा कार्नो (Carnot) आदि के साथ लार्ड केलविन भी इसके आविष्कार मे समान यश के भागी माने गये हैं। इसके सिवा ताप-सम्बन्धी अनेक गवेषणाओं और आविष्कारो मे इन्होंने अपनी असाधारण बुद्धि का परिचय दिया है। परन्तु इनकी बुद्धि का पूर्ण विकास

तो बिजली के अनुसन्धान में ही विशेष रूप से देखा गया। सन् १८५५ मे, जब समुद्र की तली में संवाद के तार जमाने की चेष्टा हो रही थी, लार्ड केलविन ने हिसाब लगाकर दिखला दिया कि तार जितना ही लम्बा होगा संकेत के सञ्चालन में उतना ही विलम्ब होगा। हिसाब करने के फल से बहुत लोग हताश हो गये तथा किसी-किसी ने केलविन की गणना का प्रतिवाद भी आरम्भ कर दिया, परन्तु केलविन ने किसी की बात नहीं सुनी। विद्युत्प्रवाह का अत्यल्प परिवर्तन जानने के लिए वे किसी अच्छे यन्त्र के बनाने की चेष्टा करने लगे। उन्होंने थोड़े ही दिनों में संवाद ले जानेवाला अच्छा तार तथा एक अति सूक्ष्म प्रवाहवीक्षण यन्त्र (Mirror Galvanometer) बना लिया। समुद्र के पार संवाद ले जाना जिन लोगों ने असम्भव मान लिया था उनको केलविन की सफलता देखकर चकित होना पड़ा। इस समय लार्ड केलविन के बनाये हुए बिजली और चुम्बक के विषय के और भी अनेक यन्त्र वर्त्तमान हैं। इन पुराने यन्त्रों के स्थान में कोई नवीन यन्त्र आज तक नहीं बने हैं।

पहले समुद्र-यात्रा के योग्य अच्छे दिग्दर्शनयन्त्र (Compass) का बड़ा ही अभाव था, तथा निश्चयपूर्वक समुद्र की गहराई नापने का भी कोई अच्छा उपाय न था। लार्ड केलविन ने इन दोनों विषयों की बड़ी जाँच की। सुना जाता है

कि एक दिग्दर्शनयन्त्र को ही दोषरहित और सुव्यवस्थित करने मे उनको पांच वर्ष लगे ! परन्तु उनके परिश्रम से जो नवीन यन्त्र बना वह अद्वितीय हुआ। चलते हुए जहाज़ से समुद्र की गहराई नापने का यन्त्र भी बड़े कौशल से बनाया गया। आज तक ये दोनों यन्त्र प्रत्येक जहाज़ पर काम मे आते हैं।

प्रसिद्ध रसायनवेत्ता डाल्टन (Dalton) के आणविक सिद्धान्त का प्रचार होने पर पदार्थों में अणु किस प्रकार व्यवस्थित रहते हैं तथा अणुओं मे परस्पर कितना अन्तर रहता है, यह जानने की वैज्ञानिकों को बड़ी उत्कण्ठा हुई, परन्तु कोई वैज्ञानिक इस गूढ़ विषय मे हाथ डालने का उपाय भी न जान सका। लार्ड केलविन ने इस विषय में खोज आरम्भ की। कोई २२ वर्ष हुए, इन खोज का फल प्रकाशित हो चुका है, परन्तु आज भी उसका विवरण पढकर केलविन की सूक्ष्म बुद्धि और असाधारण गणित-ज्ञान देखकर चकित होना पडता है। ईथर के समुद्र मे अति सूक्ष्म तरङ्ग के उठने से उत्पन्न हुआ प्रकाश जब कॉंच अथवा और किसी स्वच्छ पदार्थ में से होकर आता है तब उसकी गति की दिशा मे कुछ परिवर्त्तन (Refraction) होता है। यह समझा गया था कि इसका कारण पदार्थ के अणु का ईथर की तरङ्गों को इतना झुका देना है। लार्ड केलविन ने, प्रकाश की तरङ्गो की लम्बाई तथा उनकी गति के परिवर्त्तन का प्रमाण बहुत सूक्ष्म रीति से जान-

कर, पदार्थों के अणुओं का परिमाण-जानने का सुन्दर उपाय निकाला। इसके सिवा केशिकाकर्षण (Capillary attraction) की सहायता से भी अणुओं का विस्तार जानने-का नवीन उपाय उन्होंने निकाला। एक इञ्च के अढ़ाई लाख समान भाग करने से जो अति सूक्ष्म मान निकलता है, उससे भी कम अणुओं का व्यास सिद्ध हुआ था। लार्ड केलविन की इस सूक्ष्म गणना की बहुत कुछ जॉच की गई परन्तु इसमें तनिक भी भूल नहीं निकली। यही देखकर मानना पड़ता है कि इतनी सूक्ष्म गणना केलविन के ही लिए सम्भव थी। उनके असीम परिश्रम और अपूर्व गणित-ज्ञान के कारण ही उनके खोज के प्रयत्न सफल हुए।

लार्ड केलविन की प्रधान गवेषणाओं में से दो-एक ही का उल्लेख किया गया है। इनके सिवा उन्होने जो और आविष्कार किये हैं उनका गौरव और संख्या इतनी अधिक है कि उनका विशेष विवरण देने से एक बड़ा भारी ग्रन्थ बन जावेगा। पचास वर्षों मे उन्होंने भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक-समाजों में प्रायः तीन सौ प्रबन्ध पढ़े! बहुत कहने से क्या, प्रत्येक प्रबन्ध ही एक नये तत्त्व की मीमांसा थी। जड़विज्ञान की किसी शाखा मे उनकी गवेषणा में वाद नहीं हुआ। जड़ की उत्पत्ति आदि कठिन गणित-सम्बन्धी विषयों से लेकर जल-कल बनाना आदि व्यावहारिक विज्ञान की छोटी-छोटी बातें भी उनकी चिन्ता-

का विषय बनी रहती थीं। सम्पूर्ण विज्ञान पर वे अपनी अमिट छाप डाल गये हैं। जैसे विधाता ने उनको सब गुणों से विभूषित करके संसार में भेजा था, वैसे लोगों ने भी उन गुणों का यथोचित आदर करने में भूल नहीं की। मान और ऐश्वर्य सदा ही उनके द्वार पर खड़े रहते थे। दरिद्र अध्यापक के घर में जन्म लेकर उन्होंने लार्ड की पदवी प्राप्त की थी, तथा देश-विदेश की प्रसिद्ध पण्डित-समाजें केलविन को श्रेष्ठ उपाधियां देकर अपने को धन्य समझती थीं।

प्राचीन वैज्ञानिकों के जीवन के इतिहास की आलोचना करते समय एक बड़े विषय पर हमारी दृष्टि पड़ती है। जान पड़ता है कि अनेक प्राचीन वैज्ञानिक अपने आविष्कृत तत्त्वों को संसार के दैनिक कार्यों में लगाना घृणा अथवा अपमान का कार्य समझते थे। बड़े-बड़े प्राचीन वैज्ञानिकों ने अपने जीवन में नाना प्रकार के कामों में जिस तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय दिया था उसके द्वारा कला-कौशल को वे सहज में ही सम्पन्न कर सकते थे। इस कारण पूर्वोक्त भाव उनकी बुद्धि की जड़ता का सूचक नहीं हो सकता। इसी लिए स्थान, काल, और पात्र के अद्भुत संयोग से उत्पन्न घृणा अथवा अपमान ही इसका कारण जान पड़ता है। सुना है कि मार्सिलस (Marcellus) की एक जलसेना को सैरेक्यूज़ के विरुद्ध आते सुनकर सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्किमिडीज़ ने बड़ी तीक्ष्णता से

कहा था कि हमारे बनाये हुए यन्त्र के सम्मुख इस जलसेना की व्यवस्था अति तुच्छ है। बहुत कहना निष्प्रयोजन है, आर्किमिडीज़ का नाव चलाने का यन्त्र अभी बना नहीं था, केवल कागज़ के ऊपर ही उसकी उपयोगिता देखकर उन्होंने मार्सिलस की जलसेना को तुच्छ बतलाया था। इनके असाधारण शास्त्र-ज्ञान को कार्य मे लगाने के लिए राजा हैरो (Hiero) को कितना कष्ट उठाना पड़ा था सो पाठक अवश्य ही जानते होंगे। यूडोक्सस (Eudoxus) और आकाइटस नाम के दो प्राचीन पण्डितों ने सबसे पहले ज्यामिति को व्यवहार में लाने की चेष्टा की थी। इसलिए ज्यामिति का कुछ ज्ञान पोथी-पत्रों के भीतर से निकलकर शिल्प-विद्या और यन्त्रशालाओं के भीतर आ चला था। संसार-प्रसिद्ध विद्वान् प्लैटो उस समय जीवित थे। जो शास्त्र तब तक केवल पण्डितों की सम्पत्ति था उसकी यह दुर्दशा उनको सहन नहीं हुई। प्लैटो ने तीक्ष्ण वचनों से इन स्वेछाचारियों की निन्दा की। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों का जीवन इस दुःसह पाण्डित्य के अभिमान का पात्र नहीं। ये एक प्रकार से बड़े कठिन तपस्वी और परिश्रमी हैं।

लार्ड केलविन के जीवन में आधुनिक वैज्ञानिकों का यह आदर्श सम्पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है। जड़तत्त्वों के अत्यन्त गूढ़ रहस्यों की मीमांसा करने के समय वे मुनि के समान

ध्यानमग्न दिखाई देते थे, तथा अपने आविष्कृत तत्त्वों को सांसारिक कार्यों मे लगाते समय वे साधारण श्रमजीवी की तरह अक्लान्तभाव से परिश्रम करते थे। वातलो, लॉगले और टिन्डैल आदि अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कृत तत्त्वों को नाना प्रकार के कार्य्यों मे लगाकर सुख तथा स्वतन्त्रता की वृद्धि अवश्य की है परन्तु कोई भी इस विषय मे लार्ड केलविन की समता नहीं कर सका। नये-नये यन्त्र बनाकर इन्होने संसार का सचमुच अद्वितीय उपकार किया है।

मनुष्य की उन्नति के दो मुख्य बाधक हैं—अपनी शक्ति के ऊपर सन्देह और विश्वास की शिथिलता। इनके दबाव मे पड़-कर मनुष्य किसी प्रकार सिर नहीं उठा सकता। लार्ड केलविन के जीवन की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि उन्होने इन दोनों शत्रुओं का अच्छी तरह जय कर लिया था, और इनको जीत लेने के कारण ही केलविन का नाम संसार मे अमर हो गया। छात्रों को विज्ञान की शिक्षा देते समय लार्ड केलविन शास्त्र में अटल विश्वास रखने का ही उपदेश प्रायः दिया करते थे। यदि कोई छात्र उनकी किसी उक्ति पर अविश्वास करता तो वे बोर्ड (काले तख़्ते) की ओर उँगली उठाकर कहते—'यह उक्ति हमारी नहीं है। जिस शास्त्र को मनुष्य ज्ञान के प्रथम प्रचार के दिन से संशय-रहित जानते चले आये हैं उसी गणित-शास्त्र के ऊपर विश्वास करने के लिए अनुरोध किया जाता है।'

आज कई वर्ष हो गये, किसी वैद्युतिक तत्त्व का अनु-सन्धान करते समय लार्ड केलविन ने देखा कि जिस बिजली के प्रवाह के स्पर्श से प्राणी का जीवन संशय मे पड़ जाता है उससे भी प्रबलतर प्रवाह देह के भीतर विशेष रूप से चलाने से प्राणी का कुछ अनिष्ट नहीं होता। इसी प्रकार की एक बात पर पहले उन्हे विश्वास नहीं हुआ था। परन्तु बार-बार गणना करके देखने पर भी जब हिसाब में भूल नहीं निकली तब फिर उनको विश्वास करना ही पड़ा। अपने छात्रो को उन्होंने इस परीक्षा के लिए बुलाया, परन्तु जीवन को संशय मे डालने-वाली इस परीक्षा के लिए कोई अग्रसर नही हुआ। अन्त में वृद्ध वैज्ञानिक ने साहस करके स्थिर चित्त से अपने शरीर में बिजली का प्रबल प्रवाह चलाया, परन्तु उससे उनके शरीर मे कोई वेदना नहीं हुई। तब, छात्रो को सम्बोधन करके उन्होने कहा—"तुम लोग कभी वैज्ञानिक तत्त्वों और गणित के मूलसूत्रो का अविश्वास मत करना। यही अविश्वास सफलता का मूल बाधक है।" यही अटल विश्वास केलविन के इतने उत्कर्ष का साधन हुआ था।

———

मनुष्यसृष्टि

अब यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो गया है कि हाथ, पांव, ज्ञान और बुद्धि सहित मनुष्य का पृथ्वी पर अकस्मात् एक दिन जन्म नहीं हुआ। जिस दिन विधाता की अनन्त शक्ति के एक सूक्ष्म अंश ने जड में प्रवेश करके निर्जीव पदार्थ की प्राणप्रतिष्ठा की उसी दिन से मनुष्यसृष्टि का आरम्भ हुआ। यह निश्चय करना कठिन है कि इस प्रकार जीव का अंकुर पृथ्वी पर उत्पन्न हुए कितना समय हुआ, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वी की बाल्यावस्था में ही किसी शुभ मुहूर्त्त में उस पर प्रथम जीव का सञ्चार हुआ। आधुनिक जीवतत्त्ववेत्ताओं ने इसी आदि जीव को मनुष्य का अति प्राचीन पूर्वज माना है, तथा वह जड़वत् जीव किस प्रकार क्रम से विकास को प्राप्त होकर वृक्ष, लता, पशु, पक्षी तथा नर, वानर आदि योनियों में भ्रमण करता हुआ इस अवस्था को पहुँच गया है सो भी निश्चय कर लिया है। इसलिए आदि जीवसृष्टि को मनुष्यसृष्टि का आरम्भ कहना असङ्गत नहीं।

बाह्य प्रकृति की शक्ति के साथ सामञ्जस्य की रक्षा करते हुए अपना व्यवहार ठीक रखना ही, वैज्ञानिकों ने, जीव का प्रधान लक्षण बतलाया है। गरमी, प्रकाश, वायु का दबाव,

तथा पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति आदि नाना प्रकार की प्रबल प्राकृतिक शक्तियाँ पदार्थों के ऊपर जो प्रभाव डालती हैं वह थोड़ा नहीं। एक वर्षा को ही देखने से जान पड़ता है कि इसके कारण पृथ्वी के आकार में नाना प्रकार से कितना परिवर्तन हो गया है। नवीन जीव के ऊपर इन नाना प्राकृतिक शक्तियों ने जब प्रबलता से प्रभाव डालना आरम्भ किया तब अपनी स्थिति को क़ायम रखने के लिए उस जीवांकुर को कितना यत्न करना पड़ा होगा, यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। परन्तु उस जड़युग मे, आत्मरक्षा की आकांक्षा से, क्षुद्र जीवों ने किस प्रकार अपना उपाय ढूँढ़ निकाला, उसको जानने का अब कोई साधन नहीं है। इस समय के सन्धि-विग्रह का इतिहास चिरकाल तक हमारे लिए अज्ञात रहेगा।

देश का प्राचीन इतिहास जब लुप्त हो जाता है तब चतुर इतिहासकर्त्ता अस्पष्ट शिलालेख तथा जीर्ण मन्दिरों की बनावट देखकर इतिहास-हीन युग की बहुत सी गूढ़ बातों को ढूँढ़ निकालते हैं। जीवतत्त्ववेत्ताओं ने भी इसी उपाय से तामसाच्छन्न जड़युग का इतिहास तैयार कर लिया है। उस समय की प्राकृतिक अवस्था को ध्यान में रखकर तथा खोदकर निकाली हुई पुरानी हड्डियों को देखकर इन्होंने जीवों का प्राचीन इतिहास लिखा है। आधुनिक मनुष्यों ने कृत्रिम उपायों से प्राकृतिक उपद्रवों का दमन करके अपने जीवन को चारों ओर से

इतना सुरक्षित बना लिया है कि एक बार जन्म ग्रहण कर लेने से अन्त तक अच्छी तरह कट जाता है। अन्यान्य जीवों के पास अपनी रक्षा का ऐसा कोई सहज उपाय नहीं। उनके जीवन का बड़ा अंश विरुद्ध प्रकृति से युद्ध करने में ही कट जाता है। प्रथम-जीव आधुनिक जीवों की अपेक्षा बहुत हीन थे, इसलिए यह निश्चय है कि इनको भी बाहरी शक्तियों के साथ युद्ध करके अपनी रक्षा करनी पड़ी। इस अवस्था में अनुकूल शक्ति का आश्रय करके निष्ठुर प्रतिकूल शक्तियों के साथ संग्राम करने के सिवा और उपाय नहीं था। प्रथम-जीवों के जीवन का बड़ा भाग इसी प्रकार की लड़ाई में कट गया। परन्तु इतने पर भी शत्रु के मुख से उद्धार का उपाय न देखकर उनको अपनी रक्षा का कोई स्थायी उपाय ढूँढ़ने का उद्योग करना पड़ा। प्रबल शत्रु के बाणों की वर्षा से जब योद्धा का धनुष टूट जाता था, तथा अपनी रक्षा की चेष्टा में जब तूणीर बाणरहित हो जाता था, तब अपने प्राणों की रक्षा के लिए उसको दूसरा उपाय ढूँढना पड़ता था। अपने समीप ही शरीर-रक्षक के कन्धे पर जो लोहे का कवच आपत्ति-काल के लिए रक्खा रहता था उसके ऊपर उस योद्धा की दृष्टि पड़ती थी। उस दृढ़ कवच को पहन लेने पर शत्रु के बाण उससे टकराकर और टूटकर गिर पड़ते थे। प्रतिकूल प्राकृतिक शक्तियों के आघात से बचने के लिए जीव को भी इसी प्रकार युद्ध करना पड़ा।

परन्तु कवच तैयार नहीं था, इस कारण अपने शरीर का ही रूप बदलकर ये प्रतिकूल शक्तियों के आघात से बचते थे।

प्रथम-प्राणी अमीबा।

आदिम समुद्रचर प्राणी।

एक-कोषमय प्रथम-जीव के दो खण्ड होते-होते जो असंख्य सन्तानें उत्पन्न हुईं उनमें से सब जीव मूल-जीव के समान

न होकर नाना कारणों से विकलाङ्ग उत्पन्न हुए। इस विकलता ने, महाभारत के वीर कर्ण के सहज-कवच के समान काम किया और वे नाना प्रकार के प्राकृतिक उपद्रवों से बचे रहे। जीवन-संग्राम में जय पाकर ये सब जीव बहुत काल तक पृथ्वी पर विचरते रहे, और महावीर कर्ण के समान सहज-कवचधारी होकर जन्म लेते रहे।

जीव का यह क्रम-परिवर्त्तन केवल पृथ्वी के बाल्यकाल तक ही नहीं रहा। जैसे-जैसे बाहर की प्राकृतिक शक्ति धीरे-धीरे बदलती रही वैसे-वैसे जीव भी नाना प्रकार से रूप बदलता हुआ जाति पर जाति उत्पन्न करता रहा। यह परिवर्त्तन अभी तक बन्द नहीं हुआ है। इसका अन्त कब होगा, अथवा यह किस ओर चल रहा है, यह जानना हमारी शक्ति से बाहर है।

इच्छा-शक्ति का सञ्चार होने पर, शत्रु के हाथ से रक्षा पाने के लिए, जीव को प्रकृति का आश्रित नहीं होना पड़ा। इस स्वाभाविक इच्छाशक्ति के अनुरोध से ही मनुष्य आदि उन्नत प्राणी कृत्रिम उपाय से आज हज़ारों प्राकृतिक प्रतिकूलताओं के खड़े होकर संग्राम करते हैं। प्राचीन जीवों में इस इच्छाशक्ति का लेश तक नहीं था। प्रबल बाह्य प्रकृति की प्रेरणा से जीवों को शरत्काल के मेघ के समान नाना रूप बदलते-बदलते, लक्ष्यहीन होकर चलना पड़ता था। घटनाभेद से इनमें से जो कुमार्ग में पड़ गये वे मृत्यु के मुँह में जा पहुँचे;

परन्तु जिनको भाग्य से सुमार्ग मिल गया वे क्रम से उन्नति-लाभ करते रहे। आधुनिक मानव जाति इसी आदि-जीव के किसी सुपथगामी वंशज के द्वारा उत्पन्न हुई है। जिस मार्ग का अवलम्बन करके जड़ के समान निकृष्ट जीव उन्नति करते-करते अन्त में मनुष्य जैसे उन्नत प्राणी की पदवी पर पहुँच गया है, उसी का कुछ विवरण इस प्रबन्ध मे हम पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं।

आदि-जीव की उत्पत्ति हो चुकने पर उसके वंशज दो भिन्न जातियों मे विभक्त हो गये। प्राचीन समय का आकाश आजकल के समान शुद्ध नहीं था। उस समय आकाश में अङ्गारक वाष्प (Carbon Dioxide or Carbonic Acid Gas) अब की अपेक्षा बहुत अधिक मिली थी। उन दोनों जातियों मे से एक तो केवल अङ्गारक वाष्प से शरीर का पोषण करती थी, तथा दूसरी अम्लजन (Oxygen) वायु ग्रहण करके जीती थी। अङ्गारक वाष्प में अङ्गार-तत्त्व (Carbon) और अम्लजन मिले हुए रहते हैं। दोनों ही जीव के शरीर की रचना के लिए बहुत उपयोगी हैं, पर कर्मचेष्टा की जितनी शक्ति जीवन को शुद्ध अम्लजन देता है उतनी अङ्गारक वाष्प नहीं देता। अङ्गारक वाष्प ग्रहण करनेवाले जीव की उन्नति में यहीं से बाधा पड़ गई। अम्लजन ग्रहण करनेवाला जीव जहाँ उन्नति के मार्ग पर शीघ्रता से चल पड़ा, तहाँ उसका

अङ्गारक-वाष्प-भोजी सहोदर ठीक एक स्थान में खड़ा होकर बहुत सी अङ्गारक-वाष्प को शरीर के पोषण के लिए ग्रहण करने के उद्योग में लग गया।

अक्सिजन ग्रहण करनेवाले जीव बहुत काल तक एक ही रूप में न रह सके। बाहरी प्रकृति के साथ सामञ्जस्य रखते हुए इनको स-मेरुदण्ड और अ-मेरुदण्ड (Vertebrate and Invertebrate) इन दो जातियों में विभक्त होना पड़ा। किसी समय इन दोनों जातियों में अ-मेरुदण्ड जीवों ने पृथ्वी पर बहुत प्राधान्य लाभ किया। मकड़े, मक्खियाँ, चींटियाँ आदि जीव उन्हीं के वंश में उत्पन्न हुए। बाहरी प्रकृति के साथ मेल करके, जितनी सुगमता से इन्होंने विचरना आरम्भ किया उतना सौभाग्य दूसरों को प्राप्त नहीं हुआ। इन लोगों के सामाजिक नियम अन्य लोगों से कहीं बढ़कर हैं। इन सब बातों को सोचकर मानना पड़ता है कि जिस स-मेरुदण्ड जाति में मनुष्य उत्पन्न हुए वह किसी समय उन्नति में अ-मेरुदण्ड जाति की अपेक्षा कहीं हीन दशा में थी। भूतत्त्ववेत्ताओं ने भी आज-कल इसी सिद्धांत का अनुमोदन किया है।

अ-मेरुदण्ड जाति पहले शीघ्रता से उन्नति करती हुई अन्त में स-मेरुदण्ड जाति के जीवों से पराजित हुई। मेरु-दण्ड न रहने से इन्होंने अपने चर्म को इन्द्रियों की रक्षा का प्रधान साधन बनाकर बड़ी भूल की, तथा यही भूल आगे चल-

कर इनकी उन्नति के मार्ग में बाधक बन गई। स्थूल चर्म के द्वारा शरीर के ढँके रहने के कारण, आकार बढ़ने पर, इनको अपना आवरण विदीर्ण करना पड़ा। इस समय भी केंकड़ा, चींटी, मक्खी आदि अ-मेरुदण्ड जीव एक प्रकार से अपने चर्म के आवरण को तोड़कर ही बढ़ते हैं। जो काम स-मेरुदण्ड जीवों की हड्डियाँ करती हैं वही काम अ-मेरुदण्ड प्राणी अपने कड़े आवरण से लेते हैं। देह की प्रधान इन्द्रियों और मांस-पेशियों का इसी आवरण से सम्बन्ध रहता है। इस कारण चर्मत्याग करने के पीछे नया चर्म तैयार होने तक इनको चुप-चाप पड़ा रहना पड़ता है। यदि एक वर्ष में दो-तीन बार मनुष्यों को अपनी हड्डियाँ बदलनी पड़तीं, और नई हड्डियों के बनने और बढ़कर काम-काज के योग्य होने तक—दो-तीन महीने—खटिया पर पड़ा रहना पड़ता, तो मनुष्य कभी इतनी उन्नति न कर सकते। अ-मेरुदण्ड जीव अपने शरीर के बढ़ने के लिए चर्मत्याग का अभ्यास करते रहे इसी कारण वे अधिक उन्नति न कर सके। जीवन के संग्राम में कुछ दिन प्रवृत्त रहकर वे जो कुछ ज्ञान प्राप्त करते थे वह, चर्म बदलने के समय निश्चेष्ट होकर पड़े रहने के कारण, प्रायः सब नष्ट हो जाता था।

अ-मेरुदण्ड जाति के कुछ जीवों ने, चर्मत्याग करने की पूर्वोक्त बाधा को समझकर, उन्नति करने की आशा से चर्म-त्याग करना बन्द कर दिया; परन्तु ऐसा करने से भी आगे के

लिए उनकी उन्नति का मार्ग निष्कण्टक न हुआ। एक नवीन विघ्न ने उपस्थित होकर उनकी उन्नति का मार्ग रोक दिया। चर्म बदलने के अभ्यास को छोड़ने के कारण इन जीवों को अल्पायु और छोटे शरीरवाला होना पड़ा, तथा बलपूर्वक बढ़ने की चेष्टा करने के कारण इनका क्षुद्र जीवन बारम्बार देह बदलने में ही कट जाने लगा।

आधुनिक रेशम का कीड़ा तथा नाना प्रकार के पतङ्गे इस पूर्वोक्त जीव के वंश से उत्पन्न हुए हैं। इनके पूर्वपुरुषों ने उन्नति का मार्ग ढूँढ़ने में जो भूल की थी उसी के कारण आज तक इनको छोटे शरीरवाला और अल्पायु होना पड़ता है, तथा इनके जीवन का अधिकांश देह बदलने में ही कट जाता है। ऐसी छोटी जाति का जीव कभी बुद्धिमान् नहीं हो सकता, यह तो बनी-बनाई बात है। बुद्धि के विकाश के लिए जितने बड़े मस्तिष्क (Brain) की आवश्यकता होती है उतना स्थान छोटे शरीर में रहता ही नहीं। कुछ लोगों का विश्वास है कि चींटी के छोटे से मस्तिष्क की शक्ति मनुष्य के बड़े मस्तिष्क से कुछ कम नहीं है, परन्तु अनेक परीक्षाओं के द्वारा यह बात निर्मूल सिद्ध हो गई है।

वंश-परम्परा से—बहुत काल तक—निरन्तर एक ही काम करते रहने से उस काम के भीतर का सब ऊँच-नीच अच्छी तरह समझना उस वंश का एक विशेष गुण हो जाता है।

नाना जाति के जीवों की विशेष बुद्धि तथा ज्ञान, ठीक इसी प्रकार विकाश को प्राप्त होते-होते, अन्त में उस जाति की सम्पत्ति बन जाता है। जिस जीव को अपने क्षुद्र जीवन में दो-तीन बार देह बदलनी पड़े वह कभी लगातार किसी काम को करने का अवकाश नहीं पा सकता। इसी कारण इसकी बुद्धि को विकाश का अवसर ही नहीं मिल सकता। परिवर्त्तनशील देह को धारण करने के कारण ही पतङ्गों को अल्प-बुद्धि होकर रहना पड़ता है। रेशम का कीड़ा जब सूँड़ी के आकार का रहता है तब केवल वृक्षों के पत्तों को खाकर निर्वाह करता है। इस अवस्था में उसे नाना प्रकार के शत्रुओं के मुँह से अपनी रक्षा करके, कोमल पत्तों से ही पेट भरने का कौशल सीखना पड़ता है। परन्तु दीर्घ काल विश्राम करने के पीछे, जब वह तितली के रूप में कोष से बाहर निकलता है तब, पहले की शिक्षा अब उसके किसी काम नहीं आती। इस अवस्था में उसे बिलकुल नये शत्रुओं के साथ संग्राम करके नवीन उपाय से आहार संग्रह करने की चेष्टा करनी पड़ती है। इस कारण, पिछले जीवन का अभ्यास, हृदय में प्रवेश करके, उसकी बुद्धि को उन्नति के मार्ग पर नहीं ले जा सकता।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट समझ में आ जाता है कि अ-मेरुदण्ड जीव पहले अपने स-मेरुदण्ड भाइयों से आगे बढ़कर अन्त में स्वयं पीछे रह गये। उन्होंने अपनी उन्नति और

रक्षा के लिए जो उपाय ग्रहण किये उनके द्वारा उन्हे मनुष्यता की ओर बढ़ने का अवसर न मिला। जो प्राणी कोमल देह के भीतर कठिन मेरुदण्ड का पोषण करते रहे, अन्त में उन्हीं की जय हुई।

स-मेरुदण्ड जीव बहुत काल तक जलचर जीवों के रूप में समुद्र मे विचरते रहे, तथा पीछे इनमे से कुछ स्थल पर भी रहने लगे। जीवतत्त्ववेत्ताओं ने इस परिवर्त्तन के अनेक कारण बतलाये हैं। उनमे से जिन्होंने चन्द्र के आकर्षण को मुख्य कारण बतलाया है उनकी बात यथार्थ जान पड़ती है। इनका कथन है कि प्राचीन समय मे जब चन्द्रमा पृथ्वी के अत्यन्त निकट था तब उसके प्रबल आकर्षण से समुद्र के पानी मे ज्वार-भाटा अधिक उठता था। इसी समय, पानी की बाढ़ के साथ जो जलचर जीव स्थल पर आ जाते थे वे सबके सब, पानी के घटने पर, समुद्र मे नही लौट सकते थे। इस प्रकार प्रतिदिन दो बार कुछ जीव स्थलवासी होते जाते थे। प्रतिकूल अवस्था मे आ पड़ने पर अपने को प्रतिकूलता के अनुकूल कर लेना ही जीव का जीवत्व है। इस कारण साधारण जलचर जिस श्वासयन्त्र की सहायता से पानी के भीतर की अम्लजन (Oxygen) ग्रहण करके जीते थे उसमे परिवर्त्तन करना आवश्यक हो गया। पानी की बाढ़ के साथ स्थल पर आ पड़ने पर, उन्हीं श्वासयन्त्रों के द्वारा

वायु से अक्सिजन ग्रहण करना उनके लिए असाध्य हो गया। इस कारण जलचरों के से गलफड़ों (Gills) के स्थान में उन्हें फेफड़े (Lungs) उत्पन्न करने पड़े।

अब यह विचार करना है कि स-मेरुदण्ड जलचर, पूर्वोक्त प्रकार से स्थलचर होकर धीरे-धीरे उन्नति के मार्ग मे चल सके कि नहीं। जलचर जीवों की परीक्षा करके देखने से पहले, उनके मस्तिष्क की छुटाई के ऊपर ही हमारी दृष्टि पड़ती है। इस त्रुटि का कारण समझना कठिन नहीं है। जो जीव, सब
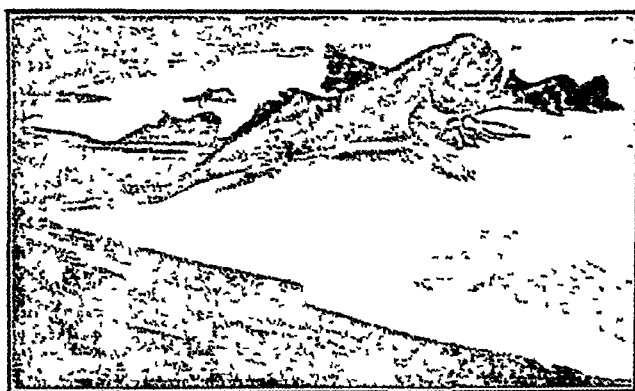
प्रथम थलचर प्राणी।

आवश्यक पदार्थ पास ही पाकर, एकरस जीवन व्यतीत करते हैं उनके मस्तिष्क का विकाश होना किसी प्रकार सम्भव नहीं। सर्वदा प्राय: समान गरम पानी में विचरते हुए जलचर अपने जीवन को सदा एक ही प्रकार से व्यतीत करते रहे। शीत,

धूप और वर्षा से बचने के लिए इनको अपनी बुद्धि नहीं लगानी पड़ी, तथा आहार भी अधिकतर बिना प्रयत्न के ही मिलता रहा। इस कारण पानी में सदा निवास करना ही इनके सर्वनाश का मूल-कारण हो गया। इनके जो वंशज थल के ऊपर आ पड़े केवल वही उन्नति कर सके।

थलचर होकर जीव बहुत समय तक एक दशा मे न रह सके। शीघ्र ही एक और सङ्कट आकर उपस्थित हुआ। थलचर प्राणी, अवस्था-भेद से, पक्षी तथा स्तनपायी इन दो जातियों मे बँट गये। इस जाति-भेद का कारण सोचने के समय इनकी रक्तसञ्चलनपद्धति, और श्वासयन्त्र के क्रमानुसार परिवर्त्तन के ऊपर ही पहले दृष्टि पड़ती है। साधारण थलचरों मे जिनके हृत्पिण्ड के प्रकोष्ठों की संख्या बढ गई है, तथा साथ ही साथ फेफडे का विस्तार भी बढ़ गया है, वे अपनी पूर्व प्रकृति को रक्षित नहीं रख सके। बड़े-बड़े फेफड़ों के द्वारा शुद्ध होकर लाल लोहू सदा ही उनकी नाड़ियों में चला करताहै। इसके सिवा, देह के भीतर शुद्ध अक्सिजन के संयोग से रासायनिक कार्य प्रबल रूप से चल पडने के कारण, पूर्वपुरुषों की अपेक्षा उनके शरीर मे गरमी भी बहुत बढ़ गई है। इस प्रकार नई शक्ति को पाकर ये नये जीव आलसी होकर नहीं बैठ सके। उस समय सम्पूर्ण धरातल जलचर जीवों से उत्पन्न महाकाय सरीसृपों (Reptiles) से परिपूर्ण

था। इनके सहोदर जब नई शक्ति और नई प्रकृति लेकर उत्पन्न होने लगे तब नये और पुराने जीवों में घोर युद्ध उपस्थित हुआ। जो नये जीव बहुत सी अक्सिजन शरीर में रखकर शक्ति का सञ्चय करते थे वही इन बड़े-बड़े सरीसृपों के मुँह से बच सकते थे। शीघ्रता और घोर परिश्रम करने में पुराने जीव नये जीवों की बराबरी न कर सके। इसके सिवा, इस समय नये जीवों मे एक और अच्छा लक्षण प्रकट हुआ जिसके कारण पुराने जीव और भी पीछे रह गये। पुराने जीव वंश बढ़ाने के लिए अण्डे देते थे; परन्तु उनके वंशजों के शरीर में जब गरम रक्त की धारा बहने लगी तब वे भाग्यशाली वंशज, अण्डे देने का अभ्यास छोड़कर, जीते बच्चे उत्पन्न करने लगे। इस कार्य से नये जीव मनुष्यत्व की ओर इतनी शीघ्रता से बढ़े कि पुराने जीवों की मनुष्यत्व प्राप्त करने की आशा भङ्ग हो गई।

नवीन जीव असहाय बच्चों को उत्पन्न करके पहले बड़ी ही गड़बड़ में पड़ गये। बच्चों को शत्रु के मुँह से बचाना उनके जीवन का मुख्य कार्य हो गया। जीवतत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि सन्तान की रक्षा की चेष्टा ही जीवों की उन्नति का प्रधान कारण हुई। कभी-कभी देखा गया है कि जब किसी विशेष उन्नति का अनुकूल समय आता है तब प्रकृति उस उन्नति मे बाधा डालने के लिए मोहिनी रूप धारण करके जीव को उलटे मार्ग पर डाल देती है। जीव जब अपने

निःसहाय बच्चों की रक्षा के उपाय ढूँढ़ने में व्यस्त थे तब—किसी के पेट के नीचे चमड़े की झिल्ली बनाकर, किसी को पूँछ मे बच्चों को लपेटना सिखाकर—प्रकृति देवी ने स्वयं उन जीवों की चिन्ता को दूर करना आरम्भ किया। कङ्गारू आदि जीव प्रकृति की इसी सहायता को स्वीकार करके चिन्ता से निवृत्त हुए। किन्तु और जीवों ने इस मोहिनी प्रकृति की माया का आश्रय नहीं लिया। इन्होंने प्राकृतिक उपायों को छोड़कर अपनी बुद्धि से बच्चों की रक्षा का उपाय ढूँढ़ना आरम्भ किया।

बच्चों को केवल दूध पिलाना ही माता-पिता का कर्त्तव्य नहीं; वरन् शिक्षा देना भी उनका आवश्यक कर्त्तव्य है। अपने जीवन का अनुभव वंशजों को बतलाना भी आवश्यक है, इस बात को अभी तक किसी जीव ने अच्छी तरह नहीं सोचा था। निःसहाय बच्चों को उत्पन्न करते ही जीवों को इस बात की भी आवश्यकता जान पड़ने लगी। वैज्ञानिकों का कथन है कि इसी ज्ञान तथा पूर्वोक्त स्वाधीन विचार की चेष्टा के कारण स्तनपायी जीव धीरे-धीरे मनुष्यत्व की ओर बढ़ चले।

हम पहले ही कह चुके हैं कि जिस जाति अथवा व्यक्ति को जीवन की सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री सहज ही में मिल जाती है उनके लिए आगे उन्नति करना बहुत ही कठिन है। पक्षियों और दूध पीनेवालों की उत्पत्ति एक ही जाति के जीवों से हुई, तथा गरम रक्त के प्रवाह से दोनों ही के शरीर बलवान् हुए।

इस अवस्था में दोनों ही की उन्नति अवश्यम्भावी जान पड़ती थी। परन्तु पक्षी उन्नति के मार्ग पर स्थिर न रह सके। पूर्वोक्त विघ्न ने आकर उनका मार्ग रोक दिया। इन्होंने थोड़े ही दिनों में शरीर की बहुत उन्नति कर ली। आज तक इनके उन्नत शरीर के आगे मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीव को भी हार माननी पड़ती है। परन्तु शरीर-रक्षा के लिए जो कुछ आवश्यक है वह सब सामग्री आसानी से पा लेने के कारण उनको विचार नहीं करना पड़ा। यही—बुद्धि से काम न लेना ही—मनुष्यत्व तक पहुँचने का बाधक हो गया। शारीरिक उन्नति के साथ-साथ यदि किसी प्रकार बुद्धि के विकाश का भी अवसर मिल गया होता तो पक्षियों से कैसे अद्भुत जीव उत्पन्न होते सो हम समझ ही नहीं सकते।

अब इस बात का विचार करना है कि सुपथगामी स्तनपायी किस मार्ग से आगे—मनुष्यत्व की ओर—बढ़े। इस मार्ग को ढूँढ़ने के लिए आधुनिक जीवतत्त्ववेत्ताओं को बहुत श्रम करना पड़ा। इन सब लोगों का प्रायः एक ही मत है, कि बड़े-बड़े सरीसृपों के द्वारा आच्छन्न पृथ्वी पर, छोटे-छोटे स्तनपायी जीवों को—उत्पन्न होते ही—इन बड़े-बड़े जीवों के आक्रमण से बचने के लिए सुरक्षित स्थान ढूँढ़ना पड़ा। उस समय बड़े-बड़े वृक्षों की कमी नहीं थी। जीव-तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि सम्भव है, इस समय अधिकांश स्तनपायी जीव आधु-

निक अपोसम (Opossum) आदि प्राणियों का आकार धारण करके वृक्षचर हो गये हों। भूतत्त्ववेत्ता भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन करते हैं। अति प्राचीन शिलास्तरों मे जीवों के जो चिह्न पाये गये हैं उनमे अनेक चिह्न वृक्षचरों के जान पड़ते हैं।

वृक्षचर प्राणियां के शरीर की परीक्षा करने से, वृक्ष को पकड़ने की व्यवस्था दो ही प्रकार की देखी जाती है। कुछ जीव तो बडे-बड़े नखो से शाखा-प्रशाखाओं को पकडकर वृक्ष पर रहते हैं, और कुछ अपनी बड़ी-बड़ी उँगलियों से शाखाओं को पकड़ते हैं। किस प्राकृतिक अवस्था मे पड़कर साधारण स्तन-पायी जीव क्रम से बड़े नख अथवा बडी उँगलियोंवाले बन गये यह अब ठीक नहीं कहा जा सकता। तो भी यह निश्चय है कि साधारण स्तनपायी प्राणी से ही उक्त दोनों श्रेणियों की उत्पत्ति हुई, और उँगलियोंवाले जीव नखवालों को हराकर मनुष्यत्व की ओर अग्रसर हुए।

नखवाले जीवों के नख ही उनकी उन्नति में बाधक हो गये। नखों के द्वारा वृक्षों की शाखाओ को अच्छी तरह पक-ड़ना अत्यन्त कठिन है। देह भारी होने से यह कार्य एकदम असम्भव जान पडता है। परन्तु बड़ी उँगलियोंवाला जीव, कितने ही भारी शरीर का क्यों न हो, उँगलियों के द्वारा वृक्षों की शाखाएँ पकड़कर सहज ही मे वृक्षों पर चल-फिर सकता

है। वैज्ञानिकों का मत है कि नखों के इस दोष से ही नख-वाले वृक्षचर जीवों को छोटे शरीर का होकर रहना पड़ा। उधर बड़ी उँगलियोंवाले प्राणी क्रम से सब अङ्गों को पुष्ट करते-करते उन्नत शरीरवाले हो गये।

जिस मानसिक शक्ति के द्वारा मनुष्य अन्य जीवों से भिन्न हो गया है उसकी आलोचना करते समय गिनने की शक्ति सबसे पहले ध्यान मे आती है। पाँच पदार्थों में अन्य पाँच पदार्थ मिलाने से दस हो जाते हैं, यह समझ लेने की शक्ति केवल मनुष्य जाति में है। इसी को ज्ञान का प्रथम अंकुर समझकर डाक्टर वैलेस और डारविन आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने बड़ी खोज कर डाली परन्तु कोई भी कुछ निश्चय न कर सका। दो-एक नवीन विद्वानों ने इस विषय में खोज कर निश्चय किया है कि भारी शरीरवाले स्तनपायी जीव जब वृक्षों की शाखाओं पर विचरते थे, सम्भव है, उसी समय उनके मस्तिष्क मे गणनाशक्ति उत्पन्न हुई हो। वृक्षचर जीव जब एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूदते थे तब उनको बड़े प्रयत्न से दूरी का ठीक हिसाब मन में रखना पड़ता था। इस हिसाब मे भूल होने के कारण पहले अनेक प्राणियों को पृथ्वी पर गिरकर प्राण छोड़ने पड़े, परन्तु अन्त में फिर वे ऐसी भूल से बरी हो गये। इसके सिवा शाखाओं पर दौड़नेवाले स्तन-पायी प्राणियों को यह भी हिसाब करना पड़ा कि हाथ-पाँव

की पेशियों को कितना सिकोडने से कितनी दूर उछला जाता है। अन्त में उनका यह हिसाब यन्त्र के समान चलने
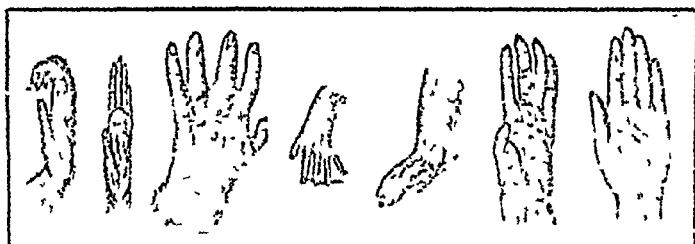
मनुष्य तथा वानर-जाति के प्राणियों की उँगलियों का भेद।

लगा, परन्तु यह अवश्य मानना पड़ता है कि यहाँ से स्तनपायी जीवों के गणितज्ञान का आरम्भ हो गया।

जब किसी जीव मे किसी विशेष शक्ति की कमी हो जाती है तब प्राय: और कोई शक्ति साथ-साथ बढ़कर उस कमी को पूरा कर देती है, यह एक परीक्षित स्वाभाविक नियम है। अन्धे की सुनने तथा छूने की शक्ति की तेज़ी, तथा बहरे की दृष्टि की प्रबलता चिरकाल से प्रसिद्ध है। इसी प्राकृतिक नियम को ध्यान मे रखकर वैज्ञानिक कहते हैं कि जब मनुष्यों के अति प्राचीन पुरखे, स्तनपायी जीवों की सूरत में, वृक्षो पर विचरते थे तभी उन प्राणियों मे और भी कई मानुषी शक्तियों का सञ्चार हुआ था। अनेक अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों की दृष्टि और घ्राण-शक्ति बहुत कम है। वैज्ञा-

निकों का कथन है कि मनुष्य के प्राचीन पुरखे जब शाखाओं पर विचरते थे तब धरती पर चलनेवाले प्राणियों की तरह वे सूँघ अथवा देख नहीं सकते थे। इस कारण, व्यवहार के अभाव से, ये शक्तियाँ क्षीण हो गईं और इनके स्थान में दूसरी शक्तियाँ बढ़ने लगीं। इस व्यवहार-भेद से वृक्षचर प्राणी की मनुष्यत्व की ओर कितनी उन्नति हुई, इसका अनुमान नहीं हो सकता। घ्राण-शक्ति की प्रबलता नष्ट हो जाने से जब ये कुत्ते की तरह सूँघकर आहार आदि ढूँढने में असमर्थ हो गये, तथा तीव्र दृष्टि न रहने के कारण दूर से शत्रु की गति-विधि समझना इनके लिए असम्भव हो गया, तब अपने बचाव के लिए कोई दूसरा उपाय न रहने पर इन्हें बुद्धि को काम में लाना ही पड़ा। यही परिवर्त्तन इनको उन्नति के मार्ग में ले गया।

ज्ञात पड़ता है, इसके बाद ही प्राणियों मे, बुद्धि बढ़ाने के कौशल के लिए, प्रतियोगिता चल पड़ी। वृक्षचर प्राणियों से जब हाथ-पाँववाले मनुष्य उत्पन्न होने लगे तब वे पशु-पक्षी आदि को मारकर अपना निर्वाह करने लगे। इस कार्य ने भी उनकी बुद्धि के विकाश में बहुत सहायता दी। बराबर साल भर तक किसी स्थान में मृगया के अर्थ पशु नहीं मिलते, इस कारण बुद्धिमान् शिकारियों को आगे की चिन्ता का अभ्यास करना पड़ा। जिनको इस चिन्ता का अभ्यास नहीं था उनको अपने परिवार-सहित, आहार न मिलने से,

भूख-प्यास के कारण मृत्यु के मुँह में जाना पड़ा। इस प्रकार केवल एक ही बुद्धिमान् मनुष्य-जाति पृथ्वी पर रह गई। इसी को आधुनिक मनुष्य-जाति का पितामह कहना चाहिए। ये अपूर्ण मनुष्य ही धीरे-धीरे पूर्णता की ओर बढ़-कर आधुनिक मनुष्य बन गये।

मनुष्यसृष्टि की इस प्रकार आलोचना करने से जान पड़ता है कि अपूर्ण मनुष्यों ने कुछ प्राकृतिक शक्तियों का त्याग करके बहुत शीघ्रता से उन्नति कर ली। मनुष्यों ने यदि इस प्रकार की असहायता स्वीकार न की होती तो इतने दिनों मे इतनी उन्नति वे किसी प्रकार नहीं कर सकते थे। यों, सहायता न लेने ही के कारण मनुष्यों ने घर, कपड़ा, तथा अस्त्र आदि बनाने का कौशल सीख लिया। मनुष्य यदि पक्षियों की तरह प्राकृतिक आच्छादनों से देह को ढँका रखते तो उन्हीं के समान पङ्खवाले होकर और स्वेच्छा-पूर्वक उड़कर सहज ही मे अपना आहार ढूँढ़ लेते। तब हमको आज मनुष्य-जाति में आधु-निक सभ्यता का लेश भी न दिखाई पड़ता, तथा उड़ने की कल बनाने के लिए देश के बड़े-बड़े पण्डितों को चिन्ता भी न करनी पड़ती। प्रकृति के साथ विरोध करना ही पशुत्व से मनुष्यत्व पर पहुँचने का कारण हुआ है।

जीवन क्या है?

इस छोटे से प्रश्न का उत्तर देने के लिए पण्डितों, मूर्खों, दार्शनिकों, अदार्शनिकों, वैज्ञानिकों, अवैज्ञानिकों—कितने ही लोगों—ने वेहिसाव बातें कही हैं। मालूम होता है, जिस दिन से मनुष्यों ने विचार करना सीखा उसी दिन से इस प्रश्न का उत्तर जानने की चेष्टा होने लगी, परन्तु आज तक इसका कुछ उत्तर नहीं मिला। विज्ञ दार्शनिक अपना पोथी-पत्रा खोलकर वड़े गम्भीर भाव से कहते हैं कि यह हम, तुम, घट, पट आदि जो कुछ देखते हो सब माया की रचना है। किसी रसिक ने हास्यभाव से कहा है—

"ना जीवन तो कछु हि ना
एकठो ई: एकठो ऊ: एकठो आ:"

परन्तु इससे मन को सन्तोष नहीं होता। यह संसार कुछ नहीं है; सब माया का ही खेल है; और यह जीवन भी कुछ नहीं है, एक ई: एक ऊ: एक आ: के रूप में सुख-दु:ख में यह कट ही जाता है, परन्तु इस तत्त्वज्ञान से चित्त को शान्ति नहीं

होती। मन में यह जानने की इच्छा होती है कि इन सब जड़ पदार्थों में चैतन्य का आवेश कैसे हो जाता है, और कैसे उनके भीतर जीवन के नाना विचित्र कार्य होते रहते हैं। इस तरह, देखते हैं कि यह प्रश्न तत्त्वज्ञान की सीमा से निकलकर विज्ञान में आ गया। आधुनिक विज्ञान इस प्रश्न का क्या उत्तर देता है, उसी का कुछ आभास इस प्रबन्ध में हम देना चाहते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों से जब यह प्रश्न किया जाता है तब वे उत्तर देते हैं कि दूध में 'जामन'—अर्थात् दधि-बीज—देने से, जैसे दूध जमकर दही बन जाता है, उसी प्रकार रूपान्तर होने से जीवन का कार्य चलता है। दूध में जामन देना ही चलने अथवा सड़ने (Fermentation) का एक मात्र उदाहरण नहीं। जब मैदा अथवा सूजी में खमीर देकर डबलरोटी बनाई जाती है, अथवा जब पानी में डालकर जौ की शराब बनाई जाती है तब ये सब वस्तुएँ सड़ाई जाती हैं। विज्ञान के मत से हमारा जीवन भी इसी प्रकार सड़ने अथवा चलन का कार्य है। यद्यपि यह बात सुनने में असम्भव प्रतीत होती है परन्तु इस सिद्धान्त की सत्यता के इतने प्रमाण हैं कि इसको अवश्य ही सच्चा मानना पड़ता है।

कभी किसी बड़े सिद्धान्त की प्रतिष्ठा एक दिन में अथवा एक मनुष्य के प्रयत्न से नहीं हुई। कितने ही लोगों ने उपादानों का संग्रह किया है, कितनों ही ने उनको एकत्र किया है, और

कइयों ने उनकी प्राण-प्रतिष्ठा की है। युगयुगान्तरों की चेष्टा से, इस प्रकार, एक-एक सिद्धान्त दृढ़ आधार पर खड़ा किया जाता है। हम जिस सिद्धान्त की आलोचना कर रहे हैं वह भी इसी प्रकार धीरे-धीरे खड़ा किया गया है। बहुत से प्राचीन तथा आधुनिक शरीर-तत्त्ववेत्ताओं की निशानी इसमें विद्यमान है। इस सिद्धान्त के गढ़नेवालों मे से पहले फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् पाश्च्यूर (Pasteur) का ख़याल आता है। दूध में जामन देने से, अथवा मैदा में ख़मीर मिलाने से, उनमें कैसे विकार उत्पन्न होता है इस विषय की आलोचना करना उन्होंने आरम्भ किया। उससे वे जान गये कि एक प्रकार का अति सूक्ष्म जीव उस दूध अथवा मैदा मे पड़ जाता है। जब हम दही जमाने के लिए दूध मे जामन डालते हैं तब कुछ जीवों को दूध मे छोड़ देते हैं; पीछे से वे जीव अपना वंश बढ़ाकर सम्पूर्ण दूध का दही कर देते हैं। केवल यही नहीं—हैज़ा, डिप्थोरिया (बच्चों का गला आ जाना) आदि नाना प्रकार के रोगों का कारण भी उन्होंने इन सूक्ष्म जीवों का कार्य सिद्ध कर दिया। जिस रोग के जीवाणु मनुष्य अथवा किसी दूसरे प्राणी के शरीर में प्रवेश कर अपना वंश बढ़ा सकें उस विशेष रोग के लक्षण उस प्राणी के शरीर मे प्रकट हो जाते हैं, यह प्रत्यक्ष देखा गया है। इसके सिवा, प्राणी का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए भी उन्होंने विशेष जीवा-

णुओं के ही कार्य को मुख्य साधन निश्चय किया। पाश्च्यूर परम वैज्ञानिक थे। वे रसायन-विद्या के भी बड़े भारी विद्वान् थे। उन्होंने स्पष्ट समझ लिया कि जीवाणुओं के द्वारा मनुष्य के शरीर मे, अथवा नाना जड़-पदार्थों मे जो परिवर्त्तन होता है वह केवल रासायनिक विकार है। परन्तु इस बात को प्रकट करने का पाप अपने सिर पर लेने का साहस उन्हे नहीं हुआ। जीवन के कार्यों के साथ रासायनिक कार्यों का कुछ भी सम्बन्ध प्रकट करना सचमुच उन दिनों पाप गिना जाता था। उस समय बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी जीवन के कार्य को एक अलौकिक रहस्य मानते थे। उस समय के वैज्ञानिकों के मन मे यह विश्वास दृढ़ता से जमा हुआ था कि परीक्षागृह मे नाना पदार्थों के योग-वियोग की जो घटनाएँ हम नित्य देखते हैं, तथा जिन प्राकृतिक नियमो को हम जानते हैं, उनसे जीवो के शरीरों के कार्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। इसी कारण प्राणियों की देह मे जीवाणुओं का कार्य सम्पूर्ण जीवों का कार्य ही मान लिया गया था, उसके साथ रासायनिक कार्य का भी कोई सम्बन्ध है इस बात को, उस समय, कोई विद्वान् मान ही नहीं सकता था।

पाश्च्यूर साहब की मृत्यु के पीछे जर्मनी मे बूख़नर नाम के (Buchner) एक असाधारण प्रतिभाशाली वैज्ञानिक का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने मानसिक स्वतन्त्रता के भाव से प्रेरित होकर

पुराने संस्कारों के बन्धन में रहना उचित नहीं समझा। जीवाणुओं का कार्य, जीव की क्रिया होने पर भी रासायनिक क्रिया से भिन्न नहीं है—इस सिद्धान्त का इन्होंने प्रतिपादन किया। इन्होंने इस सिद्धान्त का केवल प्रचार ही नहीं किया प्रत्युत धीरे-धीरे इसको सिद्ध भी कर दिया। जामन अथवा ख़मीर (Yeast) लेकर इन्होंने उसको दबाना आरम्भ किया। दबने के कारण ख़मीर के कोष (Yeast cells) टूटकर उनमें से एक प्रकार का रस निकलने लगा। बूख़नर ने इसी रस की परीक्षा करके दिखा दिया कि नवीन जीवाणुयुक्त बीज डालने से दूध या राब मे जो विकार उत्पन्न होता है, वही जीवकोष का रस डालने से भी हो जाता है। इससे लोग समझने लगे कि जीवाणुओ के कार्य में जीवनीशक्ति के नाम की कोई गुप्त शक्ति नही है। यद्यपि यह नहीं जाना गया कि जीवाणुओं के शरीर में यह रस कैसे उत्पन्न होता है, तथापि इस विषय में अब कुछ भी सन्देह नहीं रहा कि यही रस नाना प्रकार के पदार्थों के साथ मिलकर रासायनिक क्रियाओं को उत्पन्न करता है। पाश्च्यूर साहब जिस जीवनी-शक्ति के भय से कोई बात नहीं कह सके थे उसकी भी जड़ हिल गई।

इसके अनन्तर ही बर्ट्रैण्ड (Gabriel Bertrand) नामक एक फ़ान्सीसी वैज्ञानिक ने इस विषय की आलोचना आरम्भ की। इनकी परीक्षाओं के फल से जीवन के कार्य और

रासायनिक क्रियाओं की एकता और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गई। जीवनी-शक्ति और रासायनिक शक्ति की एकता की बात फ़ान्सीसी विद्वान् लावोसियर इससे पहले भी कह चुके थे। बहुत समय पहले लावोसियर साहब सिद्ध कर चुके थे कि जैसे परीक्षागृह में, अम्लजन संग्रह करने के लिए, कभी-कभी हम वायु के नाइट्रोजन को त्यागकर अम्लजन निकाल लेते हैं, उसी प्रकार प्राणियों के फेफड़े भी अम्लजन निकालकर जीवन के कार्य चलाते हैं। बर्ट्रेण्ड साहब ने दिखला दिया कि प्राणियों के फेफड़ों में ऐसी एक वस्तु होती है जिसके द्वारा वायु से अम्लजन सहज ही में निकल आता है। ताप के प्रयोग से वह नष्ट हो जाती है तथा ऐसिड (अम्लरस) के संयोग से, अथवा विष के प्रभाव से, उसका कार्य बन्द हो जाता है। इसका प्रत्येक कार्य पाश्चयूर साहब के आविष्कृत उसी ख़मीर (Yeast cells) के कार्य से पूर्णतया मिल गया। बर्ट्रेण्ड साहब ने इस पदार्थ का नाम अम्लिडेज़ (Oxydase) रक्खा।

इस आविष्कार के पहले भी जीवतत्त्ववेत्ता और शरीर-तत्त्ववेत्ता निश्चिन्त नहीं थे। पाश्च्यूर साहब के आविर्भाव के बहुत पहले, बीज के उगने की आलोचना करते समय, वैज्ञानिकों ने देखा था कि हाल ही के उगे हुए बीज में एक ऐसी वस्तु होती है जो बीज के श्वेतसार (Starch) का विश्लेष

करके और कई नवीन पदार्थ उत्पन्न करती है। सब लोग जानते थे कि प्राणियों के मुँह की लार में भी ऐसा ही एक पदार्थ मिला होता है। इसके पीछे, प्राणी के पाकाशय मे पेप्सिन (Pepsin) नाम का एक पदार्थ पाया गया, जो मांस, दाल आदि को पचाने की सामर्थ्य रखता है। यकृत (Liver) में से प्राणिदेह मे जो पित्त-रस (Bile) निकलता है वह तेल आदि चिकने पदार्थों को पचाता है—इसका भी कुछ पता लगा। इसके सिवा पाकाशय के और रसो के कार्यों को भी वैज्ञानिक जानते थे। पाश्च्यूर के आविष्कार तथा बर्ट्रैण्ड की परीक्षा के फल प्रकट होने से सब लोगों की दृष्टि इन सब बातों की ओर आकर्षित हुई। जीवों की देह के नाना रसों के कार्यों के साथ पाश्च्यूर के आविष्कृत ख़मीर के कार्य की एकता देखकर सब लोग स्तम्भित रह गये। परन्तु तो भी, ख़मीर के जीवाणु तथा प्राणियों के शरीर के नाना रसों में भेद रखने के लिए देह के रसो को अनेक लोग अनेक नामों से सूचित करने लगे। कोई उनको Enzymes तथा कोई उनको Zymases कहने लगे।

जब पाश्च्यूर साहब के आविष्कृत जीवाणुओ के कार्य के साथ अनेक शारीरिक क्रियाओं की इस प्रकार एकता कुछ लोग समझने लगे, तब एक नवीन बाधा आकर आलोचना की गति रोकने के लिए उपस्थित हुई। वैज्ञानिको ने सोचा कि

पाश्च्यूर के इन जीवाणुओं का कार्य पदार्थ के विश्लेप के सिवा और कुछ नहीं है। जब ऊख के रस में हम विशेष जीवाणुयुक्त रस डालते हैं तब, चीनी का विश्लेप करके, मद्य (Alcohol) और अङ्गारक वाष्प (Carbonic Acid Gas) उत्पन्न होते हैं। पाकाशय का पेप्सिन नामक रस भी ठीक इसी प्रकार, उदर में स्थित आहार के मांस आदि का विश्लेप करके, अनेक नवीन पदार्थ उत्पन्न करता है। परन्तु जीव-देह में, विश्लेप के साथ-साथ, निरन्तर संयोग का जो कार्य चल रहा है उसकी व्याख्या कहाँ हुई? केवल विश्लेप ही जीवन का कार्य नहीं, जीवन में जोड़-तोड दोनों ही तो हैं। इस कारण, सडना (Fermentation) ही जीवन का कार्य है—इसी बात को मानकर जो लोग आनन्द में मग्न हो गये थे उनको कुछ समय के लिए चुप हो जाना पडा।

किन्तु इससे अनुसन्धान की गति नहीं रुकी। अनेक देशों में अनेक वैज्ञानिक इस बात की परीक्षा करने लगे कि सडने में कोई नवीन वस्तु बनती है कि नहीं। कितने ही पदार्थों में कितने ही रस डालकर परीक्षा होने लगी, परन्तु किसी परीक्षा में भी सङ्गठन नहीं दिखाई दिया। अन्त में एक अँगरेज़ रसायनवेत्ता हिल (Croft Hill) साहब ने एक परीक्षा में ख़मीर के द्वारा साधारण सङ्गठन दिखाकर सब लोगों को चकित कर दिया। श्वेतसार (Starch) में

ख़मीर देने से वह चीनी आदि पदार्थों मे विश्लिष्ट हो जाता है। जब तक श्वेतसार का एक कण भी शेष रहता है तब तक इस परिवर्त्तन का अन्त नहीं होता। श्वेतसार चुक जाने पर इस कार्य का अन्त हो जाता है, परन्तु और श्वेतसार डालने से विश्लेष का कार्य फिर चल पड़ता है। हिल साहब ने एक पात्र में श्वेतसार के साथ ख़मीर (Malt Enzyme) मिलाकर उसका पूर्ण विश्लेष कर दिया, फिर धीरे-धीरे उसमें चीनी डालना आरम्भ किया। तब देखा गया कि चीनी डालने से श्वेतसार का बनना फिर आरम्भ हो गया। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि पाश्च्यूर के सड़ने के कार्य से जैसे पदार्थ का विश्लेष होता है वैसे ही नवीन पदार्थ का सङ्गठन भी होता है।

हिल साहब के इस आविष्कार का प्रचार हुए अधिक दिन नहीं हुए। परन्तु एक ही उदाहरण से वैज्ञानिक सन्तुष्ट नही होते इस कारण अनेक देशों के पण्डितों ने नवीन उदाहरण संग्रह करने के लिए खोज आरम्भ कर दी। इस समय जर्मनी के एक विख्यात रसायनवेत्ता इमरलिङ् (Emmerling) साहब ने एक और उदाहरण देकर सब लोगों को चकित कर दिया। उन्होंने बादाम के तेल मे एक प्रकार का जीवाणु-रस मिलाने पर, उसको चीनी और हाइड्रोसायनिक ऐसिड (Hydrocyanic Acid) नामक एक विष-पदार्थ में विश्लिष्ट

होते देखा था, परन्तु इसके अनन्तर एक और रस (Malt Ferment) मिलाने से ही फिर बादाम का तेल बनने लग गया।

इस आविष्कार के पीछे प्रतिवर्ष जीवाणुओं के रसों के योग से और भी कई नवीन पदार्थों के बनने के समाचार मिलते रहे हैं। आजकल वैज्ञानिकों ने प्रत्यक्ष देख लिया है कि पाश्च्यूर के आविष्कृत तत्त्वो से केवल पदार्थों का विश्लेष ही नहीं होता वरन् यह भी मानना पड़ता है कि जैसे एक जीवाणु के रस से हम लोग श्वेतसार का विश्लेष करके चीनी आदि पदार्थ बना लेते हैं तथा उसमें और कुछ मिलाकर फिर श्वेतसार बना लेते हैं, उसी प्रकार का जोड़-तोड़ प्राणियों के शरीर मे निरन्तर जारी रहता है। देह का कोई रस उदर के भोजन का विश्लेष करके पाकरस बनाता है, तथा कोई दूसरा रस इसमें मिलकर फिर कोई ऐसा पदार्थ बना देता है जो स्थायी रूप से देह का अंश होकर रह जाता है।
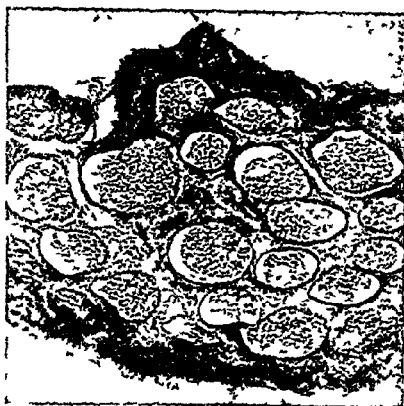
प्राणि-देह के कोष।

इन सब आविष्कारों के द्वारा शरीर-तत्त्व मे फिर प्राणों का सञ्चार हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक इस विषय मे जितनी

आलोचनाएँ करते हैं उनकी वदौलत नित्य नये तत्त्व निकलकर सबको चकित कर देते हैं। आधुनिक शरीर-तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि देह की सुई की नोक भर जगह में करोड़ों जीव-कोष (Cells) अवस्थित हैं। इनमें से प्रत्येक कोष एक-एक बड़ी रसायन-शाला है। एक ही रसायन-शाला में बैठकर जैसे बहुत-से लोग अनेक पदार्थ बनाते हैं उसी प्रकार इनमें से एक-एक कोष के भीतर ही दस-बारह प्रकोष्ठों मे दस-बारह प्रकार के रस (Ferment) बनते हैं। आवश्यकता के अनुसार यही सब रस जोड-तोड़ किया करते और जीवन का कार्य सम्पादन करते हैं। प्राणियो के यकृत् के एक-एक अतीन्द्रिय सूक्ष्म कोष मे जितने रस बनते हैं उनमें से कोई यूरिया (Urea), कोई पित्तरस (Bile) तथा कोई नाना प्रकार के रङ्ग (Pigments) उत्पन्न करता है। कोई-कोई देह के विषैले पदार्थों को उनका विश्लेष करके नष्ट करता है, कुछ पाकाशय में स्थित अन्न से उत्पन्न पाकरस में मिलकर नवीन पदार्थ बनाते हैं। केवल यकृत् ही नहीं, बल्कि प्लीहा (Spleen) मूत्राशय (Bladder) फेफड़े आदि सभी अवयवों में करोड़ों जीवकोष इसी प्रकार कार्य चला रहे हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क तथा स्नायुमण्डल में भी विशेष रस उत्पन्न होकर भीतर के जोड़-तोड़ से जीवन का कार्य चला रहा है। इसलिए हमने प्रबन्ध के आरम्भ मे जो बात कही थी, कि जामन के द्वारा दूध से दही जमाने का

कार्य जीवन के कार्य से अभिन्न है—वह निरर्थक नहीं, यह बात इन सब परीक्षाओं के द्वारा स्पष्ट सिद्ध होती है।

अब यह प्रश्न उठता है कि आजकल वैज्ञानिक लोग देह के जिन रसों को जीवनीशक्ति (Vital Energy) का मूल-कारण बतलाते हैं वे Enzymes या Zymase क्या पदार्थ हैं ? आधुनिक वैज्ञानिक अभी तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते। परन्तु इसका यथार्थ उत्तर जानने के लिए ही आज-कल वैज्ञानिकों की परीक्षा चल रही है। इसी उद्देश्य से न जाने कितने देशों में कितने वैज्ञानिक एकान्त में अनुसन्धान कर रहे हैं। कौन-से शुभ दिन ये लोग सफल होंगे सो नहीं कहा जा सकता। आश्चर्य का विषय यही है कि रासायनिक प्रथा के अनुसार विश्लेष करने से उन Enzymes या Zymases में हाइड्रोजन (Hydrogen), अक्सिजन (Oxygen), नाइट्रोजन (Nitrogen) तथा अङ्गार (Carbon) के सिवा और कुछ नहीं मिलता। ये सब सुपरिचित पदार्थ मिलकर कैसे जीवनी शक्ति का प्रकाश करते हैं, यही विज्ञान की आजकल एक अद्भुत समस्या है। जिस प्रकार रसायनवेत्ता अक्सिजन और हाइड्रोजन को एकत्र कर रसायनशाला में पानी बना लेते हैं उसी प्रकार जिस दिन ये लोग अङ्गार, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि को मिलाकर एक बूँद जीवाणु-रस (Ferment) अथवा एक जीवकोष बना लेंगे वही दिन विज्ञान के लिए अत्यन्त गौरव का होगा।

जीवों की देह की उष्णता

शरीर को गरम रखना जीव का विशेष धर्म है। वृक्षों के शरीर में भी उष्णता होती है, परन्तु प्राणियों के शरीर में यह जैसी स्पष्ट दिखाई देती है वैसी उद्भिज्जों में प्रकट नहीं होती। किसी निर्जीव पदार्थ को किसी स्थान पर रखने से वह उस स्थान की उष्णता को ग्रहण कर लेता है। लोहे के गोले को यदि आँच में डाला जावे तो वह आँच की गरमी को ले लेता है, और बर्फ़ में डुबा देने से वह बर्फ़ ही के समान ठण्डा हो जाता है। निर्जीव पदार्थों की, चारों ओर की हवा तथा मिट्टी के समान ही, गरम रहने की सदा चेष्टा रहती है। परन्तु सजीव पदार्थ उष्णता को ग्रहण करने अथवा त्यागने में इस नियम के अनुसार व्यवहार नहीं करते। भिन्न-भिन्न जाति के प्राणियों में प्रत्येक के शरीर में भिन्न-भिन्न परिमाण की उष्णता सदा बनी रहती है। उस उष्णता को क़ायम रखकर जब तक प्राणी चलता-फिरता रहता है तब तक वह स्वस्थ रहता है। किसी कारण यदि उसकी उष्णता घट-बढ़ जावे तो वह अस्वस्थ जान पड़ता है। स्वस्थ मनुष्य के शरीर की उष्णता फ़ारिन-हाइट तापमानयन्त्र (Fahrenheit Thermometer) के प्रायः साढ़े अट्ठानबे अंश (98·5°) पर स्थित रहती है।

अधिक शीतल अथवा उष्ण स्थान में रहने पर भी स्वस्थ मनुष्य के शरीर की उष्णता न इससे अधिक होती है न इससे कम। यदि मनुष्य के शरीर की उष्णता साढ़े अट्ठानवे से कभी निन्यानवे पर भी पहुंच जावे तो समझना चाहिए कि वह अस्वस्थ है। केवल मनुष्यों के शरीर की उष्णता की मात्रा ही इस प्रकार नियत नहीं है, किन्तु आणुवीक्षणिक (Microscopic) जीवाणुओं से लेकर बड़े-बड़े हाथी, गैंडे आदि तक सब जीवों का दैहिक ताप इसी प्रकार निर्दिष्ट है।

प्राणियों के शरीर की ताप-रक्षा के विषय पर प्राचीन पण्डितों की भी दृष्टि पड़ी थी। जल, स्थल, अथवा आकाश की कोई भी स्थूल घटना विद्वान अरस्तू (Aristotle) की तीक्ष्ण दृष्टि से बच नहीं सकती थी। उस विज्ञान-शून्य समय में प्रत्येक प्राकृतिक घटना की वे एक सहज व्याख्या देने की चेष्टा करते थे। प्राणियों की देह की उष्णता के विषय में उनका कथन है कि लकड़ी जलाने, अथवा लकड़ी से लकड़ी घिसने से जो ताप उत्पन्न होता है उसमें और शारीरिक ताप से कुछ सम्बन्ध नहीं। महाकाश के अविवासी नक्षत्रों में जो अग्नि भास्मान है उसी के दो-एक स्फुलिङ्ग प्राणियों के शरीर में स्थित रहकर यह ताप उत्पन्न करते हैं। महाकाश के नक्षत्रों की विचित्र गति-विधि देखकर ही अरस्तू ने उनको बुद्धिमान् जीव समझ लिया था।

देह-ताप के विषय मे यह प्राचीन बात हुई। इस बात को अब कोई नही मानता। सत्रहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक अक्षिजन का नाम भी नहीं जानते थे। ये लोग लकड़ी, कोयला आदि जलने का कारण यह बतलाते थे कि वायु मे कोई एक जलानेवाला पदार्थ मिला हुआ है, और वही लकड़ी-कोयला आदि पदार्थों को जलाता है। प्राणियों के शरीर की उष्णता के विषय मे भी उनका यही सिद्धान्त था कि जैसे साधारण दाह्य पदार्थों के वायु मे जलने से ताप उत्पन्न होता है वैसे ही वायु मे मिला हुआ अज्ञात दाहक पदार्थ भुक्त वस्तुओं को देह के भीतर ही पकाकर शारीरिक ताप उत्पन्न करता है। प्रीस्टली (Priestley) तथा लावोसियर के द्वारा अक्षिजन (Oxygen) का आविष्कार हो जाने पर सब लोग समझ गये कि वायु का अक्षिजन ही दाह्य पदार्थों के अङ्गार (Carbon) और हाइड्रोजन से मिलकर ताप उत्पन्न करता है; और वही ताप अग्नि की उष्णता का कारण है। अग्नि-ताप की इस व्याख्या से देहताप के कारण का भी निर्णय हो गया। वैज्ञानिक कहने लगे कि साधारण दाह्य वस्तुओं के तत्त्व जैसे वायु के अक्षिजन से मिलकर ताप उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार भुक्त पदार्थों के अङ्गार और हाइड्रोजन भी, अक्षि-जन से मिलकर, शारीरिक ताप उत्पन्न करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले और अक्षिजन के आविष्कार के पीछे शारी-

रिक ताप की उत्पत्ति का यही सिद्धान्त प्रतिष्ठित था, तथा आधुनिक वैज्ञानिक भी जड़ में इसको स्वीकार करते हैं। लावो-सियर का कथन था कि प्राणियों का श्वासयन्त्र ही इस ताप का उत्पत्ति-स्थान है, तथा रक्त के साथ इस ताप का समस्त शरीर में सञ्चार होने के कारण देह गरम बनी रहती है। परन्तु ताप की उत्पत्ति के स्थान के विषय में इस सिद्धान्त को और कोई स्वीकार नहीं करता। मांसपेशियाँ (Muscles) ही इस समय शारीरिक ताप की उत्पत्ति का स्थान मानी जाती हैं, तथा उनमें भी हृत्पिण्ड (Heart), यकृत आदि की पेशियों में जो ताप उत्पन्न होता है वही परिमाण में अधिक माना गया है।

जर्मनी के विद्वान् हेल्महोज़ ने अनेक परीक्षाओं के द्वारा सिद्ध कर दिया है कि शरीर से भिन्न हो जाने पर भी रक्तहीन मांसपेशी ताप उत्पन्न करती रहती है। मेढक के शरीर से सम्पूर्ण रक्त निकाल देने पर भी, शिराओं और उपशिराओं में लवणयुक्त जल चलाने से, देह की गर्मी कम नहीं होती। स्वस्थ दशा में श्वासप्रश्वास के साथ जितनी अङ्गारक वाष्प बाहर निकलती है उतनी ही इस दशा में भी निकलती रहती है। रक्त के साथ देह की उष्णता का कोई सम्बन्ध नहीं, यह बात इस परीक्षा के द्वारा भली भाँति सिद्ध होती है।

देह की उष्णता के भेद से प्राणियों के उष्ण-शोणित (Ho-moiothermic) और शीतल-शोणित (Poikilothermic)

ये दो विभाग किये गये हैं। इनका विशेष परिचय देना निष्प्रयोजन है। जो प्राणी चारों ओर की उष्णता के अनुसार देह की उष्णता को बदल सकते हैं वे शीतल-शोणित कहलाते हैं, जैसे सर्प, सरीसृप, मेंढक, पतङ्ग आदि। स्तन-पायी प्राणी अथवा पक्षी बहुत सर्दी अथवा गरमी पड़ने पर भी देह की उष्णता को निर्दिष्ट सीमा से ऊपर-नीचे नहीं होने देते, इसलिए वे उष्ण-शोणित कहलाते हैं। केवल देह की उष्णता के भेद से प्राणियों के ये श्रेणी-विभाग प्रचलित होने पर भी जीवतत्त्ववेत्ता आजकल इस विभाग को विज्ञानसम्मत नहीं मानते। मधु-मक्खी पतङ्गों की श्रेणी में गिनी जाती है इस कारण, उत्ताप की परीक्षा करने से, इनको शीतल-शोणित श्रेणी में रखना चाहिए। परन्तु घोर शीत के समय भी उनके छत्ते के भीतर की उष्णता बाहर की उष्णता से प्रायः सत्तर डिग्री अधिक पाई गई है। मेंढक या मछली को कुछ गरम पानी में छोड़ देने से उनके शरीर की उष्णता थोड़े ही समय मे पानी के समान ही हो जाती है। मेंढक, साँप आदि शीतकाल मे जैसे मृतवत सो जाते हैं उसी प्रकार शीतप्रधान देशों के अनेक स्तनपायी जीव दीर्घकाल तक शिशिर-सुप्ति (Hibernation) में पडे रहते हैं। उष्ण-शोणित प्राणी होने पर भी इनके शरीर की उष्णता स्पष्ट रीति से कम होकर वायु की उष्णता के समान ही हो जाती है। इसके

सिवा मानवशिशु और पक्षि-शावक आदि भी शीतल-शोणित प्राणियों के समान ही अपने शरीर के ताप को न्यूनाधिक कर लेते हैं, इस बात के भी अनेक प्रमाण पाये गये हैं। इस कारण स्पष्ट सीमा बाँधकर प्राणियों के शीतल-शोणित और उष्ण-शोणित ये दो विभाग नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा करने से आपत्ति में फँसना पड़ता है।

अब यह विचार करना है कि प्राणियों के शरीर मे ताप कैसे उत्पन्न होता है। इस विषय की मीमांसा करते समय वैज्ञानिकों ने शरीर को एक यन्त्र की उपमा दी है। लकड़ी अथवा कोयले मे जो शक्ति लुप्त अवस्था (Latent) मे रहती है, वाष्पयन्त्र (Steam Engine) की भट्ठी में जलाने से वही जाग्रत तापशक्ति होकर कलों को चलाती है। प्राणियो के भीतर जलती हुई भुक्त वस्तु की सुप्त शक्ति भी ठीक उसी प्रकार प्रकट होकर, देह को गरम रखकर, तथा शरीर की पेशियों को चलाकर, उदाहृत कोयले की शक्ति के समान ही अपना परिचय देने लगती है। वाष्पयन्त्र और देहयन्त्र के आकार-प्रकार तथा रचना के द्रव्य भिन्न-भिन्न होने पर भी वैज्ञानिकों की दृष्टि मे दोनों ही यन्त्र हैं।

हमारे रुपये-पैसे के आय-व्यय के हिसाब में कभी-कभी जमा के अङ्क की अपेक्षा व्यय कम रह जाता है, परन्तु प्रकृति के आय-व्यय में व्यर्थ कुछ नहीं बचता। जिस शक्ति से

हिसाब का आरम्भ किया जाता है, व्यय के खाते में उससे कुछ भेद नहीं पड़ता। जितनी शक्ति कोयले में लुप्त रहती है, जलाने के समय उतनी ही ताप आदि के रूप में प्रकट होती है। सुप्त और जाग्रत शक्ति के आय-व्यय में कुछ भेद नहीं पड़ता। यदि किसी छोटे जीव को ताप नापनेवाले यन्त्र (Calorimeter) के भीतर बन्द करके यह देखा जावे कि वह एक घण्टे में कितना ताप उत्पन्न करता है तो हिसाब करने से विदित हो जावेगा कि वह परीक्षा-काल में जितना अन्न पचाता है उतना ही ताप भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार, अनुभव होता है कि लकड़ी या कोयले को कल में डालकर जलाने में और अन्न को पेट में पचाने में कोई भेद नहीं। जैसे, दाह्य वस्तु में जितनी शक्ति सुप्त अवस्था में स्थित है उसकी अपेक्षा कण भर भी अधिक जलाने से प्रकट नहीं हो सकती, वैसे ही भुक्त द्रव्य का जो अंश परिपाक द्वारा पच गया है, उसकी अन्तर्निहित शक्ति से एक कण भर भी अधिक प्रकट नहीं हो सकती। कोयले का जलाना और आहार को पचाना इन दोनों क्रियाओं में केवल इतना भेद है कि जलाने में दाह्य वस्तु की लीन शक्ति थोड़ी ही देर में प्रत्यक्ष हो जाती है, और अन्न के पचने में वही शक्ति अधिक समय में आविर्भूत होती है। इसी कारण, जलाते समय, सम्पूर्ण शक्ति के थोड़े ही समय में सञ्चित हो जाने से ताप की मात्रा अधिक देखते हैं, तथा

जठराग्नि के द्वारा भुक्त द्रव्य के धीरे-धीरे दग्ध होने से ताप का परिमाण थोड़ा दिखाई पड़ता है। यदि भुक्त द्रव्य को पचाने की कल भी वाष्पयन्त्र की भट्ठी के समान ही बनती तो अन्न पेट मे पचकर, लकड़ी-कोयले के समान थोड़ो ही देर मे दग्ध होकर, भयानक ताप उत्पन्न करता। उस समय मनुष्य, गाय, घोड़ा, बकरी आदि प्रत्येक प्राणी एक ऐसा विकट जीव बन जाता कि अन्न पचने के समय उसके पास खड़ा होना कठिन हो जाता।

वाष्पयन्त्र को २४ घण्टे तक निरन्तर चलाने से, हिसाब लगाया जा सकता है कि कोयला जलाने से कितना ताप उत्पन्न होता है। भुक्त द्रव्य का भी, अक्सिजन आदि के संयोग से पचने के समय, जो दहन आरम्भ होता है उससे उत्पन्न ताप के परिमाण का निर्णय करना कुछ कठिन नहीं। एक सेर पानी को एक अंश सेण्टिग्रेड (Centigrade) गरम करने मे कुछ थोड़ा ताप व्यय नहीं होता। हिसाब करने से ज्ञात होता है कि स्वस्थ मनुष्य, २४ घण्टों मे, शरीर में जितना ताप उत्पन्न करता है उससे ३००० सेर (पचहत्तर मन) पानी सहज ही मे एक सेण्टिग्रेड गरम हो सकता है, अथवा बर्फ़ के समान ठण्ढा ३ सेर पानी उबल सकता है। किसी कारण से यदि देह की सम्पूर्ण उष्णता का परिमाण इसकी अपेक्षा कम अथवा अधिक हो जावे तो इसके द्वारा शरीर का कार्य चलाना कठिन हो जाता है। उस समय देह-यन्त्र भी

मालगाड़ी के वाष्पयन्त्र (Steam Engine) के समान किसी प्रकार केवल चला-फिरा करता है।

कल की भट्ठी में जितना अच्छा कोयला जलाया जाता है उतना ही अच्छा कार्य होता है। वही कोयला अच्छा गिना जाता है जो सब जल जाता है और जिसकी थोड़ी-सी ही राख बचती है। पत्थर, मिट्टी आदि का संयोग जिसमें अधिक होता है वह कोयला जलते समय, थोड़ी-सी आँच पैदा करके, राख का ढेर बन जाता है। एक मन घटिया कोयले से जितना काम निकलता है उतना ही काम आधे मन बढ़िया कोयले से निकल जाता है। देह की कल मे ताप उत्पन्न करने के लिए जो हम अन्नरूप ईंधन व्यवहार करते हैं वह भी अच्छा और बुरा होता है। आध सेर चावलों के दहन से देहयन्त्र के भीतर जो ताप उत्पन्न होता है उसकी अपेक्षा आधी छटाँक अच्छे भोजन से बहुत अधिक ताप उत्पन्न किया जा सकता है। किस अन्न के पचाने से कितना ताप उत्पन्न होता है, इसका हिसाब करना कठिन नहीं है। इसी प्रकार गणना करने से जाना गया है कि पन्द्रह ग्रेन (Grain) मांस पचने से जो ताप निकलता है उसके द्वारा कोई दो सेर पानी एक अंश सेण्टिग्रेड गरम हो जा सकता है, परन्तु ठीक उतना ही घी अथवा चर्बी के पचने से उससे दूने से भी अधिक गरमी निकलती है। इस प्रकार हमारे प्रधान भोज्य-द्रव्यों की एक

ऐसी तालिका बनाई जा सकती है जिससे कि अच्छे गृहस्थ अपने स्वास्थ्य पर भी दृष्टि रख सकते हैं।

किस खाद्य पदार्थ से कितनी उष्णता निकलती है, इसका मोटा हिसाब ठीक होने पर भी सूक्ष्म गणना मे बहुत मत-भेद है। जगद्विख्यात जीवतत्त्ववेत्ता लीबिग (Liebig) साहब ने हम लोगों के साधारण खाद्य-पदार्थों के दो विभाग किये हैं,—मांसवर्द्धक और तापवर्द्धक। इसी विभाग के अनुसार आमिष भोजन मांसवर्द्धक, तथा श्वेतसार (Starch), चीनी, घी, तेल आदि स्निग्ध पदार्थ तापवर्द्धक माने जाते हैं। लीबिग साहब के इस सिद्धान्त को आधुनिक वैज्ञानिक नहीं मानते कि आमिष केवल मांसवर्द्धक है। इन लोगों के मत में आमिष का कोई भाग व्यर्थ नही जाता। इसमे जो नाइट्रोजन का भाग है उसके द्वारा देह का क्षय पूर्ण होता है, तथा जो अंश नाइट्रोजन-वर्जित रहता है उससे ताप बनता है।

हमारे शरीर मे नियत रूप से जो ताप बनता रहता है उसका कितना भाग, किस प्रकार, देह से निकलता है इसकी भी स्थूल रूप से गणना की गई है। इस गणना के द्वारा देखा गया है कि समस्त ताप का ०·७३ (तिहत्तर शतांश) भाग देह से निकलकर चारों ओर की हवा को गरम करता है, तथा ०·२२ भाग श्वास-यन्त्र तथा चमड़े के जल-युक्त अंश को वाष्प बनाता है। शेष जो ०.०५ भाग (सौ मे पाँच

भाग) बचा, वही प्रश्वास की हवा तथा मल-मूत्रादि की उष्णता के साथ निकल जाता है। कम्बल अथवा और कोई ऊनी कपड़ा पहनने से उष्णता का अनुभव होता है उससे शारीरिक ताप अच्छी तरह जाना जाता है। ऊनी कपड़े ताप के परिचालक नहीं हैं, इस कारण इस प्रकार शरीर को ढककर रखने से, पूर्वोक्त १०० में से ७३ भाग देह से निकलकर दूर नहीं जा सकते, शरीर के चारों ओर की हवा में ही स्थित रहते हैं; इसी कारण ऊनी कपड़े गरम कहलाते हैं।

सभ्य मनुष्य शिल्पविद्या में इतने निपुण होने पर भी आज तक प्रकृति के समान कुशल नहीं हो सके। प्राणी की देह निरा यन्त्र ही नहीं है; ऐसा सर्वाङ्ग-सुन्दर यन्त्र यूरोप अथवा अमेरिका के किसी यन्त्रालय में नहीं। आजकल जिन वाष्प-यन्त्रों को हम बहुत अच्छा समझते हैं उनमें कोयला जलाने से उसकी शक्ति के सौ में बारह भाग ही चक्र आदि घुमाने के काम आते हैं, शेष ८८ भाग ताप आदि के रूप में नष्ट हो जाते हैं। यह अपचय कुछ कम नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति के निर्मित यन्त्र में अपव्यय नहीं होता, परन्तु वाष्प-यन्त्र के अपचय की अपेक्षा वह बहुत ही कम होता है। हिसाब करके देखा गया है कि भुक्त-द्रव्यों से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसके सौ में पच्चीस भाग प्रकृति के कार्य में लग जाते हैं, शेष ७५ भाग ही देह को गरम रखने में व्यय

होते हैं। परन्तु इस उष्णता को किसी प्रकार अनावश्यक नहीं कह सकते। देह की सामग्री (Protoplasm) से काम चलाने के लिए उसे गरम रखना आवश्यक है, इस कारण देह की शक्ति के सौ मे ७५ भाग उष्णता बन जाते हैं। यह किसी प्रकार अपचय नहीं कहा जा सकता। परन्तु वाष्प-यन्त्र के १०० में ८८ भाग सचमुच ही अपचित होते हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि शारीरिक उष्णता को निर्दिष्ट रखना एक जाति के प्राणियों का प्रधान गुण है। मनुष्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। बहुत गरमी मे भी मनुष्य की देह की उष्णता उसी साढे अट्ठानवे अंशो से अधिक नहीं होती। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस बात का पता लगाया है कि शरीर की उष्णता चिरकाल तक एक ही नियत सीमा के भीतर कैसे रहती है। इस विषय मे इन लोगो का कथन है कि उन्नत प्राणियों के शरीर मे जो स्नायुमण्डली (Nervous System) है वही देह की उष्णता को स्थिर रखती है। अब यदि मान लिया जावे कि किसी स्तन-पायी जीव अथवा मनुष्य को गली हुई बर्फ़ के पानी मे डुबाकर उसके शरीर की उष्णता कम कर दी जावे तो थोड़ी देर के लिए उसके शरीर की उष्णता अवश्य ही कम हो जावेगी, परन्तु अन्त में देख पड़ेगा कि बर्फ़ का पानी भी स्थायी रूप से देह की उष्णता को कम नहीं कर सकता। पानी जितनी उष्णता कम कर देता है उतनी

हो कहीं से बनकर उस घाटे को पूर्ण कर देती है। आधुनिक वैज्ञानिक इस अद्भुत व्यापार के विषय में कहते हैं कि शरीर की उष्णता कम होते ही सब अङ्गों से उष्णता के निकल जाने का संवाद, सञ्चित होकर, स्नायुकेन्द्र में पहुँचता है। इस दुःसंवाद को सुनकर स्नायुकेन्द्र अधिक निश्चिन्त नहीं रह सकता। वह सम्पूर्ण शरीर की पेशियों को, संकुचित होकर, ताप उत्पन्न करने की प्रेरणा करता है। स्नायु की आज्ञा को कोई अङ्ग टाल नहीं सकता। इस कारण स्नायविक उत्तेजना से पेशियाँ सिकुड़कर उष्णता का निर्माण करती हैं, तथा यही उष्णता क्षति-पूर्त्ति के लिए पर्याप्त होती है। अधिक शीत मे देह में जो कम्प होता है वह स्नायविक उत्तेजना से पेशियों के सङ्कोच के सिवा और कुछ नहीं है।

आय-व्यय के खाते में कभी-कभी जब आय की वृद्धि दिखाई पड़ती है तब गणितज्ञ लोग इस सञ्चय-वृद्धि के दो कारण बतलाते हैं। व्यय में कुछ परिवर्तन न करके आय मे कुछ वृद्धि करने से सञ्चय की वृद्धि होती है, अथवा व्यय को कम करने से भी सञ्चय बढ़ जाता है। नाना प्रकार के रोगों मे हमारे शरीर की उष्णता की जो वृद्धि दिखाई देती है उसमें व्यय की न्यूनता तथा आय की वृद्धि दोनों ही कार्य चलते हैं। तन्दुरुस्त मनुष्य के शरीर की उष्णता प्रायः साढ़े अट्ठानवे डिग्री ही रहती है, परन्तु ज्वर होने से वह बढ़कर

कभी-कभी एक सौ छः अथवा सात तक हो जाती है। शरीर-तत्त्व-वेत्ता बहुत प्रयत्न करने पर भी यह संशय-रहित निर्णय नहीं कर सके हैं कि सचमुच ताप का बढ़ना ही उष्णता की इस वृद्धि का कारण है अथवा अस्वस्थ मनुष्य के शरीर से ताप के न निकलने से किसी प्रकार स्वाभाविक उष्णता ही सञ्चित होकर बढ़ी हुई देख पड़ती है। प्रसिद्ध अँगरेज़ शरीर-तत्त्व-वेत्ता डाक्टर हेलह्वाइट (Dr. Hale White) ने इस विषय मे जो सिद्धान्त हाल में उपस्थित किया है वही इस समय ठीक जान पड़ता है। इनकी राय है कि न्यूमोनिया (Pneumonia—अर्थात् श्वासयन्त्र के प्रदाह) तथा इरिसिपेलस (Erysipelas—अर्थात् दाहज्वर) आदि रोगों मे जो देह की उष्णता बढ़ जाती है उसका कारण सचमुच ताप का अधिक उत्पन्न होना है। इस दशा मे ताप उत्पन्न अधिक होता है, परन्तु व्यय पहले ही के समान होता है, इस कारण शरीर पहले की अपेक्षा गरम हो जाता है। परन्तु शरीर के किसी अंश मे ताप का सञ्चय होने से जो उष्णता की वृद्धि होती है उसका कारण ठीक इससे विपरीत होता है, अर्थात् इस अवस्था मे ताप की उत्पत्ति पहले ही के समान रहती है, परन्तु उसका निर्गमन कम होने के कारण उष्णता की मात्रा बढ़ जाती है।

मलेरिया आदि ज्वर में जो शारीरिक ताप अचानक बढ़ जाता है उसका कारण कुछ भिन्न है। बाहर से किसी प्रकार के आघात

की उत्तेजना होते ही जीव के शरीर का आहत अंश सहज ही में उत्तेजित हो जाता है; परन्तु मृत अथवा निर्जीव पदार्थों में आघात देने से वह इस प्रकार प्रतिघात नहीं करता। सजीव पदार्थों के इस प्रकार प्रतिघातके कार्य मे एक रहस्य है। वैज्ञानिकों ने देखा है कि आघात से उत्तेजित होकर प्रतिघात करना जीव का प्रधान गुण है, इसी प्रकार आहत अंश आघात की हानि से बचता है। इस कारण जब रोगी के शरीर मे मलेरिया के करोड़ों जीवाणु घुसकर शरीर के कोषो मे आघात पहुँचाते हैं तब वे आहत कोष चुपचाप नही रह सकते, क्योंकि वे अपनी रक्षा के लिए चञ्चल और उत्तेजित होकर प्रतिक्रिया आरम्भ कर देते हैं। यही शरीर की उष्णता बढ़ जाने का कारण है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि साधारण ज्वर मे देह की जो उष्णता बढ़ जाती है वह व्याधि का हेतु नहीं, प्रत्युत व्याधि की शान्ति का एक उपाय है। कुछ दिन पहले चिकित्सक अनेक औषधियों के द्वारा ज्वर के ताप को कम करने की चेष्टा करते थे, परन्तु आजकल इस चिकित्सा-पद्धति का प्रचार देखने मे नहीं आता। आजकल उन औषधियों का आदर बढ़ रहा है जो साधारण ज्वर के जीवाणुओ का नाश करके उत्तेजना के मूल-कारण को नष्ट करती हैं। कुनैन (Quinine) ज्वर के ताप को कम नहीं करती, वह तो उन जीवाणुओं को नष्ट करती है जो देह मे पैठ करके ताप उत्पन्न करते हैं; यही इसके आदर का हेतु है।

यद्यपि यह सच है कि ज्वर मे जो ताप बढ़ जाता है वह देह की रक्षा के लिए ही है, तथापि यह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि अधिक ताप स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नहीं। परीक्षा करके देखा गया है कि मनुष्य के शरीर की उष्णता यदि किसी प्रकार थोड़ी देर तक भी १०८° अंश पर ठहर जावे तो मस्तिष्क सदा के लिए विकृत हो जाता है। इस दशा मे मृत्यु निश्चित है। और यदि उष्णता बढ़कर क्षण-भर के लिए भी ११६° अंश पर पहुँच जावे तब तो किसी प्रकार निस्तार नहीं हो सकता। लू (Sun-stroke) की पीड़ा भी मस्तिष्क के विकार का ही फल है। परन्तु यदि किसी कारण देह की उष्णता बहुत देर तक साढे अट्ठानवे से नीचे बनी रहे, तो भी प्राण बचना कठिन है। अधिक शीत, देह के सब अङ्गो को धीरे-धीरे निर्जीव कर देती है। इसी कारण, यदि शरीर की उष्णता कुछ काल तक अस्सी अंश से नीचे बनी रहे तो मनुष्य की मृत्यु प्राय: अनिवार्य हो जाती है।

प्रकाश और वर्ण (रङ्ग)-ज्ञान

आज तक कोई भी इस बात का ठीक पता नहीं लगा सका कि अक्षि-जवनिका (Retina) मे फैली हुई दृष्टि-नाड़ी (Optic Nerve) पर, बाहर का प्रकाश पड़ने से, मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है कि जिससे दृष्टिज्ञान उत्पन्न होता है। कितना ही जटिल और गूढ़ विषय क्यों न हो, आजकल किसी विषय पर व्याख्यान का अभाव नहीं है। शारीरतत्त्व के ग्रन्थों में आजकल इस विषय पर अनेक व्यर्थ बातें लिखी गई हैं। इस कारण, केवल पुस्तक को पढ़कर ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को बहुत समझ-बूझ से काम लेना पड़ता है।

प्रसिद्ध शरीरतत्त्ववेत्ता हैलिबर्टन (Halliburton) साहब ने अपने विख्यात ग्रन्थ मे एक स्थान पर लिखा है कि अक्षि-जवनिका के ऊपर प्रकाश पड़ने से जो विकार उत्पन्न होता है, सम्भव है, वह केवल रासायनिक परिवर्तन हो। जवनिका में जो जीवसामग्री (Protoplasm) स्थित है उसके ऊपर प्रकाश के पड़ने से रासायनिक विकार का आरम्भ होता है, तथा यह परिवर्तन ही दृष्टि-नाड़ी को उत्तेजित करने लगता है। परन्तु हैलिबर्टन साहब इस विषय में कुछ नहीं लिखते कि

इसके आगे यह उत्तेजना मस्तिष्क में पहुँचकर किस प्रकार दृष्टिज्ञान उत्पन्न करती है। यह विषय इतना गूढ़ है कि इस पर निश्चय-पूर्वक कोई मत प्रकट करना सचमुच असम्भव है।

अब इस बात को मानना ही पड़ता है कि विशेष पदार्थ के ऊपर प्रकाश पड़ने से उसमें अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। सैकड़ों परीक्षाओं के द्वारा प्रकाश की रासायनिक क्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव किया गया है। क्लोरीन (Chlorine) तथा हाइड्रोजन (Hydrogen) को एक काच के पात्र में मिलाकर अँधेरे में रख देने से दोनों प्रकार के वायु केवल मिले हुए रहते हैं, परन्तु इस अवस्था में उनमें कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं देखा जाता। हाँ, इस पात्र को थोड़ी देर धूप में रख दिया जाय तो प्रकाश के स्पर्श से, हाइड्रोजन और क्लोरीन के योग से हाइड्रोक्लोरिक एसिड (Hydrochloric Acid) बन जाता है। फ़ोटोग्राफ़ (Photograph) के काच के ऊपर के प्रलेप का, प्रकाश के पड़ने से ही काला हो जाना, प्रकाश के रासायनिक कार्य का अच्छा उदाहरण है। वृक्षों के पत्तों में जो हरे रङ्ग के अणु वर्त्तमान हैं वे वायु के अङ्गारक वाष्प का विश्लेष करके अङ्गार (Carbon) उत्पन्न करते हैं, तथा उसी को ग्रहण करने से उद्भिज्ज के शरीर की पुष्टि होती है। परीक्षा करके देखा गया है कि सूर्य के प्रकाश से ही उद्भिज्जों के हरे अणुओं में क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है। इस

कारण, मानना पड़ता है कि अक्षिजवनिका के ऊपर आलोक के पड़ने से उसके द्वारा जीव-सामग्री मे रासायनिक परिवर्तन होने की सम्भावना अधिक है।

पाठक जानते होंगे कि अक्षिजवनिका के कोपो में प्राय: एक प्रकार का रङ्गीन पदार्थ भरा ही रहता है, तथा कुछ दण्ड और मोचक (Rods and Cones) नाम के अति सूक्ष्म पदार्थ इसके सब अंशों मे वर्त्तमान पाये जाते हैं। परीक्षा करके देखा गया है कि प्रकाश के पड़ने से ही कोपों में स्थित वर्णकणिकाएँ चञ्चल हो जाती हैं तथा साथ ही साथ मोचकों

मनुष्य की अक्षिजवनिका मे दण्ड और मोचको के कोप।

की सामग्री भी संकुचित होने लगती है। मेढक आदि प्राणियों की अक्षिजवनिका में जो दण्डाकृति पदार्थ हैं उनमें प्राय: एक
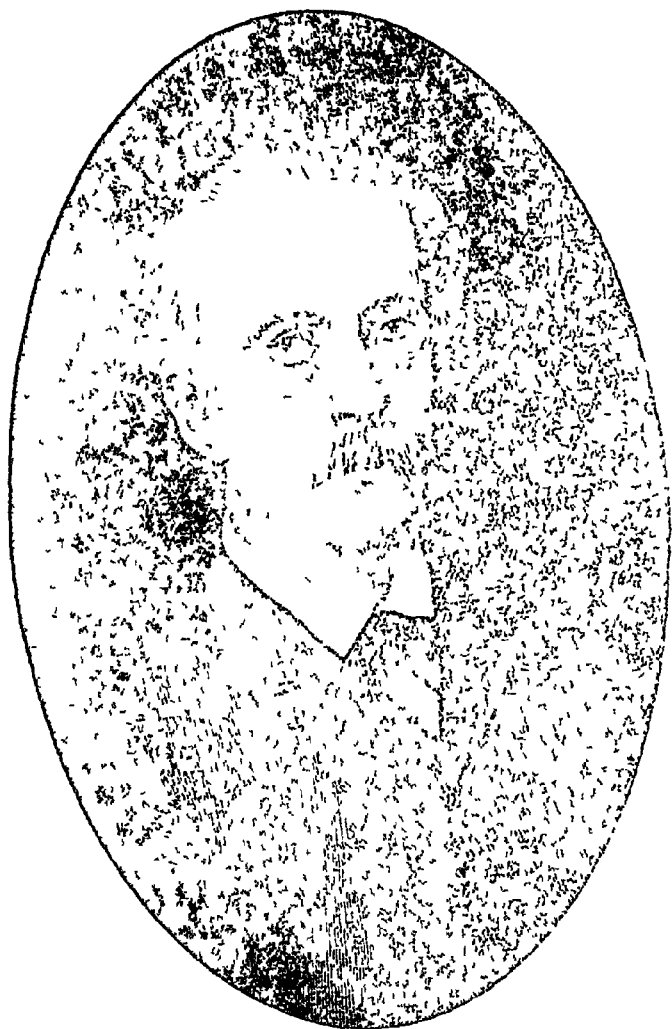
जर्मन विद्वान् हेल्महोज़।

प्रकार का वर्णरस (Visual Purple) भरा रहता है। परीक्षा करके देखा गया है कि अँधेरे में इस रस में कोई विकार नहीं होता, परन्तु प्रकाश पड़ते ही वह अपने आप लुप्त हो जाता है। इस कारण इस विषय में अब मत-भेद नहीं हो सकता कि आँख के भीतर प्रकाश के प्रवेश करते ही सचमुच रासायनिक क्रिया आरम्भ हो जाती है।

अक्षिजवनिका में फैले हुए दण्ड और मोचकों के कोषों के ऊपर प्रकाश की पूर्वोक्त रासायनिक क्रिया को देखकर वैज्ञानिकों के मन में यह धारणा उत्पन्न हुई कि वर्ण-ज्ञान की उत्पत्ति के साथ अवश्य ही इसका कोई घना सम्बन्ध है, तथा इसी अनुमान के आधार पर वर्णज्ञान के विषय मे हेरिङ् और हेल्महोज़ साहबों ने दो भिन्न सिद्धान्त खड़े किये हैं।

हेरिङ् साहब कहते हैं कि जैसे मेंढकों की अक्षिजवनिका के कोषों में एक प्रकार का वर्णरस देखा जाता है, सम्भवतः मनुष्य की अक्षिजवनिका में उसी प्रकार के त्रिविध वर्णरस वर्त्तमान हैं, तथा प्रत्येक रस का एक-एक विशेष गुण है। लाल और हरा, पीला और नीला, सफ़ेद और काला, इन तीन रङ्गों के प्रकाश के जोड़े तीनों वर्णरसों में भिन्न-भिन्न वर्त्तमान हैं, अर्थात् जिस वर्णरस के ऊपर लाल और हरे रङ्ग के प्रकाश का प्रभाव पड़ता है उसमें पीले-नीले अथवा सफ़ेद-स्याह प्रकाश के द्वारा कोई विकार नहीं उत्पन्न होता।

लाल-हरे आदि रङ्गो के जिन तीन जोड़ों का उल्लेख किया गया है उनमें प्रत्येक जोड़े के दो-दो वर्ण परस्पर-विरोधी हैं। अर्थात् लाल-हरे के जोड़े में लाल रङ्ग में हरे का कोई अंश नहीं है, तथा इन दोनों वर्णों के परस्पर-विरोधी होने के कारण इनके मेल से और कोई वर्ण उत्पन्न नहीं होता। सफ़ेद और काला, नीला और पीला—इन दो-दो वर्णों में भी ठीक यही सम्बन्ध वर्त्तमान है। हेरिङ् साहब का कथन है कि इन तीन युगल वर्णों में से जब कोई वर्ण उपर्युक्त वर्णरस के ऊपर पड़ता है तब अवस्था-विशेष से, उस वर्ण के प्रकाश के प्रभाव से, उस वर्णरस की सामग्री का क्षय अथवा वृद्धि होने लगती है, तथा इस क्षय-वृद्धि के द्वारा एक ही वर्णरस की सहायता से दो-दो रङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं। परीक्षा करके देखा गया है कि अक्षि-जवनिका के तीन प्रकार के वर्णरसों में से जो केवल लाल-हरे रङ्ग के पड़ने से विकार को प्राप्त होता है उसके ऊपर प्रकाश के पड़ने से यदि उस पदार्थ का परिमाण बढ़ जावे, तो देखनेवाले को केवल लाल रङ्ग ही दिखाई पड़ेगा; परन्तु यदि किसी दूसरे प्रकार के प्रकाश से उसी पदार्थ का क्षय होना आरम्भ हो जावे, तो देखनेवाले को हरा रङ्ग दिखाई पड़ेगा।

अब देखना चाहिए कि हेलमहोज़ साहब इस विषय में क्या कहते हैं। तीन जोड़े अर्थात् छः प्रकार के मूल-रङ्गों को मान-कर तथा अक्षिजवनिका के वर्णरसों के तीन भिन्न-भिन्न धर्म

स्वीकार करके हेरिङ् साहब ने वर्णज्ञान का पूर्वोक्त सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया था। हेल्महोज़ साहब ने पहले ही से इस प्रकार के छः मूल-वर्णों के होने मे विशेष सन्देह प्रकट किया था। इनके मत से लाल, हरा, और बैजनी—इन तीन रङ्गो को छोड़कर और कोई वर्ण हम आंख से नहीं देख सकते। इनके सिवा और जो सैकड़ों रङ्ग हमको दिखाई पड़ते हैं वे इन्हीं तीन रङ्गो के विचित्र संयोग से उत्पन्न होते हैं। हेरिङ् साहब के सिद्धान्त और हेल्महोज़ साहब के मतवाद में केवल यही एक भेद नहीं। हेल्महोज़ साहब और भी कहते हैं—दृष्टिनाड़ी के गुच्छे के अन्त मे जो दण्ड और मोचको के कोष दिखाई पड़ते हैं, प्रकाश के द्वारा उन्हीं के उत्तेजित होने पर आँखो से रङ्ग दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि इन दण्डो और मोचकों के आकार में परस्पर कोई भेद नहीं दिखाई पडता, परन्तु ये वस्तुतः तीन प्रकार के भिन्न पदार्थ हैं। लाल, हरे, और बैजनी—इन तीन मूल-वर्णों का प्रकाश इन तीन प्रकार के कोषों पर एक साथ ही प्रभाव नहीं डालता; एक ही एक रङ्ग का प्रकाश इन तीन जाति के कोषो मे से एक-एक को अलग-अलग उत्तेजित करता है, और उस उत्तेजना के—दृष्टिनाड़ी के द्वारा—मस्तिष्क में पहुँचने पर वर्ण-ज्ञान उत्पन्न होता है। इस कारण जिस प्रकाश के द्वारा लाल रङ्गवाले कोष उत्तेजित होते हैं उस प्रकाश को हम लाल रङ्ग का ही देखते हैं। शेष

दोनों जातियों के कोषो पर इस प्रकाश का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता।

हमारी आखों से लाल, हरा, और बैजनी—केवल यही तीन मुख्य रङ्ग नही दिखाई पड़ते, वरन् सैकड़ों प्रकार का प्रकाश आँखों मे पड़कर सर्वदा सैकड़ों विचित्र रङ्ग उत्पन्न करता है। इस विषय में हेलमहोज़ साहब का कथन है कि यदि मिला हुआ प्रकाश, अक्षिजवनिका के ऊपर पड़-कर, पूर्वोक्त तीन जातियों के कोषों को एक साथ ही भिन्न परिमाण मे उत्तेजित करे तो लाल, हरा, और बैजनी इन तीन मुख्य-वर्णों के मेल का अनुभव होगा। इस कारण तीन ही मूल-रङ्ग होने पर भी हम, इस प्रकार, अनेक वर्णों से रञ्जित प्रकाश को देख सकते हैं।

इस प्रकार देखा जाता है कि हेलमहोज़ साहब के मत से इन दण्डों और मोचकों के तीन प्रकार के कोषो की विचित्र उत्तेजना ही रङ्ग-भेद का मूल-कारण है। यदि किसी प्रकार के आलोक से केवल एक ही जाति के कोष उत्तेजित हो तो उन कोषों की जाति के अनुसार हमको लाल, हरा, अथवा बैजनी इनमे से एक ही रङ्ग दिखाई पड़ेगा।

पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्तों में से आजकल वैज्ञानिक हेलमहोज़ साहब के कथन ही को अधिक मानते हैं। हज़ारों रङ्गों मे से लाल, हरे, और बैजनी रङ्ग को ही इन्होंने किस कारण से मूल-

वर्ण माना, इस विषय की विशेष आलोचना इस छोटे से प्रबन्ध मे उपयोगी नही। आँख के ऊपर अनेक प्रकार के कौशल से नाना प्रकार के रङ्गों का प्रकाश डालकर हेल्महोज़ साहब ने केवल लाल, हरे, और बैजनी वर्णों को ही क्षीण होते दिखा दिया है। इसी प्रकार और भी अनेक परीक्षाओं की सहायता से यह बिलकुल सिद्ध कर दिया गया है कि ये तीन रङ्ग ही मूल-वर्ण हैं। हेरिङ् साहब की तरह केवल कल्पना ही के आधार पर हेल्महोज़ साहब ने कोई कथन नहीं किया। जो कुछ उन्होंने कहा है उसको प्रमाणों के द्वारा सिद्ध भी कर दिया है। जान पड़ता है, इसी कारण हेल्महोज़ साहब के सिद्धान्त का आजकल इतना आदर हो रहा है।

घ्राणतत्त्व

वर्त्तमान प्रबन्ध में हम इस विषय की आलोचना करेंगे कि गन्ध देनेवाला पदार्थ किस अवस्था मे नासिका के भीतर पहुँचकर गन्ध उत्पन्न करता है, परन्तु यह हमारा आलोच्य विषय नहीं है कि हम लोग घ्राणेन्द्रिय के द्वारा कैसे गन्ध का अनुभव करते हैं।

किसी शरीरतत्त्ववेत्ता से घ्राण की संज्ञा पूछने पर यह उत्तर मिलेगा कि किसी वस्तु से निकलकर हमारी नाक के भीतर घ्राणोत्तेजक स्नायु (Olfactory Nerve) को जो पदार्थ उत्ते-जित करता है वही घ्राण है। परन्तु गन्ध की यह परिभाषा निर्दोष नहीं है। इस संज्ञा से यह नहीं जाना जाता कि गन्ध-युक्त पदार्थ मे से जो अंश निकलकर नाक के विवर मे जाते हैं वे किस अवस्था मे होते हैं। नाक के पास चन्दन रखने से उसकी मृदु गन्ध का अनुभव होता है। परन्तु इस परिभाषा से यह नही ज्ञात होता कि इस समय चन्दन वायवीय अथवा तरल अवस्था में नाक मे प्रवेश करता है, अथवा कठिन अवस्था मे रहकर ही धूलि के कणों के समान नाक में घुस जाता है।

जड़-विज्ञान का कार्य पदार्थों की अनेक अवस्थाओं के अनेक गुणों की आलोचना करना है। इस कारण घ्राणतत्त्व की आलोचना करते समय गन्ध के विषय मे वैज्ञानिक ऐसा

मूक उत्तर नहीं दे सकते। इस विषय मे उनको स्पष्ट उत्तर देना पड़ेगा। वैज्ञानिकों का कथन है कि गन्धोत्पादक पदार्थ के अति सूक्ष्म कण, कठिन आकार में रहकर ही, हमारी नाक मे प्रवेश करते हैं तथा नाक के भीतर ही घ्राणेन्द्रिय से उनका स्पर्श होने से गन्ध-ज्ञान उत्पन्न होता है। एक उदाहरण लीजिए; किसी बड़े घर में किसी स्थान पर यदि रत्ती भर कस्तूरी छिपा दी जावे तो उसकी गन्ध उस घर में वर्षों तक महकती रहेगी, तथा उसमें से गन्ध के आकार मे अणुओं के इतने काल तक निकलते रहने पर भी वह कस्तूरी तौल मे बहुत नहीं घटेगी। गन्धयुक्त द्रव्य के कण इतने सूक्ष्म आकार मे विभक्त हो जाते हैं।

अधिकांश पदार्थों को बहुत गरम करने से वे बहुत सूक्ष्म अंशों मे विभक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार से विभक्त पदार्थ को हम लोग वाष्प (भाफ) कहते हैं। यह भी पदार्थों का एक विशेष रूप है। तरल अथवा कठिन आकार त्याग करने पर पदार्थ इस रूप को ग्रहण करते हैं। परन्तु यह नहीं जाना जाता कि अपने स्वरूप में स्थित रहकर भी कस्तूरी आदि गन्ध-युक्त पदार्थ कैसे इतने सूक्ष्म कणों मे विभक्त हो जाते हैं। वैज्ञानिक लोग अणु-परमाणु आदि और भी सूक्ष्म कणों का अनुसन्धान कर सकते हैं, इसलिए इस विषय मे सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि उन्होंने गन्ध की उत्पत्ति के कारण-रूप अतिसूक्ष्म कणों को कठिन अवस्था में देखकर ही इस सिद्धान्त

का प्रचार किया; तथा वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक सभी स्वीकार करने लगे कि द्रव्य के अतिसूक्ष्म अंश, कठिन अवस्था में रहकर ही, नासिका मे जाकर गन्ध-ज्ञान उत्पन्न करते हैं।

इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अनेक उदाहरण सञ्चित होने लगे। यह निश्चय हो गया कि शिकार के शरीर से निकले हुए मल आदि—सूक्ष्म कणों के आकार में—चारों ओर रह जाते हैं, और शिकारी कुत्ते नासिका की सहायता से उन्हीं कणों के पीछे-पीछे जाकर शिकार पर आक्रमण करते हैं। परीक्षा करके देखा गया है कि एक जाति की तितली को पकड़ कर यदि कहीं दूर स्थान मे छिपा रक्खा जावे तो उसके साथी थोड़ी ही देर मे उसे ढूँढकर निकाल लेते हैं। इसके व्याख्यान मे सब कहने लगे कि तितली के शरीर से निकले हुए किसी पदार्थ के क्षुद्र कण फैलकर दूसरों की घ्राणेन्द्रिय पर प्रभाव डालते हैं। इस कारण इन कणों के प्रवाह की दिशा का निश्चय करके, पकड़े हुए साथी को ढूँढ़ लेने में, इन लोगों को कुछ कठिनाई नहीं होती।

घ्राणतत्त्व के इस पुरातन सिद्धान्त की परीक्षा विज्ञान के नवीन प्रकाश मे करने का भाव आज तक किसी वैज्ञानिक के मन मे नहीं उठा। डाक्टर एटकिन (Dr John Aitkin) आजकल के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। ये इंगलैण्ड की सुप्रसिद्ध-रायल सोसाइटी (Royal Society) के पुराने सभ्य हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ परीक्षागारों के चलाने का भार भी आप ही के ऊपर है। इन अध्यापक महाशय ने आजकल प्राण-तत्त्व के विषय में बहुत कुछ अनुसन्धान किया है। इस अनु-सन्धान से जो नवीन आविष्कार हुए हैं उनसे सबको विस्मित होना पड़ा है। ये कहते हैं कि कोई पदार्थ जब वाष्प के आकार मे होकर नाक मे पहुँचता है तभी हमको गन्ध का अनुभव होता है। पदार्थ के अतिसूक्ष्म कणो के कठिन अवस्था मे रहकर नाक के भीतर पहुँचने से गन्धज्ञान नहीं होता, उनका वाष्परूप मे होना आवश्यक है।

डाक्टर एटकिन का पूर्वोक्त सिद्धान्त केवल अनुमान ही के आधार पर स्थित नहीं है। उन्होंने अपने प्रत्येक कथन को प्रत्यक्ष और सहज परीक्षाओ के द्वारा प्रमाणित कर दिया है।

पाठकों ने अवश्य सुना होगा कि किसी वायवीय पदार्थ को सञ्चित कर, एकत्र करने मे धूलिकणों के समान छोटे-छोटे कठिन जड़कण बहुत सहायता करते हैं। एक ही आकार के दो शुद्ध काँच के पात्रों मे केवल पानी की भाफ बन्द कर रखने से, जितनी देर तक पानी उनमें भाफ के आकार मे रहता है उतनी देर तक वह पहचाना नहीं जाता। परन्तु एक पात्र में कुछ धूलिकण डाल देने से. दोनों पात्रों की भाफ को जमाने की चेष्टा करने पर, धूलियुक्त पात्र की भाफ को पहले जमते देखा जाता है। पहले के स्वच्छ वाष्पपूर्ण पात्र

मे, कुहरे के समान, अस्वच्छ जलकणों का सञ्चार होने लगता है। बड़े-बड़े नगरों मे सवेरे और शाम को जो एक प्रकार का कुहरा सा दिखाई पड़ता है उसकी उत्पत्ति, वायु मे उड़ते हुए छोटे-छोटे धूलिकणो तथा धुएँ के कणो के संयोग से ही सिद्ध हुई है। नगरों की हवा मे धूलिकण बहुत अधिक परिमाण मे मिले रहते हैं। इसी से इन स्थानो के जलीय वाष्प के कणों के चारों ओर मिल जाने से कुहरा बन जाता है।

वायवीय पदार्थों के मध्य-स्थित कठिन जड़कणो की इस प्रकार की सहायता से एटकिन साहब ने अपने नवीन सिद्धान्त को प्रमाणित कर दिया है। इन्होने दो स्वच्छ कांच के पात्र लेकर पहले दोनों में धूलि अथवा और किसी प्रकार के जड़कणो से रहित पानी की भाफ रक्खी, फिर एक पात्र मे कुछ कस्तूरी डाल दी। यदि गन्ध सचमुच छोटे-छोटे कणो के आकार मे कस्तूरी से निकलती तो इन कणों के ऊपर पानी की भाफ अवश्य जम जाती। परन्तु परीक्षा के समय वह बात नही देखी गई। कस्तूरी की गन्ध से पूर्ण पात्र भी दूसरे पात्र के समान ही स्वच्छ रहा। इस कारण इस सहज परीक्षा से अच्छी तरह सिद्ध हो गया कि कस्तूरी के छोटे-छोटे कण कठिन अवस्था मे रहकर ही चारो ओर फैलकर गन्ध उत्पन्न करते हैं, यह विश्वास निर्मूल था।

एक कॉच की नली मे स्वच्छ रुई रखने पर तथा साधारण अपरिष्कृत वायु को उसी नली के भीतर से चलाने पर हवा

नली में से स्वच्छ होकर निकलती है। इसका कारण यह है कि वायु में मिश्रित धूलि-कण आदि रुई की बाधा पाकर अटक जाते हैं। इस प्रकार वायु को शुद्ध करने का यह एक सुन्दर उपाय है। एटकिन साहब ने कस्तूरी आदि से सुवासित वायु को काँच की नली के भीतर डालकर शुद्ध किया। यदि गन्ध की उत्पत्ति पदार्थों के सूक्ष्म-कणों के द्वारा ही होती तो शोधित वायु में तनिक भी गन्ध न रहती, परन्तु प्रत्यक्ष परीक्षा से वह बात सिद्ध नहीं हुई। इस कारण गन्ध की उत्पत्ति पदार्थ के सूक्ष्म कणों के द्वारा होती है, यह भी इस परीक्षा से हमको स्पष्ट मालूम होता है।

डाक्टर एटकिन ने कपूर, नैप्थलिन, इत्र आदि अनेक प्रकार के गन्ध-युक्त पदार्थों के ऊपर पूर्वोक्त परीक्षा करके सब परीक्षाओं मे यही फल पाया। इस कारण घ्राण-तत्त्व की उत्पत्ति के विषय में जो पुराना विश्वास था वह आजकल क्रम से शिथिल हो रहा है। गन्ध उत्पन्न करनेवाला पदार्थ यदि कठिन अथवा तरल अवस्था में होता तो परीक्षा के समय वह रुई मे रुक जाता; इस कारण इस बात को अवश्य मानना पड़ता है कि वाष्पीय अवस्था में ही पदार्थों की गन्ध उत्पन्न होती है।

बड़े-बडे शहरों मे अनेक स्थानों में गन्दे नाले बहते हैं। इन गन्दी नालियों के द्वारा नगर के स्वास्थ्य को कितनी हानि पहुँचती है, इसकी जाँच करने के लिए—कुछ दिन हुए—कई

अँगरेज़ स्वास्थ्य-रक्षकों ने प्रयत्न किया था। उससे यह निश्चय हुआ था कि गन्दे पानी की नलियों से उठी मलिन भाफ वायु को दूषित कर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाती है, और गन्दे नाले बड़े हानिकारक हैं। सड़े हुए मल के कण गन्ध के आकार मे हमारे शरीर मे प्रवेश करते हैं, तथा अनेक रोगो के जीवाणु उनके साथ आकर देह मे रोग फैलाते हैं। यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य-रक्षकों का पूर्वोक्त सिद्धान्त गन्ध की उत्पत्ति के प्राचीन सिद्धान्त के आधार पर निर्मित था। परन्तु डाक्टर एटकिन की परीक्षा के द्वारा यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि गन्ध केवल वायवीय पदार्थों से ही उत्पन्न होती है। इस कारण स्वास्थ्यतत्त्ववेत्ताओं ने नालियो की गन्ध के ऊपर नाना प्रकार के भयङ्कर रोगो के उत्पन्न करने का जो व्यर्थ दोषारोपण किया था उसको, इस नवीन आविष्कार के कारण, अवश्य ही हटाना पड़ेगा; तथा रोगों के जीवाणुओं के संक्रमण का दूसरा कारण ढूँढ़ना पड़ेगा।

घ्राणतत्त्व के विषय मे इस नवीन सिद्धान्त के विरुद्ध आज तक कोई बात नहीं सुनी गई। एटकिन साहब ने भी केवल अनुमान के आधार पर कोई बात नहीं कही। अत्यन्त सहज और प्रत्यक्ष परीक्षाओं के द्वारा उन्होंने अपनी प्रत्येक उक्ति का समर्थन किया है। इस कारण हमको सहज ही विश्वास नहीं होता कि इस सिद्धान्त के विरुद्ध सहसा खड़ा होकर कोई कृतकार्य हो सकेगा।

प्राणियों और उद्भिज्जों के विष

उद्भिज्जों और इतर प्राणियों के ऊपर मनुष्य बेहद अत्याचार करता है। गाय-बैल, भेड़, भैंसा, बकरा, सुअर आदि की तो बात ही जाने दीजिए—देखा जाता है कि घोड़ों और ऊँटों को भी मनुष्य खा जाते हैं। पक्षियों की तो कुछ बात ही नहीं; चूहे, साँप, गोह, गिलहरी, आँखफोड़ा आदि कीड़े भी मनुष्य के मुँह से नहीं बचते। किन्तु उद्भिज्जों के ऊपर मनुष्य इतना अत्याचार नहीं कर सकते, क्योंकि सब वृक्षों के पत्ते अथवा फल-मूल स्वादिष्ट नहीं होते, इस कारण मनुष्य बहुत-से उद्भिज्जो मे से, बहुत सोच-विचारकर अपने खाने के योग्य पदार्थ ढूँढ़ लेते हैं। परन्तु मांस खाने के लिए सदा इतना सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यदि किसी प्राणी के मांस मे कोई अरुचिकर वस्तु होती है तो वह पकाने से नष्ट हो जाती है। सभ्य मनुष्य कच्चा मांस नहीं खाते। परन्तु फल, मूल, और अनेक साग-तरकारियाँ कच्ची खाई जाती हैं, इस कारण, पहले इनका स्वाद देखकर तब लोग इनको खाने के लिए लेते हैं। इसके सिवा अधिकांश

उद्भिज्जों में जो अरुचिकर पदार्थ होता है वह पकाने से नष्ट नहीं होता, इस कारण पकाने से जैसे सब प्राणियों का मांस खाने के योग्य हो जाता है वैसे उद्भिज्ज नहीं होते, नहीं तो मनुष्यों का अत्याचार इतना बढ़ जाता कि कदाचित् पृथ्वी पर वृक्ष-पौधे भी विरले ही रह जाते।

शास्त्र का वचन है कि "यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा"—अर्थात् ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए ही पशु उत्पन्न किये हैं। परन्तु प्रकृति के कार्य को देखने से शास्त्र के कथन से घोर विरोध दिखाई पड़ता है। यह बात किसी प्रकार मानी नहीं जा सकती कि श्रेष्ठ बुद्धिवाले प्राणियों के यज्ञ* की आहुति के लिए ही दुर्बल और अल्प बुद्धिवाले जीव बनाये गये हैं। व्याघ्र और रीछ के पैने नख और दाँत, सेई के काँटे, कछुओं और घोंघों के शरीर पर कड़ा आवरण, गाय, भेड़, बकरे आदि के सींग, बर्रे और मधुमक्खी के डङ्क, तथा साँप के विषैले दाँत—ये सभी आत्मरक्षा के उपाय हैं। कीड़े-पतङ्गे आदि छोटे-छोटे जीव, जिनके तीक्ष्ण डङ्क नहीं हैं, अपने शरीर में से ऐसे बदबूदार रस निकालते हैं कि शत्रु को इनके निकट आने में डर लगता है। ग्रीष्म और वर्षा ऋतु की रात्रियों में दीपक के उजेले में इस प्रकार के बहुत-से दुर्गन्ध-युक्त कीड़े-पतङ्गे देखे गये हैं। मेंढक अत्यन्त निरापद जीव

* यहाँ 'यज्ञ' शब्द का साधारण और प्रचलित अर्थ लिया गया है।

है। इसके सींग, पैने दाँत अथवा डङ्क कुछ नहीं है, परन्तु यह लम्बी-लम्बी उछाल मारकर अपने प्राणों की रक्षा कर सकता है। गेछो तथा सेपो जाति के मेंढकों की उछाल बहुत बड़ी होती है, तथा साथ ही साथ इनके शरीर से एक प्रकार का विष निकलता है। इस विष का परिचय पाते ही कोई शत्रु इनके समीप नहीं जाता। कई प्रकार के गिरगिट भी इसी प्रकार शरीर से विष निकालकर अपनी रक्षा करते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि प्रकृति देवी ने अपनी अल्प बुद्धिवाली दुर्बल सन्तानों को इन सब अस्त्रों से सज्जित करके पृथ्वी पर छोड़ दिया है, जिससे बलवान् प्राणियों के साथ युद्ध करते समय वे अपनी रक्षा कर सकें। इन प्राणियों की अपेक्षा उद्भिज्ज और भी दुर्बल तथा निःसहाय हैं, क्योंकि मेढक अथवा हिरन के समान लम्बी उछाल मारकर ये शत्रु के आक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। इस कारण इनको अपने शरीर मे ऐसी व्यवस्था रखनी पड़ती है कि एक स्थान में स्थित रहकर ही ये अपनी रक्षा कर सकें। इसी से किसी में काँटे, किसी के पत्तों मे नोकें, और किसी के फल, फूल, जड़ अथवा पत्तों में विष होता है। इनके डर से अन्य प्रबल जीव इन पौधों को हानि नहीं पहुँचा सकते, तथा बड़ा बुद्धिमान् मनुष्य भी इनके आगे हार माना जाता है। नीम, लिसौड़ा, धतूरा, इन्द्रायण आदि अपने शरीर में विस्वाद रस धारण करके बड़ी ख़ूबी से

अपनी रक्षा करते हैं। किसी दिन मनुष्य इनसे सुस्वादु भोजन बना लेंगे इस बात की सम्भावना आज तक नहीं दिखाई देती।

जो हो, वर्त्तमान प्रबन्ध मे हम इस विषय की आलोचना नहीं कर रहे है कि दुर्बल जीव अपनी रक्षा कैसे करते हैं। हम तो यहाँ इसी का कुछ परिचय देंगे कि आत्मरक्षा के लिए किसी-किसी प्राणी और पौधे के शरीर मे विष सञ्चित रहता है।

मैनफल का पेड। सूचीमुख (रामवास)।

पहले पौधों के विष की ही आलोचना की जाती है। खजूर अथवा बेर का काँटा शरीर मे लगने से हमको पीड़ा होती है, परन्तु वह वेदना देर तक नही ठहरती। बिछुआ

अथवा कोंछ का काँटा शरीर में लग जाने से जो जलन और पीड़ा उत्पन्न होती है वह सचमुच विष की जलन है। पौधों के विष का यह सुपरिचित उदाहरण है। एक छोटे-से अणु-वीक्षण यन्त्र के द्वारा परीक्षा करने से ज्ञात होगा कि बिछुए का काँटा ठोस नहीं है। यह ऊपर से नीचे तक नली के समान पोला होता है। अच्छी तरह परीक्षा करके देखने से इस शून्य स्थान में एक प्रकार का पानी के समान स्वच्छ रस देख पड़ता है। यही रस बिछुए का विष है। नली के आकार का काँटा जब प्राणी के शरीर में चुभ जाता है तब वह अपने आप टूट जाता है और नल के भीतर का रस शरीर में प्रवेश कर विष का कार्य दिखाना आरम्भ करता है। बिछुए का विष लेकर वैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षाएँ की हैं। चींटी के विष में जो फ़ार्मिक ऐसिड (Formic Acid) नामक द्रव्य मिला रहता है वही पदार्थ बिछुए के रस में भी अधिकांश रहता है। इसके सिवा साँप के विष के समान एक प्रकार का रस भी, थोड़ा सा, इसमें मिला रहता है; बिछुए की जलन का कारण यही विष है; इस कारण यदि इस अचल पौधे की, चलायमान साँप के साथ, तुलना की जावे तो अन्याय न होगा।

कोंछ के काँटे का विष और भी भयानक है। इसमें विष का परिमाण बिछुए से अधिक होता है। मनुष्य या गाय-

बैल आदि के शरीर में कोंछ (कपिकच्छु) के लग जाने से बचना कठिन है। शरीर में अधिक काँटे लगने से मृत्यु तक हो सकती है।

फूलों में से उग्र गन्ध निकालकर भी कुछ पौधे अपनी रक्षा करते देखे गये हैं। प्रकृति ने प्राणियों और पौधों को नाना प्रकार से सजाकर अपनी शोभा बढ़ाने ही के लिए पृथ्वी पर नहीं छोड़ दिया है; वरन् पत्तों और फूलों के विचित्र रङ्ग तथा उनकी सुन्दर रचना के भीतर एक शुभ उद्देश्य छिपा हुआ है। जिस सुगन्ध को लेकर फूल खिलता है वह केवल मनुष्यों को प्रसन्न करने के लिए नहीं है। उद्भिज्जतत्त्ववेत्ताओं ने इसका और ही कारण बतलाया है। फल उत्पन्न करके वंश की रक्षा करना ही उद्भिज्जों के जीवन का लक्ष्य है। उद्भिज्ज-वेत्ताओं का कथन है कि फूल की गन्ध इस कार्य मे सहायता करती है; पौधे अपने फूलों के भीतर मधु उत्पन्न करके गन्ध के द्वारा दूर से तितली, पतङ्गो का आमन्त्रण करते हैं, और जब तितलियाँ फूलों का मधु चूसने को बैठती हैं, तब साथ ही साथ फूलों का पराग गर्भ-केसर के साथ मिलकर फल बनना आरम्भ होता है। परन्तु हमने पौधों की जो तीव्र दुर्गन्ध का उल्लेख किया है सो पतङ्गों को बुलाने के लिए नहीं। उसकी व्यवस्था तो इसलिए की गई है कि हानिकारक जीव उनके पास न आ सकें। लिली (Lily) जाति के कुछ

फूलों की गन्ध मनुष्य नहीं सह सकते, तथा इस बात के भी अनेक प्रमाण पाये गये हैं कि यह गन्ध अनेक प्रकार की पीड़ा देती है। हमारे चम्पा के फूल की गन्ध से माथे में पीड़ा होने की बात भी इसी प्रसङ्ग में उल्लेख करने योग्य है।

अब उद्भिज्जों को छोड़कर प्राणियों की आलोचना करनी है। आत्मरक्षा के लिए तथा कभी-कभी आहार संग्रह करने के लिए कितने प्राणियों के शरीर में कितने प्रकार का विष है, इसका हिसाब लगाना कठिन है। ये साधारण पौधों की तरह शरीर को विस्वाद करके अपनी रक्षा नहीं करते, इस कारण जीवन-संग्राम में विजयी कराने के लिए प्रकृति ने इनके शरीर में नाना प्रकार के विषैले अस्त्र बनाये हैं। प्राणियों के विषों की परीक्षा करने से शरीर के ऊपर इनका प्रभाव दो प्रकार का देखा गया है। कुछ विष ऐसे हैं कि वे जब तक रक्त में न मिलें, शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकते। साँप का विष तथा बिच्छू का विष इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। दूसरे प्रकार के विषों को रक्त में मिलने की कोई आवश्यकता नहीं होती। खाने-पीने के पदार्थ के साथ पेट में पहुँचकर ही वे अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। मकड़ी आदि का विष इसी जाति का है। केवल साँप अथवा बिच्छू का विष ही शरीर में प्रवेश कर हानि नहीं पहुँचाता; वरन् मेढक के शरीर से जो पसीने के समान रस निकलता है

उसको मनुष्य के शरीर मे डालकर देखा गया है कि उसके प्रभाव से मनुष्य थोड़ी ही देर में अस्वस्थ हो जाता है। ईल (Eel) नामक एक समुद्र की मछली का रक्त किसी प्राणी के शरीर में प्रवेश करते ही विष के लक्षण प्रकट करने लगता है। कुछ जाति की मछलियों और गिरगिटों के मुँह की लार भी रक्त से मिलकर विष के लक्षण प्रकट करने लगती है। फ़ान्सीसी वैज्ञानिक पाश्च्यूर साहब ने सिद्ध कर दिया है कि बच्चों के मुँह की लार मे भी विष होता है। महीने-डेढ़ महीने के बच्चे की लार एकत्र कर ख़रगोश आदि प्राणियों के शरीर में प्रवेश कराने से विष का लक्षण प्रकट करने लगती है, परन्तु इस विष को खा लेने से किसी प्राणी के शरीर में अस्वस्थता के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते।

विषैले दाँतवाले जीवों के शरीर में किस स्थान पर विष बनता है, इस बात का अनुसन्धान किया गया है। इसके द्वारा ज्ञात हुआ है कि विषैले दाँतवाले प्राणियों के दाँतों की जड़ में एक क्षुद्र कोष होता है। बस, यही कोष विष का पात्र है। साँप के विषैले दाँत मे जैसे एक प्रकार की नाली होती है वैसी ही नाली अन्य विषैले दाँतवाले प्राणियों के दाँतों में देखी गई है। इच्छा करते ही दाँत की जड़ के कोष का विष, इनके दाँतों के भीतर की नाली में होकर, शत्रु के शरीर मे प्रवेश कर जाता है। मागुर तथा सींगी मछली के काँटों से

विष होता है; इनके हाथ-पैरों में लग जाने से बहुत पोड़ा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार की अनेक मछलियों के काँटों की जड़ में ऐसे ही विष-कोष पाये गये हैं, और इनके काँटों में भी साँपों के विषैले दाँतों के समान नालियाँ पाई गई हैं।

काँटे चुभाकर अथवा नखों के प्रहार से प्राणियों का जो विष शत्रु के शरीर में प्रवेश करता है उसकी प्रकृति का निर्णय करने के लिए वैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षाएँ की हैं। आश्चर्य यही है कि बिछुवा आदि पौधों के विष में जो फ़ार्मिक ऐसिड पाया गया है वही इसमें भी देखा गया है। स्नायु-मण्डली को ज्ञानशून्य कर देना फ़ार्मिक ऐसिड का प्रधान गुण है। विष के साथ इसके मिले रहने से दुर्बल प्राणियों को शिकार करने मे बड़ी सहायता मिलती है। छोटी सी लखूरी जब बड़े गुबरीले के ऊपर आक्रमण करती है तब किसी प्रकार एक बार गुबरीले के शरीर में डङ्क मारने से ही, फ़ार्मिक ऐसिड के द्वारा, वह गुबरीला लकवा मारे हुए रोगी के समान विवश हो जाता है, और फिर लखूरी उसके केश पकड़कर जहाँ चाहती है ले जाती है।

मधु-मक्खी और बर्रों के समान बिच्छू का विष भी उसकी पूँछ में ही होता है। इसके आगे की दोनों डाढ़ें तथा दाँत बिलकुल निर्विष होते हैं। पूँछ के सिरे में लगा हुआ तीक्ष्ण डङ्क और उसी से मिला हुआ छोटा-सा विष-कोष इसकी आत्म-

रक्षा की सामग्री है। पैनी नोकवाले डङ्क को यह बड़ी सावधानी से कुण्डली बनाकर ऊपर उठाये रखता है और शत्रु के सामने आते ही उसके शरीर मे उस डङ्क को मार देता है।

जैली फ़िश (Jelly Fish) नामक एक सामुद्रिक प्राणी के शरीर मे भी विष पाया गया है। इन प्राणियों के पास डङ्क, विष के दांत, अथवा सींगी मछली के समान विषमय कांटे नहीं होते; ये तो अपने शरीर मे से मकड़ी के धागे से भी पतला विषैला तन्तु निकालकर अपने शत्रु को पकड़ लेते हैं। इस तन्तु का विष शत्रु के शरीर मे बिच्छू के विष के समान पीड़ा देता है। इसी कारण इस जीव को सामुद्रिक बिच्छू (Sea Nettle) भी कहते हैं।

प्राणियों मे पतङ्ग जाति के शरीर मे जितना विष पाया जाता है उतना और किसी जाति मे प्रायः नहीं देखा जाता। मधुमक्खी, बर्रं, ततैया, चींटी आदि सभी विषैले जीव हैं तथा इन सबका विष पूँछ मे ही रहता है। केवल तन्तुकीट और मच्छर का विष उनकी पूँछ में नहीं रहता। तन्तुकीट का विष उसकी चोटी में, तथा मच्छर का विष उसके मुँह मे रहता है। मकड़ियों के पाँवों मे नख होते हैं; इन नखों की जड़ों मे ही इनका विष रहता है। गोजर का विष उसके दाँतों में रहता है, और वह दाँतों की जड़ों में भरा रहता है; वहीं से इच्छानुसार विष निकालकर वह काट सकती है। पतङ्गों की संख्या

जितनी अधिक है उतने ही अधिक उनके शत्रु हैं। अनेक पक्षियों का प्रधान आहार पतङ्ग ही हैं। इनके सिवा छिपकली, गिरगिट तथा बिलकुल सीधा मेंढक भी पतङ्ग को सम्मुख देखकर सिंह के समान उस पर झपटता है। इन्हीं सब शत्रुओं के आक्रमण से बचने के लिए पतङ्गों के शरीर में, मुँह मे, पूँछ मे, दाँतों में, और नखों में विष रहता है।

बड़े अचरज की बात है कि हमारी झींगा मछली की बड़ी-बड़ी डाढें हैं परन्तु उनमें विष नहीं। केंकड़े की भी वही दशा है। डाढ़ें हैं तो बड़ी-बड़ी, परन्तु बिलकुल निर्विष हैं। पक्षियों के पाँवो के नख और चोंच बहुत तीक्ष्ण होती है, परन्तु इनमे भी विष के लक्षण नहीं पाये जाते।

जिन प्राणियों के शरीर मे कोई विषैला अङ्ग नहीं होता उनमे से कुछ के मांस में विष के लक्षण पाये गये हैं। इँगलैण्ड के सुप्रसिद्ध मननशील वैज्ञानिक लैङ्केस्टर साहब (Sir Ray Lankester) ने गणना करके देखा है कि कम से कम सौ में दस लोग इच्छा करने पर भी मछली का मांस नहीं खा सकते। यदि उनको ज़बर्दस्ती खिला दिया जावे तो नाना प्रकार की पीड़ाओं के लक्षण दीखने लगते हैं। यह देखकर लैङ्केस्टर साहब कहते हैं कि मछली का मांस खाने से अस्वस्थता के लक्षण उत्पन्न होना विष का परिचय देता है। विष खाने से सभी लोग अस्वस्थ नहीं होते। ऐसे अनेक विष हैं जिनसे एक

मनुष्य के शरीर मे जो फल देखा जाता है वह दूसरे के शरीर मे नही देखा जाता। इस प्रकार की घटना प्रायः देखी जाती है कि एक आहार करने से अथवा एक ही जल पीने से एक मनुष्य पीड़ित होता है और दूसरा, आहार के विष को पचाकर, स्वस्थ बना रहता है। इन बातों का विचार करके ही लैङ्केस्टर साहब कहते हैं कि निरामिषाहारी जन मछली का मांस खाते ही जिस पीड़ा का अनुभव करते हैं उसका कारण मछली के मांस के विष के सिवा और कुछ नहीं। ऐसे भी अनेक लोग देखे गये हैं जो झींगा मछली अथवा केंकड़े खाते ही बीमार पड़ जाते हैं। पकाने पर भी मछली के मांस में थोड़ा-सा विप रह जाता है, यही मानकर लैङ्केस्टर साहब ने निरामिपाहारी लोगों की रुचि-अरुचि का व्याख्यान देने की चेष्टा की है।

बड़े आश्चर्य का विषय है कि साँप आदि के जिस तीव्र विष की एक बूँद ही रक्त मे मिल जाने से बड़े प्राणी की मृत्यु हो जाती है, उसी विष के उनके शरीर मे ही प्रवेश करने से कोई हानि नहीं होती। यदि एक साँप दूसरे साँप को काट खावे तो काटे हुए सर्प को कोई हानि नही होती, यह अनेक परीक्षाओ के द्वारा प्रमाणित हो चुका है। कई जाति के साँप क्रोधित होने पर अपने ही शरीर को काट लेते हैं, परन्तु अचरज की बात है कि अपने ही विष से कोई नहीं मरता।

आजकल इस विषय में जीवतत्त्ववेत्ता अनेक प्रकार से अनुसन्धान कर रहे हैं। इसके द्वारा निश्चय हुआ है कि जैसे चेचक, डिप्थीरिया (बच्चों का गला आ जाना) आदि रोगों के बीज की थोड़ी-सी मात्रा शरीर में रहने से, उन रोगों के नवीन आक्रमण से कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार साँप आदि के शरीर में विष-कोष रहने के कारण नये विष से उनकी कोई हानि नहीं होती। हाइड्रोफ़ोबिया (Hydrophobia) अर्थात् जलातङ्क रोग से बचने के लिए जैसे हम लोग थोड़ा-सा पागल कुत्ते का विष धारण करके निश्चिन्त हो जाते हैं, उसी प्रकार साँप भी अपना ही विष शरीर में धारण करने के कारण निश्चिन्त रहते हैं। इसी कारण एक दूसरे के काटने से, अथवा अपने ही शरीर में विष का सञ्चार कर लेने से, साँप आदि की कोई हानि नहीं होती।

अमृत और विष

यह तो हम जानते नहीं कि कलियुग में अमृत कहाँ है, परन्तु विष को ढूँढने के लिए कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। साँप के मुँह में विष है, कुत्ते के दाँत में विष है, डाक्टर की शीशी में विष है, कविराज या वैद्य की पोटली में विष है, तथा दुकानों की खाने-पीने की वस्तुओं मे तो विष ही विष भरा है। 'अमृतं बालभाषितम्'—यदि यह वचन सत्य हो तो छोटे से बालक की छूँछी बातों से ही कुछ अमृत निकाल लिया जा सकता है; परन्तु ये बातें तो बिलकुल ही छूँछी हैं। इनको छूने-पकड़ने का कोई उपाय नहीं, इस कारण इनके ऊपर किसी प्रकार की वैज्ञानिक परीक्षा नहीं चल सकती। इसके ऊपर यदि घर के दूसरे कोने से किसी चीणतर कण्ठ का विषमय शब्द सुनाई पड़ गया तो इस विष की बौछार से "बालभाषितम्" निःशेष (Neutralised) हो जावेगा, तब "बालभाषितम्" के अमृत के ऊपर कैसे परीक्षा हो सकती है?

सत्ययुग में मनुष्य क्या खाकर जीवित रहते थे, इसका पता पत्रे से नहीं लगता;—कदाचित् ये अमृत ही पर निर्वाह

करते रहे हैं। परन्तु पोथी में लिखा है "कलौ अन्नगताः प्राणाः"—इस कारण यह मानने में भूल नहीं कि कलियुग मे अन्न आदि आहार के पदार्थों में ही अमृत आकर स्थित हो गया है, इसके सिवा—

दुग्धं शर्करा चैव घृतं दधि तथा मधु।
पञ्चामृतमिदं प्रोक्तं विधेयं सर्वकर्मसु॥

दूध, दही, घी, चीनी और मधु (शहद) ये पाँच अमृत कहे गये हैं, और सभी अनुष्ठानों में इनका व्यवहार किया जाता है। यह वचन भी मानकर आजकल चलना पड़ता है। इस कारण पञ्चामृत के दही, दूध, घी, मधु और चीनी ये सभी कलियुग में अमृत हैं। अतएव यदि बढ़िया भोजनों को ही अमृत मान लिया जाय तो इसमे बहुत थोड़ी सी भूल रह जावेगी।

सुना है कि कुछ काल पूर्व हमारे पहाड़-पर्वतों की गुफाओं में ऐसे साधु-संन्यासी अक्सर देखे जाते थे जो, महादेव के समान, विष को पचा लेते थे। इन लोगों को भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं था। अमृत और विष को ये लोग एक-सा ही भक्ष्य समझते थे। इस प्रकार के संन्यासी आजकल नहीं देखे जाते। परन्तु इस कलिकाल मे और लोगों का एक ऐसा ही दल देखा गया है जो अमृत और विष को एक ही श्रेणी में रखना चाहते हैं। ये संन्यासी नहीं, पूर्ण गृहस्थ हैं, और हमारे ही समान आहार-विहार तथा काम-

काज करते रहते हैं। ये लोग आजकल के वैज्ञानिक हैं। ये लोग एक स्वर से कहते हैं कि अमृत और विष एक ही श्रेणी के पदार्थ हैं। हमारे संन्यासियों की तरह ये लोग विष खाकर पचा अवश्य नहीं सकते परन्तु काग़ज़-पत्र के ऊपर इतने प्रमाण देते हैं जिससे मानना ही पड़ता है कि अमृत और विप एक ही पदार्थ है।

अब इस विषय को स्पष्ट करना चाहिए। विज्ञ पाठक अवश्य ही जानते हैं कि हम लोग जितने भक्ष्य तथा अभक्ष्य नाना प्रकार के पदार्थों को चारों ओर देखते हैं उनमें से कुछ को छोड़कर प्रायः सभी दो, तीन, चार अथवा अधिक मूल-पदार्थों के योग से उत्पन्न हैं। हम लोग जिस पानी से भली भाँति परिचित हैं उसी को देख लीजिए। रसायनशाला में वैज्ञानिकों ने पानी का विश्लेष करके हाइड्रोजन (Hydrogen) और अक्षिजन (Oxygen) नाम के दो वायवीय पदार्थों को उत्पन्न करके दिखला दिया है। अक्षिजन और हाइड्रोजन ये दोनों वायु मूलपदार्थ हैं, इनका किसी प्रकार से विश्लेष नहीं हो सकता; अर्थात् इनको तोड़कर कोई नया पदार्थ नहीं बनाया जा सकता। इस कारण कहा जाता है कि पानी नामक पदार्थ अक्षिजन और हाइड्रोजन के संयोग से उत्पन्न है। वैज्ञानिकों के हाथ में कोई भी पदार्थ पड़ जावे तो उसकी इसी प्रकार परीक्षा करके वे कह सकते हैं कि वह अमुक-

अमुक मूलपदार्थ के योग से बना है। पत्थर, मिट्टी, वृक्ष, घास, धातु, अधातु—कोई पदार्थ इनकी परीक्षा से बच नहीं सकता, सबको अपना भेद देना ही पड़ता है।

संसार मे जितने जड़ और चेतन पदार्थ हैं उन सबका पूरी तरह से विश्लेष वैज्ञानिक आज तक नहीं कर सके। सबको ढूँढ़कर रसायनशाला मे विश्लेष करना भी असम्भव जान पड़ता है। परन्तु जिन-जिन का विश्लेष किया गया है उन्ही में एक बड़ी विचित्र बात निकली है। जीवों से उत्पन्न पदार्थों का विश्लेष करने से प्रत्येक में अनेक मूलपदार्थ दिखाई पड़ते हैं। हरिण के सींग, मोर के पङ्ख, आम की गुठली, आ.डू का रस, सिर का मस्तिष्क, घास का बीज, वनमानुष की पूँछ, चमगीदड़ का पङ्ख, ख़रगोश का मांस, छिपकली के पॉव तथा दूध, घी, मक्खन, दाल, चावल, मछली, तेल, जलेबी, कचौरी, इमरती, पेड़ा, पुलाव, कढ़ी, कलिया आदि किसी भी चेतन-पदार्थ से उत्पन्न वस्तु की परीक्षा करने से, कुछ निर्दिष्ट पदार्थों को छोड़कर और किसी नवीन पदार्थ का चिह्न भी नही दिखाई पड़ता, तथा इन निर्दिष्ट पदार्थों की संख्या बहुत नहीं है। अङ्गारक वाष्प, जल, अमोनिया (Ammonia), अक्षिजन, गन्धक, फ़ास्फ़रस (Phosphorus) और कभी-कभी एक-आध खनिज पदार्थ को छोड़कर किसी जीवोत्पन्न पदार्थ में दूसरी वस्तु का लेशमात्र नहीं मिलता।

इस कारण मानना पड़ता है कि कुछ पदार्थों के योग से ही समस्त चेतन द्रव्य बने हैं। परन्तु कुछ सुपरिचित पदार्थों के ही मेल से सहस्रों विचित्र वस्तुओं के उत्पन्न हो जाने की बात सुनकर मन में यह चिन्ता उत्पन्न होती है कि यह सब कैसे हुआ। इसकी व्यवस्था यह है कि जैसे हलवाई खोआ और चीनी के योग से पेड़ा, बर्फी, कलाकन्द, लड्डू आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ बना लेते हैं वैसे ही संसार में यह विचित्र रचना दिखाई देती है। फिर भी पान, चूना, कत्था, और मसाले के योग से बीड़ा ही बनता है; इनके योग से किसी दिन जगन्नाथजी का प्रसाद, मलाई का लड्डू, अथवा और कोई पदार्थ बनते आज तक न तो देखा और न कभी सुना।

केवल कुछ पदार्थों के योग से ही संसार के प्रत्येक चेतन-पदार्थ का बनना असम्भव सुनकर वैज्ञानिक चुप न रह सके। वे कहने लगे कि हलवाई के उदाहरण से वैज्ञानिकों का दृष्टान्त नहीं मिलता। हलवाई घी, चीनी और सूजी लेकर मोहन-भोग बनाता है। वस्तु निस्सन्देह बहुत सुन्दर बनती है, परन्तु मोहनभोग मे घी घी ही रहता है, चीनी चीनी ही रहती है और सूजी सूजो ही। इन तीनों पदार्थों के केवल ऊपर-ऊपर के मेल से मोहनभोग तैयार हो जाता है। परन्तु वैज्ञानिक जब दो भाग हाइड्रोजन तथा एक भाग अक्सिजन लेकर रसायन-

शाला में बैठ जाते हैं तब इन दोनों पदार्थों के मेल से जो वस्तु उत्पन्न होती है उसके साथ हाइड्रोजन अथवा अक्सिजन किसी का मेल नहीं होता। वैज्ञानिक प्रक्रिया इसी प्रकार की होती है। जिन-जिन द्रव्यों से जो पदार्थ बनता है उनके साथ उस पदार्थ का मेल नही होता—न आकार मे, न गुण में। इसके सिवा परिमाण की बात अलग है। एक सेर खोवे में आध सेर चीनी मिलाने से सुन्दर गोला बनता है, परन्तु उसी एक सेर खोवे मे सेर भर चीनी मिला देने से गुड़ की भेली नहीं बन जाती, बनता गोला ही है, हाँ, कुछ कड़ा हो जाता है और मीठा भी अधिक। परन्तु वैज्ञानिक-प्रक्रियाओं में पदार्थों का परिमाण न्यूनाधिक हो जाने से बिलकुल भिन्न पदार्थ बन जाते हैं।

अब मान लिया जावे कि दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग अक्सिजन लेकर वैज्ञानिक कोई पदार्थ बनाना चाहते हैं। इन पदार्थों के मेल से अणु के बराबर जल बन गया। परन्तु हाइड्रोजन के इन्हीं दो भागों के साथ अक्सिजन के एक भाग के बदले दो भाग मिला दिये जावें तो जल उत्पन्न नहीं होगा; एक ऐसा पदार्थ बनेगा जिसके साथ जल का दूर का भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। मूलपदार्थों के ऐसे ही ऐसे विचित्र संयोग से नये-नये पदार्थ उत्पन्न होते देखकर वैज्ञानिक कहते हैं कि सम्पूर्ण चेतन-पदार्थों का माल-मसाला

(उपादान द्रव्य) एक ही होने पर भी—उसके भिन्न-भिन्न परिमाण मे संयुक्त होने के कारण—हम लोग इतनी विचित्रता देखते हैं। केवल चेतन-पदार्थ ही नहीं, जड़सृष्टि की विचित्रता का भी यही कारण है। परन्तु जड़-पदार्थ जिस-जिस वस्तु से बने हैं उन उपादान द्रव्यों का निर्णय करके, उन सब वस्तुओं को एकत्र कर, रसायनशाला मे जैसे हम उसी जड़-पदार्थ को बना लेते हैं वैसे ही हम चेतन-पदार्थ को नहीं बना सकते। चेतन-पदार्थों का हम विश्लेष कर सकते हैं, और यह निर्णय कर सकते हैं कि कौन-कौन से मूल-पदार्थ उनमे विद्यमान हैं तथा उनमें से प्रत्येक का परिमाण भी जान सकते हैं, परन्तु जब उतने ही परिमाण मे उन्हीं पदार्थों को लेकर रसायनशाला मे बैठकर परीक्षा करने लगते हैं तब जिस चेतन-पदार्थ के उत्पन्न होने की आशा करते थे वह नहीं बनता। इससे यही सिद्ध होता है कि चेतन-पदार्थ का हम विश्लेष कर सकते हैं, परन्तु उसे बना नहीं सकते।

एक उदाहरण के द्वारा यह विषय भली भाँति समझ में आ जावेगा। जल एक जड़-पदार्थ है। रसायनशाला में इसका विश्लेष करने पर दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग अक्सिजन के सिवा इसमे और कुछ नहीं पाया जाता। अब यदि हम दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग अक्सिजन मिलावें, तो ठीक उसी प्रमाण मे जल उत्पन्न हो जावेगा। परंतु हम चेतन-पदार्थों को

इस प्रकार नहीं बना सकते। चीनी चेतन-पदार्थ है। हमारे देश में बहुत करके यह ऊख के रस से ही बनती है। वैज्ञानिक प्रक्रिया से इसका विश्लेष करने पर १२ भाग अङ्गार (Carbon), २२ भाग हाइड्रोजन और ११ भाग अक्सिजन के सिवा इसमें कुछ नहीं होता। अब यदि कोई इसी परिमाण से अङ्गार, हाइड्रोजन और अक्सिजन लेकर और इनको मिलाकर चीनी बनाने का प्रयत्न करे तो कुछ और ही पदार्थ बन जावेगा,—चीनी नहीं बनेगी। हितोपदेश के राजपुत्र मरे हुए पशु की हड्डियाँ जोड़ सके थे, सूखी हड्डियों में मांस भी लगा सके थे, केवल उसमें प्राण नहीं डाल सके थे। हमारे वैज्ञानिक हाड़, मांस, प्राण कुछ भी नहीं बना सकते, केवल विश्लेष कर सकते हैं। प्रकृति देवी अन्तःपुर में बैठकर किस कौशल से हमारे सुपरिचित अक्सिजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, अङ्गार आदि को मिलाकर लता, पत्ते, फल, फूल, नर, वानर आदि बनाती चली जाती है, यह भेद हमारे वैज्ञानिक आज तक नहीं जान सके। चेतन-पदार्थों के बनाने का कौशल केवल प्रकृति ही को ज्ञात है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने दो-चार चेतन-पदार्थ रसायनशाला में अवश्य बना लिये हैं; जैसे रेशम, कपूर, नील, अथवा रबर—परन्तु ये कृत्रिम पदार्थ प्राकृतिक पदार्थों से सब अंशों में मेल नहीं खाते। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इनके निर्माण का रहस्य वैज्ञानिकों को ज्ञात हो गया।

जो हो, अमृत और विष की बातें करते-करते हम लोग बहुत दूर आ गये, अब फिर उसी विषय पर चलना चाहिए। अमृत के विषय मे पहले बहुत कुछ कह चुके हैं, अब देखना है कि विष के विषय मे वैज्ञानिक क्या कहते हैं। अधिकांश चेतन-विषों—जैसे साँप का विष, एकोनाइट (Aconite) या मीठा तेलिया, अफ़ीम (Opium) आदि—का परीक्षालय में विश्लेष किया गया तो उनमें घी, दूध, मक्खन, मिठाई आदि के सम्पूर्ण उपादान पाये गये। केवल यही नहीं, बहुत अच्छे पुष्टिकर खाद्य-पदार्थों मे ये उपादान जिस परिमाण में मिले रहते हैं उसी परिमाण मे अनेक विषैले पदार्थों मे भी ये अविकल मिश्रित देखे गये हैं। जिस परिमाण में हाइड्रोजन, अक्सिजन, नाइट्रोजन और अङ्गार आदि बहुत अच्छे दही मे मिले रहते हैं उसी परिमाण में ये मूल-पदार्थ काले नाग के ताजे विष मे भी मिश्रित देखे गये हैं। अब पाठक समझ गये होंगे कि हमारे वैज्ञानिक अमृत और विष को एक ही श्रेणी में कैसे रखना चाहते हैं।

अब यह देखना है कि जब अमृत और विष के उपादान एक ही हैं, तथा इन उपादानों का परिमाण भी एक ही है, तब फिर एक ही परिमाण में मिलकर ये एक स्थान में अमृत के और दूसरे में विष के गुण क्यों दिखाते हैं। चेतन-जगत् की लीला का रहस्य एक लीलामय परमेश्वर को ही विदित है; इस लीला का भेद मनुष्य के अधिकार में नहीं; इस समय

"क्यों" का यही उत्तर दिया जा सकता है। आज तक इसे प्रकार के उत्तर से ही मन को शान्त कर लेना पड़ता था, परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। ये लोग केवल प्रकृति के सहज और सुस्पष्ट नियमों की धारा और कलों की झनझनाहट देखना चाहते हैं। रहस्यमयी प्रकृति की जिन लीलाओं को देखकर साधारण मनुष्य आनन्द से पुलकित हो जाते हैं तथा परमेश्वर को माथा झुकाकर धन्य-वाद देने लगते हैं, उसी लीला को देखकर वैज्ञानिकों के शरीर मे आग लग जाती है। वे यह जानना चाहते हैं कि किस प्राकृतिक यन्त्र में किस नियम के अनुसार यह लीला प्रकट होती है। इस कारण, जब अमृत और विष के उपादान अविकल एक ही देखे गये तब वैज्ञानिक-समाज मे परीक्षाओं की धूम मच गई, और अन्त में निश्चय हुआ कि यद्यपि इनके उपादान एक ही हैं तथापि एक पदार्थ मे परमाणु जिस प्रकार से सज्जित हैं उस प्रकार से दूसरे पदार्थ मे व्यवस्थित नहीं। इसी कारण अमृत और विष के गुणो में इतना भेद है।

अब इस विषय की आलोचना करनी है कि प्राणियों के शरीर में अमृत और विष का क्या प्रभाव पड़ता है। इस विषय के साथ रसायनशास्त्र के अनेक तत्त्वों का सम्बन्ध है, इस कारण इसकी कुछ भूमिका देनी पड़ेगी। सब मूल-पदार्थों के पर-माणुओं में यह विशेष गुण है कि वे अकेले—पृथक्-पृथक्—नहीं

रहना चाहते। कोई दो हाथ फैलाकर, कोई तीन, चार, पाँच अथवा छः हाथ फैलाकर, दूसरे परमाणुओं से मिलने का उद्योग करता है। जब प्रत्येक हाथ का जोड़ मिल जाता है तब परमाणु साम्य अवस्था में स्थित हो जाता है; फिर उसमे चञ्चलता नहीं दिखाई पड़ती। वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस समय परमाणु साम्य अवस्था (Saturated condition) मे रहते हैं उस समय उनके रासायनिक कार्य का भी लोप हो जाता है। हम जिसको जीवन कहते हैं वह रासायनिक क्रियाओं से ही सम्पन्न होता है। जीव का शरीर जिन परमाणुओं से बनता है वे सदा ही चञ्चल और, अन्य परमाणुओं के साथ मिलने के लिए, सदा ही उत्सुक रहते हैं। जब किसी प्रकार यह संयोग प्राप्त हो जाता है तभी जीव की मृत्यु हो जाती है। मिट्टी, पत्थर, धातु आदि जड़-पदार्थों के परमाणुओ मे यह संयोग बना ही रहता है, इसी कारण ये पदार्थ निर्जीव कहलाते हैं।

अब मान लीजिए कि जिन करोड़ों चञ्चल परमाणुओं से जीव का शरीर बना है उनमे एक ऐसा पदार्थ पहुँच गया जिसके परमाणु जीव के परमाणुओं के साथ मेल खा गये। ऐसा होने से दोनो के परमाणु साम्य अवस्था मे रह जावेंगे और जीव की मृत्यु हो जायगी। आधुनिक वैज्ञानिकों ने जीव के शरीर पर विष का यही प्रभाव निश्चय किया है।

शरीर में प्रवेश करते ही विष शरीर के मुक्त परमाणुओं के साथ स्थायी रूप से मिल जाता है, इस कारण और रासायनिक क्रियाएँ नहीं चल सकतीं और शरीर की मृत्यु हो जाती है। परन्तु जो अच्छे भक्ष्य पदार्थ हैं उनका, देह में प्रवेश करने पर, शरीर के परमाणुओं के साथ स्थायी मेल नहीं होता, इस कारण अमृत के भोजन से जीव की मृत्यु नहीं होती।

इसी प्रसङ्ग में, सुप्रसिद्ध जर्मन अध्यापक एर्लिक (Ehrlich) ने जिस नवीन सिद्धान्त का प्रचार किया है उसका उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। जीव का शरीर कुछ कोषों के समुदाय के सिवा और कुछ नहीं है। एक-एक कोष मानों एक-एक छोटा सा कार्यालय है जिसमें—कितनी रासायनिक क्रियाओं के द्वारा कितने पदार्थ बनते हैं—इसकी सीमा नहीं। इसके अलावा, यह सब काम कैसे चलता है, इसके जानने के लिए कल्पना के सिवा इस समय हमारे पास और उपाय नहीं है। एर्लिक साहब कहते हैं कि प्रत्येक जीव-कोष के भीतर अद्भुत शक्तिवाले कुछ अणु रहते हैं। इन अणुओं के भीतर जो परमाणु रहते हैं वे स्थायी रूप से एक दूसरे से नहीं मिल सकते। प्राणी के रक्त में जो पुष्टिकारक पदार्थ होते हैं उनको खींचकर ये जीव-कोष में डाल देते हैं, और उनको ग्रहण कर कोष पुष्ट हो जाते हैं। इस कारण यही होता है कि उक्त अणु बाहर से अन्न लाकर कोष की वृद्धि में सहायता

करते हैं, और इनके भीतर के परमाणुओं मे स्थायी मेल न होने के कारण क्षण भर के लिए पुष्टिकारक पदार्थों को परमाणुओं के साथ मिलाकर उनको कोष के भीतर पहुँचा देते हैं। एर्लिक साहब के मत से, प्राणियों के शरीर मे विष के प्रवेश करते ही कोष के इन अणुओं की यह विचित्र शक्ति नष्ट हो जाती है। विष के परमाणुओं के साथ इन अणुओं के परमाणु ऐसे स्थायी रूप से मिल जाते हैं कि फिर और कोई पुष्टिकारक पदार्थ जीवकोष के भीतर प्रवेश करने का मार्ग नहीं पा सकता, इस कारण जीव-कोषों की क्रिया नष्ट हो जाती है, साथ ही साथ प्राणी की मृत्यु हो जाती है।

प्रकृति का वर्ण-वैचित्र्य

आकाश की नीलिमा, वृक्षों-लताओं और घास की श्याम-लता तथा पशु-पक्षियों के शरीर के विचित्र रङ्ग—इन सबसे पृथ्वी पर जो प्रतिदिन वर्णों की लीला दिखाई पड़ती है, यदि यह न होती तो पृथ्वी का आनन्द आधा रह जाता !

यदि जल, स्थल, आकाश, सजीव, निर्जीव, वृक्ष, लताएँ आदि सभी पदार्थ वर्फ़ के समान सफ़ेद अथवा समुद्र के समान नीले होते, तो उस एक रङ्ग से हमारी आँखों को कितनी पीड़ा होती, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। फ़ोटोग्राफ़ (Photograph) की एकरङ्गी तसवीर प्रकृति को ठीक-ठीक अङ्कित करती है और निपुण चित्रकार उसी प्रकृति को कल्पना की आँखों से देखकर रङ्गीन तसवीर उतारता है, परन्तु दर्शक प्राकृतिक चित्र का त्याग कर कल्पित चित्र का ही अधिक आदर करते हैं। किन्तु इससे दर्शकों की मूर्खता नहीं सिद्ध होती। हमारी आँखें जिस वर्णलीला को देखने के लिए ललचाती हैं वह एक रङ्ग के फ़ोटोग्राफ़ मे नहीं मिलती; इसी कारण फ़ोटोग्राफ़ का इतना अनादर है।

अब प्रश्न यह है कि रङ्गों का खेल दिखाने के लिए प्रकृति, ऋतु-संवत्सर के अनुसार, वृक्षों के बीजों और प्राणियों के कोषों में जो इतना प्रबन्ध करती है इसका उद्देश्य क्या है? संसार को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए प्रकृति ने जो सैकड़ों उपाय रचे हैं उनमे से यह भी एक है, ऐसा कहने से प्रश्न का उत्तर तो हो जाता है परन्तु वैज्ञानिक ऐसी व्याख्या से तृप्त नहीं होते। प्राणियों के शरीर मे ऐसे जटिल यन्त्र क्यों रक्खे गये? इस प्रश्न के उत्तर मे यदि कोई कहे कि प्राणियों को जीवित और स्वस्थ रखने के लिए ही शरीर में इतनी इन्द्रियाँ और यन्त्रो को स्थान दिया गया है तो यह उत्तर वैज्ञानिकों के योग्य न होगा, क्योंकि शरीर का कौन-सा अवयव जीवन की कौन-सी क्रिया को सम्पन्न करता है यही दिखाना तो वैज्ञानिक का काम है। इसी कारण, संसार के विचित्र रङ्गों से रँगकर प्रकृति अपनी सृष्टि की रचा कैसे करती है, इसका निर्णय करने के लिए वैज्ञानिक कुछ दिनों से अनुसन्धान कर रहे हैं। इसके द्वारा यथेष्ट लाभ भी हुआ है, परन्तु सब प्रश्नों की मीमांसा नहीं हुई।

जो विद्वान् जीवन भर प्रकाश और वर्णतत्त्व की ही मीमांसा करते रहे हैं उनसे भी यदि कोई वर्ण-विचित्रता का भेद जानने के लिए प्रश्न करे तो वे अच्छा उत्तर नहीं दे सकते। वे कहते हैं, तुम जो स्वच्छ प्रकाश देखते हो यह एक रङ्ग का

नहीं—लाल से लेकर नीललोहित तक—अनेक मूल-रङ्गों के मिलने से यह स्वच्छ प्रकाश बनता है। तिकोने काँच के ऊपर सूर्य का स्वच्छ प्रकाश डालने से इसके वही मूल-रङ्ग प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। जो वस्तु लाल दिखाई देती है उसका मूल गुण यही है कि सूर्य के स्वच्छ प्रकाश का विश्लेप करके, वह केवल लाल प्रकाश को छोड़कर शेष रङ्गों का लोप कर देती है। इस कारण हम लोगों को वह वस्तु लाल ही दिखाई देती है। जो वस्तु नीली दिखाई देती है वह भी इसी प्रकार स्वच्छ प्रकाश में से नीले प्रकाश को छोड़कर शेष रङ्गों को हर लेती है।

वर्णोत्पत्ति के इस वैज्ञानिक सिद्धान्त से लाल, नीले आदि रङ्गों की उत्पत्ति समझ में आती है, परन्तु गुलाब की रचना में कौन-सी विचित्रता के कारण एक गुलाब हमको लाल और दूसरा सफ़ेद दिखाई पड़ता है इसका उत्तर प्रकाशतत्त्ववेत्ता नहीं दे सकते। इसके सिवा यह भी नहीं जाना जाता कि एक फूल को लाल और दूसरे को सफ़ेद करने से प्रकृति का कौन-सा कार्य सिद्ध होता है। जान पड़ता है, सम्पूर्ण वर्ण-तत्त्व अभी तक रहस्य की ओट में छिपा हुआ है।

पशु-पक्षियों आदि की वर्ण-विचित्रता का अनुसन्धान करते हुए आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो एक तत्त्व ढूँढ़ निकाला है उसी का उल्लेख आजकल के काग़ज़-पत्रों में, सभा-समितियों में, तथा बातचीत में भी दिखाई पड़ता है। वह तत्त्व

यह है कि पशु-पक्षियों, कीड़ों-पतङ्गों आदि इतर प्राणियों के शरीर मे जो रङ्ग देखे जाते हैं वे केवल प्रबल शत्रुओं के मुँह से दुर्बल प्राणियों की रक्षा करने के लिए ही रचे गये हैं! पक्षियों की तीक्ष्ण दृष्टि बचाकर प्राणों की रक्षा करने के लिए ही घास के भीतर के ऑखफोड़े का रङ्ग हरा और सूखे तिनकों के भीतर रहनेवाले ऑखफोड़े का रङ्ग ख़ाकी होता है। शिकारी जन्तुओं की तेज़ नज़र बचाकर निरीह ख़रगोश का अपने प्राण बचाना सहज नहीं। इन प्राणियों का शत्रु के मुँह से बचाव करने के लिए ही प्रकृति ने इनकी देह पर सूखे तिनकों के रङ्ग के लाल बाल उत्पन्न कर दिये हैं। ख़रगोश यदि एक बार सूखी लताओं और पत्तो के बीच में पहुँच जावे तो शिकारी मनुष्य अथवा पशु उसे पहचानकर बाहर नहीं निकाल सकता। बहुरूपी गिरगिट तथा कई जातियों के मेढक क्षण-क्षण मे अपने शरीर का रङ्ग बदल सकते हैं। इस विषय मे भी जीवतत्त्ववेत्ता यही कहते हैं कि गिरगिट जब आहार को ढूँढ़ता हुआ डालियों पर घूमता है तब उसके शरीर का रङ्ग हरा होता है और धरती पर गिरते ही उसका रङ्ग मटमैला हो जाता है।

ये प्राणी किस प्रकार क्षण-क्षण में बाहर के रङ्ग के साथ अपने शरीर का रङ्ग मिलाकर अपनी रक्षा करते हैं, इसका अनुसन्धान करने के लिए बड़ा उद्योग किया गया। पाठक अवश्य ही जानते हैं कि प्राणियों के चमड़े में एक प्रकार के

वर्णकोष रहते हैं। उनमें जो रङ्ग सञ्चित रहता है ठीक उसी रङ्ग का प्राणियों का चमड़ा दिखाई पड़ता है। हमारे शरीर के वर्णकोषों का रङ्ग काला नहीं, मलिन है; इसी कारण हमारा रङ्ग भी मलिन है। शीतप्रधान देश के निवासियों के वर्णकोषों (Pigment cells) का रङ्ग सफ़ेद होता है, इसी कारण उनके शरीर का रङ्ग भी सफ़ेद ही होता है। प्राचीन विद्वानों ने बहुरूपी गिरगिट के रङ्ग-परिवर्तन की व्याख्या देते हुए कहा है कि वे प्राणी जब किसी विशेष रङ्ग के पदार्थों के बीच में आकर छिप रहते हैं तब चारों ओर के रङ्गों का आभास उनके शरीर पर पड़ने लगता है, इस कारण उनके शरीर के वर्णकोषों का रङ्ग बदलकर ठीक पार्श्ववर्त्ती पदार्थों के रङ्गों जैसा हो जाता है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक इस सिद्धान्त को नहीं मानते। वे कहते हैं कि बहुरूपी गिरगिट अपनी आँखों से जिस रङ्ग को देखता है उसके द्वारा उसके मस्तिष्क का एक निर्दिष्ट अंश उत्तेजित होता है तथा उस उत्तेजना के, स्नायुमण्डली के द्वारा, चमड़ी के वर्णकोषों तक पहुँचने से शरीर का रङ्ग बदल जाता है।

इस आधुनिक सिद्धान्त को डाक्टर वायर (Dr. Weir) नामक प्रसिद्ध जीवतत्त्ववेत्ता (Biologist) ने अनेक बहुरूपी गिरगिटों के शरीर का व्यवच्छेद (Dissection) करके सिद्ध कर दिया है। इन्होंने विष का प्रयोग करके कई बहुरूपी

गिरगिटों के मस्तिष्क को चेतनारहित कर दिया, इस कारण उनकी रङ्ग बदलने की शक्ति जाती रही। इसके सिवा इन्होंने और भी दिखला दिया कि जिन वहुरूपी-जाति के प्राणियों की देखने की शक्ति कम है उनमें सहज ही रङ्ग बदल डालने की योग्यता नहीं है। इस कारण अब स्वीकार करना पड़ता है कि चारों ओर के रङ्गों के आँखों में पडने से मस्तिष्क (Brain) के विशेष स्थान मे जो उत्तेजना उपस्थित होती है—स्नायुओं के द्वारा—उसी के सम्पूर्ण शरीर मे फैलने से देह का रङ्ग बदल जाता है।

बहुत कुछ अनुसन्धान और ढूँढ़-खोज करने के बाद इस सिद्धान्त के स्थापित होने पर भी, इसके द्वारा केवल कुछ प्राणियों के रङ्ग बदलने की व्याख्या पाई गई है। पतङ्ग जाति के प्राणी पङ्ख निकलने से पहले कुछ दिन तक अपने बनाये आवरण में पड़े सोते रहते हैं। उसी निद्रित अवस्था में, भीतर ही भीतर, देह का परिवर्त्तन होते-होते वे तितली के आकार मे—उस आवरण को काटकर—बाहर निकलते हैं। परीक्षा करके देखा गया है कि इस निद्रित अवस्था मे भी पतङ्गों के शरीर के आवरण का रङ्ग बदलता रहता है। जीवन की इस अवस्था मे तितलियों को देखने की शक्ति नहीं रहती, तो भी ये किस प्रकार चारों ओर के रङ्ग के साथ अपने शरीर का रङ्ग मिलाकर स्थित रहती हैं इसकी व्याख्या पूर्वोक्त सिद्धान्त में नहीं पाई

जाती। मेरु प्रदेश के जीवजन्तुओं का रङ्ग प्रायः सफ़ेद ही होता है। इस विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि चारों ओर की वर्फ़ से रङ्ग मिलाये रहने के लिए ये बहुरूपी गिरगिट के समान अपने रङ्ग को ऐसा रखते हैं। वैज्ञानिकों ने इस बात की दूसरी व्याख्या दी है। यह सिद्ध है कि सूर्य के प्रकाश से ही अनेक जीवों के शरीर में रङ्ग उत्पन्न होता है। किसी अँधेरे घर मे एक पौधा रख दो तो कुछ दिन पीछे उसकी डालियों और पत्तों का रङ्ग पीला रह जावेगा। ऐसे ही प्रमाणों के आधार पर प्राणितत्त्ववेत्ता कहते हैं कि मेरु प्रदेश का आकाश प्रायः सदा मेघ अथवा तुषार के कणों से आच्छन्न रहता है, इससे उस देश मे सूर्य का प्रकाश कम पहुँचता है। इसी कारण वहाँ के जीव-जन्तुओं का रङ्ग सफ़ेद होता है। ग्रीष्म-प्रधान देशों मे सूर्य के अपरिमित प्रकाश के कारण जितने विचित्र रङ्गों के फूल-पत्ते उत्पन्न होते हैं उतने शीतप्रधान देशों मे नहीं पाये जाते। इस बात को वैज्ञानिक अपनी पूर्ववर्णित उक्ति का प्रमाण बतलाते हैं, परन्तु तो भी इस अनुमान का सर्वत्र प्रयोग नहीं होता। गहरे पानी में सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, तो भी वहाँ के मछली आदि जीव विचित्र रङ्गों से रँगे हुए देखे जाते हैं। प्राणियों का रक्त लाल होता है, परन्तु यह कभी सूर्य का प्रकाश नहीं पाता। यदि निर्जीव पदार्थों को भी संयुक्त कर लिया जावे तो जिन गहरे प्रस्तरों में, धरती के नीचे

अँधेरे में रहने पर भी, विचित्र रङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं उनके रङ्गों की भी उत्पत्ति का कारण ढूँढे नहीं मिलता। मसूर की दाल और मटर की फली सदा बीज-कोष के बीच मे ढकी रहने पर भी क्यों इतनी सुन्दर रङ्गदार होती है इसका कारण नहीं जाना जाता।

यद्यपि यह मान लिया गया कि शत्रु के मुँह से बचने के लिए कुछ प्राणियों के शरीर पर विचित्र रङ्ग वर्त्तमान हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि सभी रँगे हुए जीवों के शरीरों के आवरणों पर आत्मरक्षा के लिए ही रङ्ग उत्पन्न किये गये हैं। समुद्र के जलचर पक्षियों का रङ्ग सफ़ेद है। गृध्र और बगलों का रङ्ग भी सफ़ेद होता है। यह सफ़ेद रङ्ग कभी आत्मरक्षा का उपाय नहीं कहा जा सकता। सामुद्रिक बगला (Gull) जब नीले समुद्र के ऊपर उड़ता है तब उसको पहचान लेने में शत्रु को थोड़ी देर लगना भी सम्भव नहीं। थलचर पक्षियों की तो बात ही नहीं,—कौआ, कोयल, मैना, तोता, लाल, तीतर, मोर, मुर्ग़, बटेर, घुग्घू, नीलकण्ठ आदि पक्षियों के पङ्खों के रङ्ग ही उनके परम शत्रु हैं। हमारे सुपरिचित पक्षियों में से केवल तोतों का रङ्ग वृक्षों के समान हरा और तीतर तथा चिड़ियों का रङ्ग धरती के रङ्ग के समान मटमैला है।

प्राणियों को छोड़कर पौधों पर दृष्टि डालने से भी यथेष्ट वर्ण-वैचित्र्य देखा जाता है। फुलवाड़ी में लताओं, पत्तों, फूलों,

और फलों के रङ्गों की शोभा सचमुच देखते ही बनती है। परन्तु किस नियम के अधीन होकर और किस उद्देश्य से प्रत्येक ऋतु में ये सब नये वेश से भूषित हो जाते हैं, यह निश्चय करना बड़ा कठिन है। वर्षा के अन्त में तथा शीत और वसन्त में जो फूल खिलते हैं वे सभी प्रायः सफ़ेद रङ्ग के होते हैं—जैसे बेला, गन्धराज, माधवी, मल्लिका, कुन्द, चमेली, मालती आदि के फूल सफ़ेद होते हैं। ग्रीष्म के फूलों—चम्पा, अलसी, मटर, सरसों, अमलतास, कनेर आदि—के रङ्ग उज्ज्वल और विचित्र होते हैं। जिन पौधों के फल खाये जाते हैं उनके फूल प्रायः सफ़ेद ही होते हैं; जैसे बेल, कैथ, लीची, आम, बेर, नीबू, नारियल, खजूर, लिसोड़ा, करौंदा, अमरूद, फरेंदा—इन सबके फूल सफ़ेद ही होते हैं। केवल बैंगन, खीरा, विलायती कुम्हड़ा और अनार के फूल रङ्गीन होते हैं, परन्तु अनार और खीरे को छोड़कर और कोई फल कच्चे नहीं खाये जाते। ऋतुओं के साथ तथा फलों के स्वाद के साथ फूलों के रङ्गों का क्या सम्बन्ध है, सो आज तक ठीक-ठीक नहीं जाना गया, परन्तु यह निश्चय है कि कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

डार्विन साहब ने चेतन-संसार में अभिव्यक्ति के जो नियम देखे थे उनके लक्षण आजकल प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। जिस प्रकार एक आदिम जीव से इतने विचित्र प्राणी और पौधे उत्पन्न हो गये हैं, इसी प्रकार एक मूल-रङ्ग से वर्त्तमान समय के

फूलों के विचित्र रङ्ग उत्पन्न हुए हैं—यह अनुमान सत्य प्रतीत होता है। कुछ दिन हुए, प्रसिद्ध उद्भिज्जतत्त्ववेत्ता (Botanist) अध्यापक हैन्स्लो (Henslow) साहब के मन में ठीक यही बात आई। उन्होंने बड़े-बड़े जङ्गलों के फूलों के रङ्गो की परीक्षा करके देखा कि इनमें बहुत-से फूल पीले रङ्ग के हैं। इसी प्रमाण के आधार पर अनेक वैज्ञानिक कहते हैं कि आरम्भ मे सब फूल पीले ही थे। नाना अवस्थाओं मे पड़ने से यह रङ्ग हल्दी के समान होकर अब अनेक रङ्ग बन गये है। बाग़ीचे मे लाकर यत्नपूर्वक लगाने से जिन जङ्गली पौधो के फूलो का रङ्ग इस समय बदल गया है उन्हीं पौधों को कुछ लोगों के पास बिना यत्न के छोड़ देने से, उनके फूल, नये विचित्र रङ्गों को छोड़कर, अपना पुराना पीला रङ्ग धारण करने लगते हैं। हमारे देश की कटैया और बबूल आदि जङ्गली पौधों मे पीला फूल आता है। जिस गुलदावदी मे आजकल बड़े-बड़े विचित्र रङ्गो के फूल खिलते हैं वह किसी समय जङ्गली पौधा था। उस समय उसका फूल बहुत छोटा था। आज-कल भी उसी जाति के जङ्गली पौधों में हल्दी के समान पीले छोटे-छोटे फूल देखे जाते है। यदि पुष्पवाटिका मे चन्द्रमल्लिका को विशेष यत्न से न रक्खा जावे तो कुछ वर्षों मे उसका फूल छोटा हो जाता है और उसका रङ्ग भी पहले ही के समान पीला हो जाता है।

खिलने के समय के साथ फूलों के रङ्ग का कोई विशेष गूढ़ सम्बन्ध है, इस बात का आभास हम पहले दे चुके हैं। खोज करने से प्राणियों में भी इसी प्रकार के वर्ण-विभाग के लक्षण पाये जाते हैं। मांस भक्षण करनेवाले जङ्गली पशुओं का रङ्ग प्रायः एक-सा नहीं होता—व्याघ्र, लकड़बग्घा, बन-विड़ाल, तेंदुआ, चीता आदि अनेक पशुओं का शरीर विचित्र रङ्गों के बालों से ढँका रहता है। यह नहीं कहा जा सकता कि घास खानेवाले जीव रङ्गीन नहीं होते। ज़ैबरा (Zebra), जिराफ़ (Giraffe) तथा कई जाति के हरिणों के रङ्ग मांस खाने-वाले पशुओं के समान ही विचित्र हैं, परन्तु ऐसे जीवों की संख्या बहुत थोड़ी है। गौ-जाति के ऊपर दृष्टि डालकर देखा जावे तो गाय बैलों के शरीर पर धारियाँ तथा चित्तियाँ भी देखी जाती हैं, परन्तु घोड़ों के शरीर पर कभी जिराफ़ अथवा ज़ैबरा के समान धारियाँ नहीं होतीं। इन बातों को आक-स्मिक व्यापार कभी नहीं कह सकते। सम्भवतः इनके भीतर कोई गुप्त भेद है, परन्तु वह भेद क्या है, यह आज तक कोई नहीं जानता। पूर्वोक्त वर्ण-वैचित्र्य को आत्मरक्षा का साधन बताना तो अत्यन्त अनुचित होगा।

जिन गाय-बैलों के शरीर में दो अथवा तीन रङ्ग हों उनके शरीर पर रङ्गों की सजावट में एक और विशेषता देखी जाती है। उनके सिर अथवा माथे का रङ्ग कभी शरीर के अव-

शिष्ट अंश की अपेक्षा फीका न होगा। ऐसी गाय मिलना कठिन है जिसका पिछला भाग लाल अथवा काला हो और सिर अथवा माथा सफ़ेद हो। पालतू सुअर प्रायः सफ़ेद और काले मिले हुए रङ्गों के पाये जाते हैं, परन्तु जङ्गली सुअर कभी एक से अधिक रङ्गों का नहीं देखा जाता। पहाड़ों की जङ्गली बकरियों के कभी-कभी विचित्र रङ्गो के बाल होते हैं। काले घोड़ों पर सफ़ेद चित्ती, अर्थात् तिलक-चिह्न, दुर्लभ नहीं, परन्तु ये प्रायः चारों पाँव और माथे तक ही रहते हैं। काले रङ्ग के ऊपर सफ़ेद चित्तियाँ, घोड़ों के और अङ्गो पर, कदाचित् ही होती हैं।

रङ्गों की इस विचित्रता की व्याख्या जीवतत्त्ववेत्ताओं से प्राप्त नहीं होती। आधुनिक वैज्ञानिक कितना ही दम्भ क्यों न दिखावे, प्राणियों और पैाधो के जीवन में अभी ऐसी कितनी ही घटनाएँ नित्य होती हैं जिनका व्याख्यान देने के लिए उनका ज्ञान यथेष्ट नहीं है। जीवों के रङ्गो की विचित्रता को इसी प्रकार का एक अव्याख्यात रहस्यपूर्ण विषय ही मानना पड़ता है।

वृक्षों की आँखें

वाहर से जब शरीर के ऊपर कोई आघात पड़ता है तब उसका अनुभव वृक्ष भी प्राणियों के समान ही करते हैं, इस वात को भारत के प्रसिद्ध विज्ञानाचार्य श्रीयुक्त जगदीशचन्द्र वसु ने परीक्षाओ के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है। लाजवन्ती की शाखा को चिमटी काटो, अथवा उसकी किसी शाखा के एक भाग को जला दो, तो दूर के पत्ते भी इस अत्याचार की पीड़ा से मुरझा जाते हैं। यह हम नहीं जानते कि उनको किस प्रकार की पीड़ा होती है, और शायद जानने का उपाय भी नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि चिमटी काटने से वृक्ष के शरीर में विकार होने लगता है, और वह शरीर के भीतर ही भीतर फैलकर दूर की पत्तियों को भी मुरझा देता है। अब तो वसु महाशय ने यह भी दिखा दिया है कि प्राणियों के समान वृक्षों के शरीर मे भी स्नायुजाल फैला रहता है। जैसे प्राणी के किसी अङ्ग में पीड़ा होने से वह स्नायुसूत्रों (Nerve fibres) के द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाती है, उसी प्रकार

वृक्षों के शरीर पर आघात की उत्तेजना फैल जाती है। परन्तु वृक्षों की भी आँखें हैं, यह एक बिलकुल नई बात है।

मनुष्य आदि उच्च श्रेणी के प्राणियों के शरीर के अङ्ग और अवयव एक दिन में ही इतनी उन्नति को नहीं पहुँच गये। विज्ञान की बात मानने पर स्वीकार करना पड़ता है कि लाखों वर्षों के निरन्तर परिवर्त्तन से मनुष्य इन सुव्यवस्थित आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रिय-युत अवस्था को प्राप्त हुआ है। इस कारण जो प्राणी इस समय जीव-पर्याय की बहुत निम्न श्रेणी में वर्त्तमान हैं उनके शरीर मे मनुष्य के आँख-कान के समान सुव्यवस्थित इन्द्रियाँ नहीं होनी चाहिएँ। मनुष्यों की आँखों के साथ पतंगे आदि इतर प्राणियों की आँखों की तुलना करने से यह भेद स्पष्ट समझ मे आ जाता है। जीवतत्त्ववेत्ताओं ने पौधों को जीव-पर्याय की निम्नतम श्रेणी मे स्थान दिया है, इस कारण जिन आँखों की सहायता से मनुष्य अनेक पदार्थों और नाना प्रकार के रंगों को देखकर प्रसन्न होता है, उद्भिज्जों में वैसी आँखों की आशा नहीं। अन्धकार और प्रकाश का भेद जान लेना, और किस दिशा से प्रकाश आ रहा है यह समझ लेना—निम्न श्रेणी के प्राणियों की आँखों का प्रधान कार्य है। वृक्षों की आँखों का काम ऐसा ही है। वृक्षों की आँखों की तुलना मनुष्यों की आँखों के साथ नहीं की जा सकती; परन्तु इतर पतंगों की आँखों के साथ तुलना करने से इनको किसी प्रकार हीन नहीं कहा जा सकता।

जर्मन अध्यापक हावरलैण्ड (Haberlandt)ने पौधों के शरीरतत्त्व के विषय में अनेक नवीन बातें बतलाकर कीर्ति प्राप्त की है। वृक्षों की आँखों की बात भी हाल में उन्हीं ने चलाई है। अनुसन्धान करने से देखा जाता है कि आँखों का काम इतना ही है कि बाहर के अनेक पदार्थों का चित्र अपने भीतर अङ्कित हो जावे। मनुष्य आदि उच्च श्रेणी के जीवों की आँखें जैसी जटिल होती हैं, उनका काम भी वैसाही विचित्र होता है; परन्तु सब प्राणियों की आँखों के काम का अनुसन्धान करने से हमें पूर्वोक्त व्यापार ही होता दिखाई पड़ता है।

पाठक अवश्य ही जानते हैं कि जब हम बाहर के दृश्य को किसी सङ्कीर्ण स्थान में लाना चाहते हैं तब हमको स्थूलमध्य काँच (Convex Lens) का प्रयोग करना पड़ता है। एक छोटे से छोटे कागज़ पर मनुष्य की आकृति उतारने के लिए फ़ोटाग्राफ़र (आलोकचित्रकार) उसी स्थूलमध्य काँच का व्यवहार करता है। कैमरा (Camera) के आगे उसी काँच को लगाने से बाहर की बड़ी वस्तु की छोटी सी प्रतिमूर्त्ति काँच के द्वारा छोटी होकर कैमरा के भीतर आकर पड़ती है। हमारी आँखें भी उसी उपाय से बाहर का चित्र छोटा करके भीतर पहुँचाती हैं। आँखों के भीतर स्थूलमध्य काँच तो नहीं है, परन्तु काँच के समान ही एक ऐसा स्वच्छ तरल पदार्थ वहाँ पर है कि वह कैमरा के स्थूलमध्य काँच के समान ही

बाहर के दृश्य को छोटा करके अक्षिजवनिका (Retina) पर डाल देता है। इस कारण वृक्ष के किसी अंग मे यदि इस प्रकार का स्थूलमध्य स्वच्छ पदार्थ देखा जावे, तथा यदि अनुसन्धान के द्वारा यह भी जान लिया जावे कि यह बाहर के दृश्य को छोटा करके वृक्ष के शरीर के भीतर डालता है, तब तो मानना पड़ेगा कि वृक्षों के भी आँखें होती हैं। आजकल पूर्वोक्त जर्मन पण्डित ने वृक्षो की डालियों और पत्तों की छाल मे ठीक ऐसी ही आँखें देखी हैं। छाल के ऊपर की ओर जो कोष सज्जित रहते हैं उनमें से कई कोष, एक प्रकार के अति स्वच्छ रस से पूर्ण होकर, स्थूलमध्य काँच के समान काम करते हैं। इसके द्वारा, कोषों मे, केवल बाहर के दृश्य का छोटा-सा चित्र ही भीतर अङ्कित नहीं होता बल्कि बाहर से सूर्य की किरणों की उष्णता भी, इसी स्थूलमध्य स्वच्छ पदार्थ के द्वारा केन्द्रीभूत होकर, कोष मे सञ्चित होती है, और इससे उद्भिज्ज-कोष काम करने लगते हैं।

यह कहना कठिन है कि वृक्षो के पत्तो और छाल में फैली हुई हज़ारों आँखें—बाहर के दृश्य के हज़ारों चित्र कोषों मे उत्पन्न कर—क्या कार्य करती हैं, परन्तु यह कभी नहीं कहा जा सकता कि इन आँखों का चित्र उत्पन्न करना व्यर्थ है। पाठक अवश्य जानते हैं कि साधारण मक्खियों के दोनों ओर जो बड़ी-बड़ी आँखें दिखाई पड़ती हैं वे बहुत-सी छोटी-छोटी

आँखों का समुच्चय ही हैं। मक्खी की प्रत्येक आँख प्रायः चार हज़ार छोटी-छोटी आँखों की बनी होती है। ये आँखें साधारण अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा स्पष्ट दिखाई देती हैं। तितलियों की आँखों की संख्या और भी अधिक है। इनके माथे पर दोनों ओर जो दो आँखें होती हैं वे प्रत्येक १७००० छोटी आँखों की बनी होती हैं। मक्खियाँ, तितलियाँ आदि पतङ्गे इन्हीं हज़ारों आँखों के द्वारा चारों ओर के दृश्य को कैसा देखते हैं सो तो हम नहीं जानते, परन्तु इतना अनुमान कर सकते हैं कि इन आँखों से किसी प्रकार अपने शरीर की रक्षा करने में इन्हें सहायता मिलती है। अध्यापक हावरलैण्ड का कथन है कि वृक्षों के पत्तों और डालियों पर जो असंख्य आँखें बनी हैं वे पतङ्गों की आँखों के समान ही काम करती हैं। जब पतङ्गों की दृष्टि का भेद हमको स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा तभी हम वृक्षों की आँखों की कार्य-पद्धति को समझ सकेंगे।

मृत्यु का नया रूप

जीवों की ओर स्थूल दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि अपने वंश की रक्षा करना ही प्रत्येक प्राणी और पौधे के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। प्राणियों की तथा पौधों की उत्पत्ति एक-एक सूक्ष्म जीव-कोष से ही होती है। यही एक-कोषमय जीव गर्भ में बहुकोषयुक्त होकर अपने नियत आकार को प्राप्त होता है। इसके पीछे अपने ही शरीर से एक अथवा अधिक एक-कोषमय नये जीवों को उत्पन्न कर अपनी जीवन-लीला को समाप्त करता है। इस अवस्था में पहुँचकर जीव मानो प्रकृति का त्याज्य पुत्र हो जाता है, और मृत्यु की गोद में ही उसे विश्राम मिलता है। औषधि-जातीय पौधे (Herbs) एक बार फल देकर ही इसी प्रकार मर जाते हैं, तथा अनेक इतर प्राणी भी सन्तान को जन्म लेते ही मर जाते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि सम्पूर्ण संसार-चक्र के भ्रमण के साथ जीवों का जीवन भी चक्र के समान घूमता है। एक-कोषमय जीव से एक और नये एक-कोषमय जीव का उत्पन्न होना जीवों की सृष्टि के आदि से ही चला आता है। यह सब देखकर यही समझ

मे आता है कि अपने वंश की धारा को प्रवाह-युक्त रखने मे ही जीवन की सार्थकता है।

यह कहना व्यर्थ है कि जीवन के लक्ष्य तथा मृत्यु के विषय में पूर्वोक्त कथन केवल जड़वादियों का ही है। माता-पिता से जन्म ग्रहण करना, आहार आदि से शरीर को पुष्ट करना, तथा अन्त में अपने जीवन की धारा सन्तान के शरीर मे प्रवाहित कर शरीर त्याग देना पौधों तथा इतर प्राणियों के जीवन का लक्ष्य होने पर भी कभी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। मनुष्य जिस उच्च बुद्धि का अधिकारी होकर जन्म लेता है, उसका प्रयोजन वंश-रक्षा के लिए बहुत ही थोड़ा है। इस कारण यह मानना पड़ता है कि प्रकृति देवी ने अपने हाथ से जो अमूल्य शक्ति मनुष्य को दी है उसका व्यवहार किसी और ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए है। परन्तु इस कठिन दार्शनिक (Philosophical) झगड़े मे पड़ना इस प्रबन्ध के लेखक की शक्ति के बाहर है। हमको केवल मृत्यु की आलोचना करनी है, और जान पड़ता है कि मृत्यु के समान कठोर सत्य संसार में दूसरा नहीं है।

संसार में सभी प्राणी, मनुष्यों के समान, जटिल इन्द्रियों से सम्पन्न होकर जन्म नहीं लेते। पृथ्वी पर ऐसे प्राणी थोड़े नहीं हैं जिनके आँख, कान, नाक, जीभ कुछ भी नहीं है। ये निर्जीव जड़कणों के समान पानी में अथवा स्थल पर स्थित

रहते हैं और शरीर तक कोई आहार पहुँच जाने से उसका सारभाग शोषण कर अपनी देह को पुष्ट करते हैं। इनमें स्त्री-पुरुष का भेद भी नहीं देखा जाता, अपने शरीर के खण्ड कर वंश का विस्तार करना ही इनके क्षुद्र जीवन की सार्थकता जान पड़ती है। इन आदिम-प्राणियों की मृत्यु-परीक्षा करके देखा जाता है कि मृत्यु बड़ी सहज बात है, इसमे जटिलता का लेश भी नहीं। घी को गरम करने से जैसे वह पिघलकर तरल हो जाता है वैसे ही इनकी मृत्यु भी होती है। जीवन का कार्य समाप्त होने पर उनके शरीर का धीरे-धीरे विश्लेष हो जाता है और पाँच भूतो से बना शरीर फिर पाँच भूतों मे मिल जाता है। उच्च प्राणियों के शरीर की रचना जितनी जटिल है, उनकी मृत्यु भी ऐसी ही आकस्मिक और भयानक होती है। वाष्प यन्त्र (Steam Engine) के समान जटिल पदार्थ का कोई अवयव बिगड़ जाने से वह कितना शब्द करता है, और अन्त मे उसकी क्रिया बन्द हो जाती है; परन्तु ढेकी के समान किसी सरल यन्त्र के बिगड़ जाने से वह आर्त्तनाद, वह झनझनाहट, वह फोंस फाँस नहीं सुनाई देती। उच्च प्राणियों का शरीर वाष्प-यन्त्र के समान ही जटिल होता है, इस कारण इसके किसी भाग मे दोष उत्पन्न होने से ही काम बन्द हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर में रक्त का सञ्चार जीवन का प्रधान आधार है और रक्त का प्रवाह

बन्द होने से ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है। रक्त में जो छोटे-छोटे लाल कण दिखाई देते हैं वे अक्सिजन को ले जाकर सम्पूर्ण शरीर में पहुँचा देते हैं, इस कारण यदि रक्त में अक्सिजन न रहे तो मृत्यु अनिवार्य है। अक्सिजन श्वास-प्रश्वास के द्वारा ही देह के भीतर प्रवेश करती है, इस कारण श्वास के रुक जाने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार देखा जाता है कि 'आत्मा के देह-त्याग करने के कारण मृत्यु हो जाती है,' यही व्याख्या देकर दार्शनिक तृप्त हो जाते थे, परन्तु शारीरवेत्ता मृत्यु की ऐसी व्याख्या नहीं दे सकते। अनुसन्धान करके इन्होंने प्राणियों की सब इन्द्रियों और सब अङ्गों में प्राणों को देखा है, इस कारण इनके मत से प्राणी का सम्पूर्ण शरीर ही प्राणमय है।

हाल में फ्रान्स की एक वैज्ञानिक-परिषद् (French Academy of Medicine) में डाक्टर केरल (Dr. Alexis Carrel) ने मृत्यु के विषय में जो नई-नई बातें कही हैं वे बड़ी विचित्र हैं। आजकल विचित्र वैज्ञानिक समाचारों की कमी नहीं, केवल संवादपत्रों के पन्ने उलटने से ही अनेक अद्भुत संवाद जाने जाते हैं। परन्तु डाक्टर केरल एक प्रसिद्ध शारीरवेत्ता हैं, तथा फ्रान्स की Academy of Medicine नाम की परिषद् भी सब देशों में प्रसिद्ध है, इन्हीं सब कारणों से नई बात पर विश्वास करना पड़ता है। कुछ वर्ष

पहले इन्हीं केरल साहब ने, हाल ही में मरे प्राणी के शरीर से मांस के टुकड़े काटकर उनको जीवित रखने का उद्योग किया था और इनके उद्योग मे सफलता भी हुई थी। नाना प्रकार के रसों में डुबाये जाने पर मांस के टुकड़े जीवन के लक्षण दिखाने लगे थे और अन्त मे डाक्टर साहब उन मांस-खण्डों से जीवित पशुओं के क्षत स्थानों मे जोड़ लगाने मे भी कृतकार्य हुए थे। इस अद्भुत परीक्षा के फल से सब वैज्ञानिक समझ गये कि जिस देह को हम मृत समझते हैं उसके विशेष अंश मृत के समान निश्चेष्ट रहकर भी कुछ काल तक जीवित रहते हैं। मृत-शरीर के इस जीवन को ये लोग कोषों का जीवन (Intra-cellular Life) कहते हैं। यह आविष्कार बड़ा विस्मयजनक है। परन्तु हाल में डाक्टर केरल ने अपने नये आविष्कार का जो विवरण दिया है वह और भी आश्चर्य-कारक है। इन्होने देखा कि देह से विच्छिन्न होने पर केवल मांस-पिण्ड ही जीवित नहीं रह सकते, वरन् हृत्पिण्ड आदि विशेष अवयव भी देह से पृथक् होकर जीवित रह सकते हैं; और शरीर के भीतर जो काम वे करते थे वही काम उनसे इस अवस्था मे भी लिया जा सकता है। प्राणियों का हृत्पिण्ड क्रम से सङ्कुचित और प्रसारित होकर देह मे रक्त का सञ्चार करता है। फेफड़ा वायु से अक्सिजन ग्रहण करता और विषमय अङ्गारक वाष्प को शरीर

से निकालता है। पाकाशय के अवयव अन्न के सार अंगों को ग्रहण करते और इनसे रक्त बनाते हैं। आश्चर्य का विषय है कि शरीर के ये सब यन्त्र देह से काटकर सावधानी से रखने पर भी जीवित रहकर अपना नियत कार्य किया करते हैं। इस कारण मानना पड़ता है कि देह से विच्छिन्न होने पर भी ये जीवन का कार्य दिखाते रहते हैं।

आज तक संसार में जो बड़े-बड़े आविष्कार हुए हैं उनके इतिहास का अनुसन्धान करने से जाना जाता है कि आविष्कारक किसी अन्य कार्य में अपने आविष्कार का आभास पाकर पीछे बड़े उद्योग से उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। केरल साहब को भी इस आविष्कार का आभास एक दूसरे काम में ही मिला था। कुछ दिन हुए, फ़ान्स के एक प्रसिद्ध धनी की मृत्यु रात के दस बजे हो गई। इनकी अगाध सम्पत्ति का उत्तराधिकारी एक नावालिग़ लड़का था। न्याय के अनुसार वालिग़ होने की जो सीमा नियत है उसको वह उसी रात्रि के बारह बजे पूर्ण करने को था। उसके बान्धव बहुत चिन्तित हुए, क्योंकि नावालिग़ अवस्था में पिता के मरने से पिता की छोड़ी हुई सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए बहुत ख़र्च करना पड़ता है। अतएव मृत पिता को दो घण्टे जीवित रखने के लिए फ़ान्स के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध चिकित्सक बुलाये गये। केरल साहब मृत शरीर के विशेष

स्थानों मे छोटी पिचकारी (Hypodermic Syringe) के द्वारा नाना प्रकार की औषधियाँ पहुँचाने लगे। इससे निःस्पन्द हृत्पिण्ड मे फिर स्पन्दन होने लगा, देह में गरमी भी आ गई, और फेफड़े भी औषधियों के प्रभाव से श्वास खींचने लगे। इस प्रकार मृत-शरीर में फिर प्राणों का सञ्चार हुआ। डाक्टर केरल ने इसी प्रकार दस बजे मरी देह को जीवित करके बारह बज के पन्द्रह मिनट तक जीता रक्खा, परन्तु वे मृत-देह मे चेतना का सञ्चार नहीं कर सके। इसी घटना से केरल साहब अनुसन्धान के मार्ग पर चल पड़े।

वर्त्तमान चिकित्सा-विज्ञान के पूर्वोक्त आविष्कार से देश-देशान्तर के वैज्ञानिक अत्यन्त उत्साहित हो गये। उन्हे आशा है कि किसी दिन मृत-शरीर मे चेतना का भी सञ्चार हो सकेगा। जड-वैज्ञानिक आज तक इस बात से अनभिज्ञ हैं कि चेतना क्या पदार्थ है, इस कारण बुद्धिमान् पाठक स्वयमेव समझ सकते हैं कि मृत-शरीर मे चेतना का सञ्चार करना सम्भव है कि नहीं।

एक नया आविष्कार

गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे डार्विन के अभिव्यक्ति-वाद (Origin of Species) की प्रतिष्ठा होने से जीव की उत्पत्ति के ऊपर वैज्ञानिकों की दृष्टि पड़ी। वैज्ञानिकों का एक दल कहने लगा कि जीव से ही जीव की उत्पत्ति होती है, माता-पिता के विना जीव उत्पन्न नहीं हो सकता। दूसरे दल ने इसका प्रतिवाद करके स्वयमुत्पत्ति (Spontaneous Generation) के सिद्धान्त का प्रचार करना आरम्भ किया। सुप्रसिद्ध जीव-तत्त्ववेत्ता पूचे (Pouchet) साहब स्वयमुत्पत्ति-वादियों के नेता थे, और इनके सहयोगी हुए अध्यापक वैस्टियन (Bastion)। ये कहते थे कि जीव से जीव की उत्पत्ति अवश्य होती है, परन्तु जीव की उत्पत्ति का यही एक मार्ग नहीं। जड़-पदार्थों से जीवो की उत्पत्ति हमारे चारों ओर सदा ही चल रही है। उदाहरण पूछने पर ये लोग सड़े हुए पौधों और प्राणियों के शरीरों की ओर उँगली उठाकर कहते थे कि इनमे अति क्षुद्र असंख्य कीड़ों का उत्पन्न हो जाना स्वयमुत्पत्ति का उत्तम उदाहरण है।

सन १८६२ ईसवी में फ़ान्सीसी वैज्ञानिक पाश्च्यूर साहब (Pasteur) ने इन स्वयमुत्पत्ति-वादियों की सारी युक्तियों का मूलोच्छेद कर दिया। पाश्च्यूर साहब तथा अँगरेज़

वैज्ञानिक टिण्डल साहब ने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि सड़े हुए शरीर में जो छोटे-छोटे कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं वे माता-पिता के द्वारा ही जन्म-ग्रहण करते हैं।

इसके पीछे बहुत दिनों तक स्वयमुत्पत्ति-वादी चुप रहे। विरोधी विद्वानों ने अनेक परीक्षाओं के द्वारा स्वयमुत्पत्ति के सब तर्कों को उच्छिन्न अवश्य कर दिया, परन्तु वे यह सिद्ध नहीं कर सके कि सृष्टि के आदि में भी जीवों की स्वयमुत्पत्ति नहीं हुई। इस कारण स्वयमुत्पत्ति की बात भी जीवतत्त्व-विषयक ग्रन्थों में कहीं न कहीं लिखी ही रह गई।

आज कोई तीन वर्ष हुए, बार्क नाम के एक अँगरेज़ वैज्ञानिक केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के परीक्षालय में रेडियम नाम की नवीन धातु की परीक्षा के लिए नियुक्त थे। समाचार मिला कि उनको उसी समय स्वयमुत्पत्ति का कुछ प्रमाण मिला था, इस कारण आशा हुई कि स्वयमुत्पत्ति-वाद की कटी जड़ फिर पनप उठेगी। परन्तु अन्य वैज्ञानिकों की कड़ी परीक्षा में बार्क साहब का आविष्कार स्थिर न रह सका, उस पर विचार करने से उसमें अनेक भूलें पाई गईं।

सुना जाता है कि हाल में डुबार्न (Dubarn) नामक फ्रान्सीसी वैज्ञानिक ने इस विषय में एक नई बात ढूँढ़ निकाली है। इस आविष्कार से केवल स्वयमुत्पत्ति ही नहीं सिद्ध होती—इसके द्वारा तो सभी पदार्थों की मूल-उत्पत्ति की व्याख्या

लार्ड पारच्यूर साहब।

करने का उद्योग किया गया है। आविष्कर्त्ता ने जड़-चेतन सभी पदार्थों को अति सूक्ष्म कणों के रूप में चूर्ण कर प्रत्येक कण को सजीव पदार्थ के समान ही क्रिया करते देखा है।

आविष्कारक डुबार्ते साहब विदेशी होने पर भी कई वर्ष हमारे देश में रह चुके हैं। कलकत्ते में रहकर ही उन्होंने अपने आविष्कार को ठीक किया, इसी कारण बड़े आग्रह से हम उनके आविष्कार का विवरण लिखने बैठे हैं।

आजकल जीव-विद्या की जो शीघ्र उन्नति हुई है उसमें अणुवीक्षणयन्त्र की ही प्रधान सहायता जान पड़ती है। प्राणियों और पौधों की रचना की सामग्री, जीवद्रव्य (Protoplasm) के विचित्र कार्य, तथा जीवों के शरीरों के कोषों के जन्म और मृत्यु का रहस्य केवल अणुवीक्षणयन्त्र (Microscope) ही ने हमारी आंखों को दिव्यदृष्टि देकर दिखला दिया है। जीवतत्त्व की आलोचना में आजकल जितने अणुवीक्षणयन्त्र व्यवहार में आते हैं उनकी नाना प्रकार से व्यवस्था होने पर भी वे सर्वाङ्ग-सुन्दर नहीं किये जा सके। जीवाणु (Bacteria) आदि अत्यन्त छोटी वस्तुओं को अणुवीक्षणयन्त्र के द्वारा देखने के लिए उनको अभी तक अनेक प्रकार के रंगों (Stains) से रँगना पड़ता है, नहीं तो वे परीक्षा के समय दिखाई ही नहीं देते। इसके सिवा जीवाणु चल-फिरकर यन्त्र के दृष्टिक्षेत्र से बाहर न निकल जावे, इसके

लिए उनको समय-समय पर बलपूर्वक दृष्टि-क्षेत्र मे बन्द रखना पड़ता है। प्रचलित अणुवीक्षणयन्त्र का संस्कार करके नवीन रीति से उत्तम यन्त्र बनाने के लिए डुवार्न साहब ने बहुत दिनों तक प्रयत्न किया। जीवाणुओं के समान अति सूक्ष्म जीवों का स्वच्छन्द विहार बन्द कर तथा उनके शरीर के भीतर रङ्ग देकर परीक्षा करने से उनके जीवन के स्वाभाविक कार्य देखना कठिन है, यही सोचकर आविष्कर्त्ता ने नये यन्त्र बनाने का उद्योग आरम्भ किया। हाल ही मे इनकी चेष्टा सफल हुई है। सूर्य के प्रकाश अथवा बिजली की द्युति को आवश्यकता के अनुसार तीक्ष्ण कर यन्त्र मे पहुँचाने का सुन्दर उपाय भी निकल आया है। इसके सिवा अणुवीक्षणयन्त्र की शक्ति बढ़ाने का भी सुन्दर उपाय इन्होंने ढूढ़ निकाला है। इनके हाथ के बनाये यन्त्र की शक्ति इतनी अधिक है कि इसके द्वारा किसी छोटी वस्तु की परीक्षा करने से यन्त्र में उसका आकार ६४०००० गुणा बड़ा दिखाई पड़ता है। अणुवीक्षणयन्त्र आज तक केवल नाममात्र को ही अणुवीक्षण था, क्योंकि किसी यन्त्र की सहायता से आज तक अणु प्रत्यक्ष नहीं देखे गये थे। अब डुवार्न साहब ने अणुवीक्षणयन्त्र का नाम सचमुच सार्थक कर दिया है।

सोना, चाँदी, प्लैटिनम् (Platinum) आदि कई धातुओं को पीसकर—उनका चूर्ण कर—उनके अतीन्द्रिय

सूक्ष्म कणों को ड्रुवार्न साहब अपने हाथ से बनाये अणुवीक्षण-यन्त्र के द्वारा देखने लगे। कणों के स्वाभाविक व्यास का परिमाण एक इञ्च का चालीस हज़ारवाँ भाग ($\frac{1}{40000}$) ही होता है, परन्तु यन्त्र मे प्रत्येक एक-एक शिशिरबिन्दु के समान दिखाई पड़ने लगा। आश्चर्य का विषय यही है कि उन्होने जितने पदार्थों के कणों की परीक्षा की, सभी को गोलाकार और एक परिमाण का पाया।

इसके पीछे और भी सूक्ष्मता से परीक्षा कर ड्रुवार्न साहब ने और जो बाते देखीं वे और भी आश्चर्यजनक हैं। परीक्षा मे प्रत्येक कण उन्होने चञ्चल देखा, और मध्याकर्षण के नियम को न मानकर प्रत्येक कण को ही सजीव पदार्थ के समान चलते-फिरते पाया। उन कणो मे अत्यन्त ताप का प्रयोग करने से, अथवा बारम्बार चूर्णित और मर्दित करने पर भी उनकी सजीवता के लक्षण में कोई परिवर्तन नही हुआ।

यदि दो चलते हुए पदार्थ दो विपरीत दिशाओं से आकर परस्पर टकरावे तो दोनों का वेग कम हो जावेगा। परन्तु ड्रुवार्न साहब ने अपने अणुवीक्षणयन्त्र मे देखा कि ये गोल कण सङ्घर्षण के इस सुपरिचित नियम के अनुसार नही चलते। धक्का खाने से प्रत्येक के वेग की वृद्धि देखी गई। सब पदार्थों के सूक्ष्म कणों के इस अद्भुत कार्य को देखकर आविष्कारक बड़े ही विस्मित हुए। अति सूक्ष्म पदार्थो पर ताप अथवा

प्रकाश पड़ने से उन पर दबाव (Radiation pressure) पड़कर वे चलायमान हो जाते हैं। अनेक प्रकार से प्रकाश और उष्णता के दबाव का परिचय प्राप्त हुआ है। आविष्कारक ने इन सूक्ष्म कणों की चञ्चलता का पहले यही कारण समझा था, परन्तु इन कणों को अनियमित रूप से चलते देखकर वे समझ गये कि यह ताप और आलोक का कार्य नहीं। इस प्रकार, जड़-पदार्थों के परिज्ञात साधारण गुणों मे से इन जड़-कणों मे एक को भी न देखकर, आविष्कारक ने इनका नाम चेतन-कण (Vital particles) रक्खा। प्राणियों और पौधों के शरीरों के अति क्षुद्र अंशों तथा धातु, पत्थर आदि के सूक्ष्म कणों की परीक्षा करने पर सबके कार्य एक-से ही पाये गये, इस कारण आविष्कारक के मत से ये चेतन-कण ही सब सजीव और निर्जीव पदार्थों के आदि-उपादान और अन्त के परिणाम ठहरे।

आधुनिक जीवतत्त्ववेत्ता जीवद्रव्य (Protoplasm) नामक एक पदार्थ को शरीर का मुख्य उपादान मानते हैं। निर्जीव अङ्गार (Carbon), हाइड्रोजन आदि कई पदार्थों के किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा मिलने से उनकी प्राण-प्रतिष्ठा होती है तथा पहले के निर्जीव पदार्थ चेतन होकर जन्म, मृत्यु, क्षय, वृद्धि आदि जीव के गुण दिखाने लगे—यही जीवद्रव्य है। अभी तक कोई वैज्ञानिक अपनी रसायनशाला में जीवद्रव्य नहीं बना सका। विधाता की ब्रह्माण्डव्यापी शिल्पशाला में

ही यह बनता है, तथा विश्वकर्मा के सिवा और कोई नही जानता कि जड़-पदार्थ किस प्रक्रिया से चेतन बन जाते हैं। डुवार्ने साहब ने अपने चेतन-कणों को प्रत्यक्ष देखकर कहा कि वैज्ञानिक जिसको जीवद्रव्य (Protoplasm) कहते हैं वह इन्हीं चेतन-कणो की राशि है और इस जीवद्रव्य मे इन्हीं कणों का चैतन्य है, अर्थात् चेतन-कण जीवद्रव्य के भी मूल-कारण हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि अनेक जड़ चेतन पदार्थों के सूक्ष्म कणों की परीक्षा करके डुवार्ने साहब ने जो चैतन्य के लक्षण देखे थे, उनकी सजीवता को तपाकर अथवा आघात से चूर्ण कर वे न तो नष्ट कर सके और न उनको किसी प्रकार मध्याकर्षण के नियम मे बाँध सके। अब यह प्रश्न उठता है कि जब संसार के सभी पदार्थ इन चेतन-कणों के बने हैं तब एकत्र होने से ही क्यो ये जड प्रकृति के नियमो के अनुसार चलने लगते हैं? आविष्कर्त्ता इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नही दे सके, परन्तु उन्होने परीक्षाओं के द्वारा यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया कि इन चेतन-कणों के एकत्र होने से ही चैतन्य का लोप हो जाता है, और विकीर्ण होने से ही फिर उसका प्राकट्य होता है।

यही सब देखकर डुवार्ने साहब कहते हैं कि जिस द्रव्य से सृष्टि के सब पदार्थ रचे गये हैं वह चेतन ही है। जब ये चेतन-कण एकत्र होकर अपने मूल-गुण को छिपा देते हैं तभी

चेतन-कणों का यह समुदाय हमको निर्जीव दिखाई पड़ता है, और जब वही चेतन-कण एकत्र होने पर भी अपने स्वाभाविक चैतन्य को अनेक प्रकार से प्रकट करने लगते हैं तब हमको पदार्थ सजीव भासने लगते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि हम जो जड़ और चेतन पदार्थों के भेद मानते हैं वह डुवार्न साहब के मत से वस्तुगत नहीं। जीवन का आदि और अन्त नहीं है। भगवान् की इच्छा से सभी पदार्थ चेतन उत्पन्न हुए हैं। इस कारण जीवो का आदि जानने के लिए प्राचीन और वर्त्तमान विद्वानों ने जो श्रम किया वह व्यर्थ ही गया। जीवतत्त्ववेत्ता जिसे स्वयमुत्पत्ति कहते हैं वह भगवान् की इच्छा से प्रतिदिन, हर घड़ी, सदा हमारे ही सम्मुख हुआ करती है।

अणुवीक्षण यन्त्र की परीक्षा मे डुवार्न साहब ने चेतन-कणो का आकार बिलकुल गोल देखा था, तथा उनका कार्य देखकर उनको भीतर से शून्य समझा था। अन्तःशून्य पदार्थ के एक पार्श्व में छोटा-सा छेद कर तथा उसमे पानी भरके यदि उसे पानी मे डुबा दिया जावे तो जब भीतर का पानी बलपूर्वक छेद से बाहर निकलने लगेगा तब भीतर के पानी का दबाव सम्पूर्ण पदार्थ को ठेलकर विपरीत दिशा मे ले जावेगा। हम प्रतिदिन अनेक प्रकार के तरल-पदार्थों में दबाव का यह कार्य देखते हैं। डुवार्न साहब ने चेतन-कणों के सञ्चलन को भी दबाव का कार्य समझा। इनके मत से,

चेतन-कण, शून्यगर्भ गोलाकार पदार्थ होने पर भी, प्रत्येक के कोष-प्राचीर पर कम से कम दो छेद होते हैं। पानी अथवा अन्य किसी तरल-पदार्थ मे डूबते ही ये स्वयमेव एक छिद्र के द्वारा पानी ग्रहण कर दूसरे छेद से उसे बाहर निकालने लगते हैं, इस कारण इसके भीतर के पानी का दबाव नष्ट हो जाता है, और साथ ही साथ ये कण विचित्र गति से घूमने लगते हैं।

चेतन-कणो को भीतर से ख़ाली मानकर डुबार्न साहब ने कई रासायनिक और वैद्युतिक समस्याओं के समाधान करने की चेष्टा की थी। लोहा और गन्धक इन दोनों मूल-पदार्थों का एक-एक परमाणु मिलने से एक यौगिक पदार्थ (Iron Sulphide) बनता है। इस पदार्थ मे लोहा तथा गन्धक दोनों मे से किसी के गुण नही पाये जाते। डुबार्न साहब कहते हैं कि लोहे के चेतन-कण जब गन्धक के चेतन-कणो को उदरस्थ कर अन्य चेतन-कण उत्पन्न करते हैं केवल तभी रासायनिक मेल होता है। तीन-चार मूल-पदार्थों के रासायनिक संयोग होने पर भी, ठीक पूर्वोक्त प्रकार से मूल-चेतन-कण परस्पर कोपस्थ करके एक एक भिन्न चेतन-कण उत्पन्न करते हैं। अब यह देखना है कि लोहे और गन्धक के रासायनिक संयोग में लोहे के कण गन्धक के कणों को खा जाते हैं या गन्धक के कणों के पेट मे लोहे के कण समा जाते हैं। डुबार्न साहब का विश्वास है कि जब हम यह निर्णय कर

चुकेंगे कि ये चेतन-कण परस्पर एक दूसरे में कैसे मिल जाते हैं तब अनेक रासायनिक रहस्यों के भेद भी प्रकट हो जायँगे।

डुबार्ने साहब के इस आविष्कार का विवरण आज तक वैज्ञानिक-संसार में सर्वत्र प्रचारित नहीं हुआ। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि परीक्षा में देखे हुए व्यापार प्रत्यक्ष होने के ही कारण भ्रम और प्रमाद से रहित हो गये। इस कारण अकेले डुबार्ने साहब ने एक ही यन्त्र के द्वारा चेतन-कणों को देखकर जिस अद्‌भुत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है उसकी भीत बहुत ही निर्बल जान पड़ती है। विशेष कर जिनको वे चेतन-कण कहते हैं उनके स्वाभाविक चैतन्य का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस कारण, विज्ञान के प्रचलित सिद्धान्तों के ऊपर दृष्टि न डालकर, इन्होने जो नई-नई बातें कह डाली हैं उनकी आलोचना करने का आज भी उपयुक्त समय नहीं जान पड़ता। यदि किसी दिन वह शुभ काल उपस्थित हो तो डुबार्ने साहब धन्य होंगे, और उनकी कृपा से आधुनिक विज्ञान अज्ञान के अन्धकार से निकलकर चमकने लगेगा। इस प्रकार एक दिन इन सिद्धान्तों को वैज्ञानिकों की कठिन अग्नि-परीक्षा के लिए प्रस्तुत होना पड़ेगा।

सभी पदार्थ चेतन हैं, यह सुनकर कोई डरने की बात नहीं। हमारे अति प्राचीन पूर्वजों ने इसी भारतवर्ष मे रह-कर दूसरे प्रकार से इन सब बातों को जान लिया था, तथा

हमारे ही देश के निवासी वैज्ञानिक डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु ने पाश्चात्य विज्ञान के प्रकाश मे ही इसको सत्य सिद्ध कर दिया है। डुवार्न साहब ने अन्य प्रकार से इसी को प्रमाणित करने का उद्योग किया था। परन्तु वसु महाशय जैसे अपनी प्रत्येक उक्ति का सैकड़ो परीक्षाओं के द्वारा समर्थन करते जाते हैं, उस प्रकार का प्रमाण डुवार्न साहब की किसी बात का नहीं मिलता। स्वदेशी और विदेशी दार्शनिक बहुत काल से मूल जड़-कणों को चेतन मानते चले आये हैं। विख्यात विद्वान लीबनिज़ (Leibnitz) साहब और भी आगे बढ़ गये थे। उन्होंने परमाणुओं को केवल चेतन ही नही बतलाया, प्रत्युत उनके विचार से तो ये इच्छा-शक्ति से भी सम्पन्न हैं।

मिट्टी का तेल

(Kerosene Oil)

कोई तीस वर्ष हुए जब पहले-पहल हमारे घर में मिट्टी के तेल का व्यवहार आरम्भ हुआ। उस समय की एक छोटी-सी बात स्मरण आती है। हमारे यहाँ एक बहुत बूढ़ी दाई थी। प्राकृतिक (Natural) अथवा अतिप्राकृतिक (Supernatural) विषय मे सन्देह उपस्थित होने पर हम उसी बुढ़िया की शरण लेते थे। व्याख्या करने में वह बड़ी चतुर थी। बादलों का आना, बिजली का चमकना, वज्रपात आदि प्राकृतिक विषयों से लेकर भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस का दिखाई पड़ना आदि अतिप्राकृतिक विषयों के व्याख्यान भी सदा उसकी जीभ की नोक पर रहते थे। उससे किसी बात के पूछने पर निराश नहीं होना पड़ता था। यह बुढ़िया न तो स्वयं मिट्टी के तेल को कभी छूती थी, न हम लोगों को छूने देती थी। एक दिन इस घृणा का कारण पूछने के लिए हम उसके पास गये। दाई के व्याख्यान से हमको ज्ञात हुआ कि देश भर के मरे हुए पशुओं की सड़ी-गली लाशों को कल में डालकर साहब लोग जो तेल निकालते हैं वही तो मिट्टी का तेल है।

मिट्टी का तेल बनने के पूर्वोक्त विवरण पर बहुत दिनों तक हमें विश्वास बना रहा परन्तु अब नहीं है। दूर गाँवों के रहनेवाले भी अब ऐसी अद्भुत प्रणाली पर विश्वास नहीं करते। परन्तु मिट्टी के तेल की उत्पत्ति जानने के लिए विज्ञान-ग्रन्थ खोलने पर हमारी उस बुढ़िया दाई की बात के साथ वैज्ञानिकों के एक दल का कथन सारांश मे मिल जाता है। मुर्दों की लाशें कल मे डालकर साहब लोग तेल नहीं निकालते हैं सही, परन्तु पृथ्वी के भीतर दबे जीवों के शरीरों पर दबाव डालकर स्वयं प्रकृति किसी प्रकार तेल उत्पन्न करती है। आधुनिक वैज्ञानिकों के कथन का यही मर्म है।

इसमे सन्देह नहीं कि मिट्टी का तेल चेतन-पदार्थों से बना है। इस विषय में सभी वैज्ञानिकों का एक मत है। अनुसन्धान करने से देखा जाता है कि पृथ्वी के जिस-जिस अंश मे कोयले की पुरानी खाने हैं वहीं मिट्टी का तेल बहुत पाया जाता है। इस कारण यह सिद्धान्त स्वाभाविक जान पड़ता है कि जैसे कोयला मिट्टी में दबे हुए पौधों के शरीर से उत्पन्न है, उसी प्रकार मिट्टी का तेल भी वृक्ष आदि पर युग-युगान्तर का दबाव पड़ने से निकला है। पौधों के शरीर मे मिट्टी के तेल के समान पदार्थों की कमी नहीं। तार्पीन का तेल, राल आदि दाह्य पदार्थ वृक्षों से ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण वृक्ष आदि के जिस अंश से तार्पीन आदि उत्पन्न होते हैं उसी के बहुत काल तक दबे रहने

पर पृथ्वी के भीतर दबाव और उष्णता के कारण मिट्टी का तेल बन जावे तो क्या आश्चर्य है? वैज्ञानिकों की दृष्टि में हीरा और कोयला एक ही चीज़ हैं। हीरे का विश्लेष करने से उसमें अङ्गार (Carbon) के सिवा और कोई वस्तु नहीं पाई जाती। वैज्ञानिक कहते हैं कि कोयले के बहुत काल तक दबे रहने से पृथ्वी के भीतर की उष्णता और ऊपर की मिट्टी के दबाव से उसकी मलिनता नष्ट हो जाती है। किन्तु यह नहीं जाना जाता कि पृथ्वी के भीतर केवल दबाव और उष्णता के द्वारा तुच्छ काले कोयले से चमकदार बहुमूल्य हीरा कैसे बन जाता है। कुछ दिन हुए, एक फ़ान्सीसी वैज्ञानिक ने कोयले को भूगर्भ की अवस्था मे डालकर हीरा बना लिया है। वृक्षों के निर्यास से इसी प्रकार मिट्टी का तेल बनाने का उद्योग हो रहा है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल कोयले की खान के निकट ही मिट्टी का तेल पाया जाता है। आजकल ऐसी अनेक खानों में से मिट्टी का तेल निकलता है जिनमे कोयला नही है। वैज्ञानिक कहते हैं कि इन स्थानों का मिट्टी का तेल वृक्षों का बना नहीं। प्राणियों का शरीर बहुत काल तक मिट्टी में दबे रहने से देह के स्निग्ध पदार्थ, अनेक प्रकार से विकार को प्राप्त होकर, अन्त में मिट्टी का तेल बन जाते हैं। मिट्टी के तेल की इन खानों के चारों ओर की ज़मीन खोदने से सचमुच अनेक जीवों के कङ्काल पाये गये हैं। इस कारण

यह भी मानना पड़ता है कि प्राणियों की चर्बी आदि काल-क्रम से परिणत होकर मिट्टी का तेल बन जाता है।

कोई चालीस वर्ष से मिट्टी का तेल व्यवहार में आ रहा है। इसको देखने से जान पड़ता है कि पृथ्वी के भीतर इतना तेल सञ्चित होने का प्राचीन लोगों को बिलकुल पता नहीं था। परन्तु यह बात सच नहीं है। प्राचीन लोग उसे भली भाँति जानते थे और आवश्यकता के अनुसार उसका व्यवहार भी करते थे। निनेवा और बाबिलन नगरों के आस-पास के खँडहरों को देखने से जान पड़ता है कि उनके चूने और गारे में एक प्रकार का अपरिष्कृत मिट्टी का तेल मिला हुआ है। घर बनाने के और मसाले के साथ उस पदार्थ को व्यवहार में लाने से बड़ी दृढ़ता आती है, और पानी से उसको किसी प्रकार क्षति नहीं होती, यह बात चार हज़ार वर्ष पूर्व के लोग भी जानते थे।

पृथ्वी के प्रायः सभी देशों में मिट्टी के तेल की खानों का थोड़ा-बहुत पता पाया गया है। अमेरिका (America) के संयुक्त राज्य (United States) और कनाडा (Canada) में इसकी बड़ी-बड़ी खानें हैं। इसके सिवा रूस (Russia) और हमारे ब्रह्मदेश (Burma) में भी मिट्टी का तेल पाया गया है। मिट्टी खोदने से कोयला आदि खनिज पदार्थों के जैसे स्तर पाये जाते हैं वैसे मिट्टी के तेल का कोई स्तर नहीं पाया
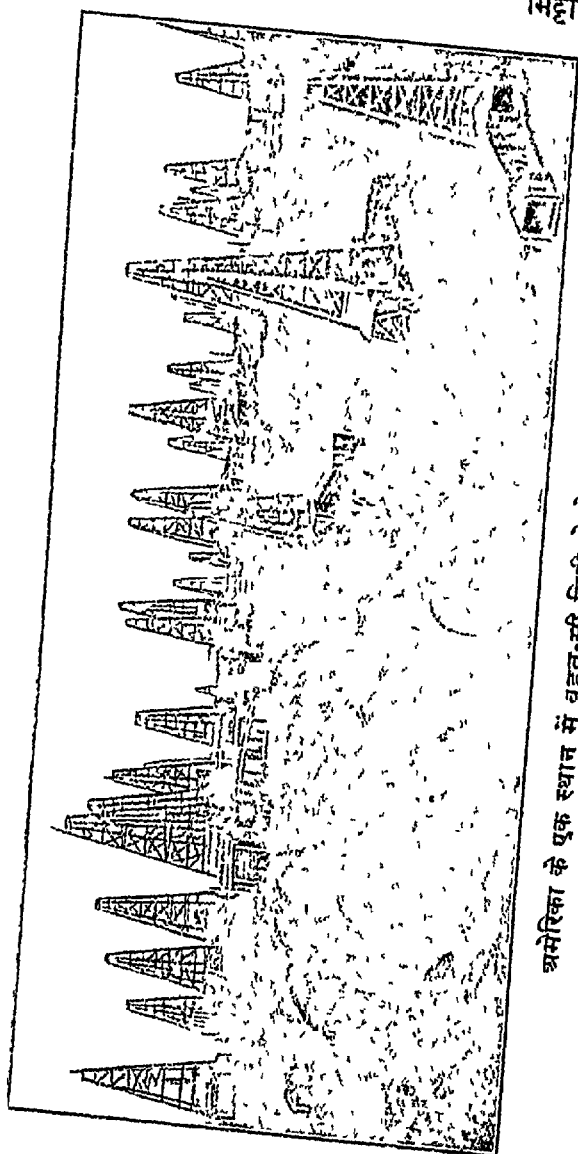
अमेरिका के एक स्थान में बहुत-सी मिट्टी के तेल की खानों का दृश्य ।

जाता। यदि मिट्टी में यह तेल होता है तो पृथ्वी के भीतर स्थान-स्थान पर, जहाँ अवकाश पाता है वहाँ, चारों ओर की मिट्टी से अपने आप सञ्चित हो जाता है। ऊपर से मिट्टी खोदते-खोदते उस स्थान तक पहुँचने पर पानी और भाफ़ मिला हुआ तेल फुव्वारे की तरह निकलकर बाहर गिरने लगता है। इस प्रकार खान के भीतर के वायवीय और पानी के अंश बाहर निकल जाने पर असली मिट्टी का तेल ही गह्वर के भीतर रह जाता है। इस अवस्था में व्यवसायी लोग नल (Pump) लगाकर तेल निकाल सकते हैं।

खान में से जो तेल निकलता है वह हमारे परिचित मिट्टी के तेल के समान बिलकुल नहीं होता। तेल के व्यापारी अनेक रासायनिक क्रियाओं-द्वारा उस मैले तेल को साफ़ कर व्यवहार के योग्य बना देते हैं। १०० भाग खनिज मिट्टी के तेल से केवल ५५ भाग साफ मिट्टी का तेल निकलता है। शेष ४५ भाग से गैसोलिन (Gasoline), नैप्था (Naptha), पैरेफ़िन (Paraffin), कल में देने का तेल (Machine oil) आदि अनेक आवश्यक पदार्थ निकलते हैं। खनिज तेल का बहुत सूक्ष्म अंश व्यवहार के योग्य न होने से छोड़ दिया जाता है।

मैले खनिज तेल के साफ़ करने का उपाय बहुत ही सरल है। गुड़ के समान गाढे तेल को कई बन्द कड़ाहों में उबाला जाता है। कड़ाह के ऊपर लोहे के बड़े-बड़े नल जुड़े रहते

मिट्टी का तेल
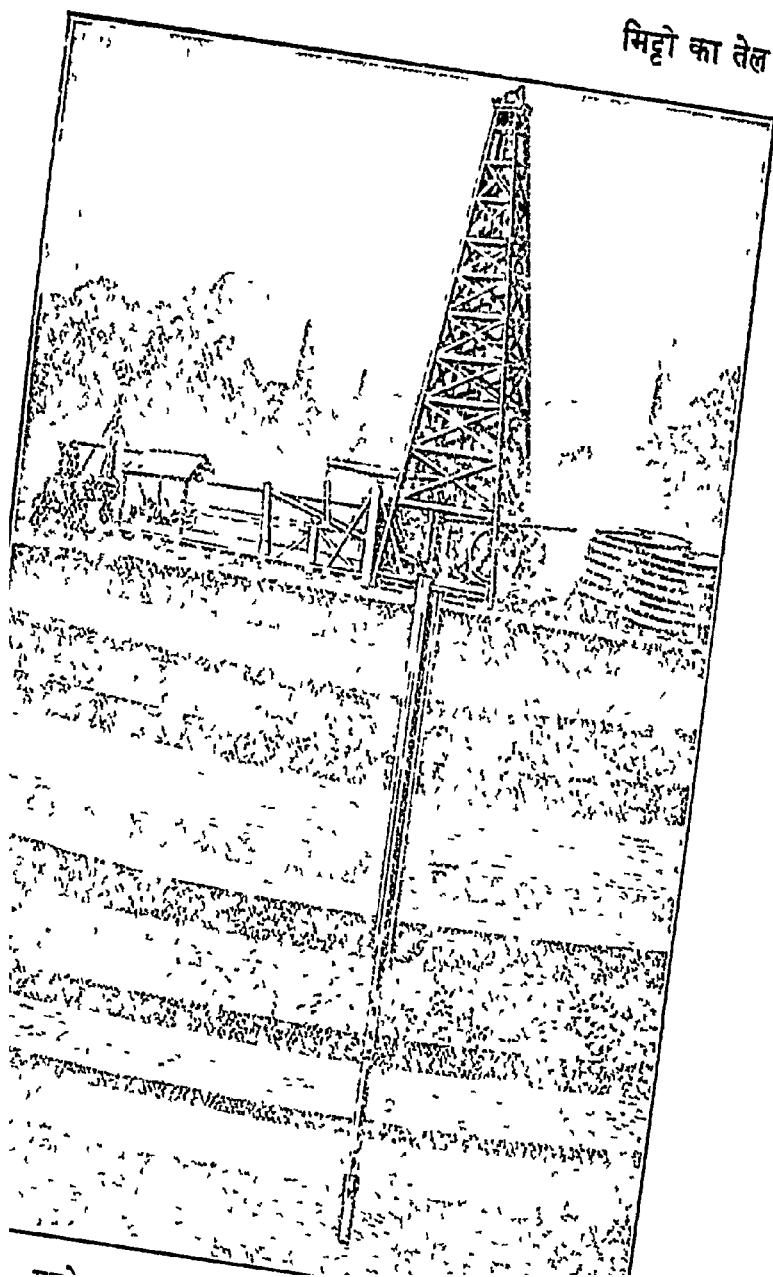
है। तेल के उबलने से जो भाफ़ उठती है उसको इन नलों के द्वारा एक ठण्डे बर्तन मे पहुँचा देने से वह वहाँ जमने लगती है। इस प्रक्रिया में पहले जो चीज़ ठण्डे बर्तन मे सञ्चित होती है उससे कोई विशेष काम नहीं निकलता। उसको फिर पूर्वोक्त प्रकार से उबालने पर गैसोलिन, बेन्ज़िन (Benzone), नैप्था आदि आवश्यक पदार्थ निकलते हैं। कड़ाह मे तेल उबलते-उबलते बीच-बीच मे जो भाफ़ निकलती है वही हमारे परिचित मिट्टी के तेल की भाफ है। यही बड़े-बड़े नलों के द्वारा ठण्डे बर्तन मे पतली होकर मिट्टी का तेल बन जाती है।

इस प्रकार जो तेल प्राप्त होता है वह हमारे परिचित मिट्टी के तेल के समान होने पर भी बाजार के अच्छे मिट्टी के तेल के समान साफ़ नहीं होता। उसमे प्रति सैकड़े दो भाग गन्धक का रस (Sulphuric Acid) मिलाने से मैल कटकर नीचे बैठने लगता है और साथ ही साथ तेल भी बहुत साफ़ और दुर्गन्ध-हीन हो जाता है। बढ़िया तेल बनाने के लिए इस तेल मे अमोनिया (Ammonia) अथवा दाहक सोडा (Caustic Soda) मिलाना पड़ता है। इससे तेल मे रत्ती भर भी मैल नहीं रहता और दुर्गन्धि भी प्रायः नष्ट हो जाती है।

कड़ाह मे मलिन खनिज तेल के उबालने से पहले जो नैप्था आदि की भाफ़ निकलकर सञ्चित होती है वह तेल का

काम बिलकुल नहीं दे सकती, परन्तु सस्ती होने के कारण अनेक व्यवसायी अधिक लाभ के लिए बढ़िया मिट्टी के तेल मे इस वस्तु को अक्सर मिला देते हैं। लैम्प (Lamp) में आग लग जाने के कारण जो दुर्घटनाएँ हो जाती हैं उसका मूल कारण यही नैप्था है। जो तेल १३३° अंश की गरमी पर जलने लगता है उसी को साधारण रीति से बढ़िया तेल कहा जाता है। परन्तु परीक्षा करके देखा गया है कि उसके सौ भागों मे एक भाग नैप्था मिलाने से वह १०३° अंश की गरमी से ही जल उठता है। अच्छे व्यापारियों से मिट्टी का तेल मोल न लेने से कभी-कभी तेल मे प्रति सैकड़ा पाँच भाग तक नैप्था पाया गया है। यह तेल ८३° अंश की उष्णता से ही जल उठता है, इस कारण ऐसी घटिया चीज़ के व्यवहार से विपत्ति में पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

केवल दुर्घटनाओं से बचने के लिए ही बढ़िया तेल का व्यवहार करना आवश्यक नहीं प्रत्युत कम ख़र्च में अधिक उजेला करने के लिए भी बढ़िया तेल काम में लाना चाहिए। अनेक बार बाज़ार के तेल को अच्छे लैम्प में जलाकर देखा गया है कि लौ से धुआँ बहुत उठता है। यह भी तेल में मिले नैप्था की ही करामात है। ऐसा तेल सस्ता अवश्य मिलता है, परन्तु यह पदार्थ धुँधला उजेला देकर इतनी शीघ्रता से जल जाता है कि इसका व्यवहार करनेवाले प्रत्येक गृहस्थ को ही

हानि सहनी पड़ती है। इसके सिवा अचानक दुर्घटनाओं की सम्भावना बनी ही रहती है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि अच्छा तेल जलाने से जितनी रोशनी होती है मध्यम श्रेणी के तेल से उसकी तीन-चौथाई होती है।

मिट्टी का तेल आजकल अमेरिका का प्रधान रोज़गार (Article of Export) हो गया है। पृथ्वी के अनेक स्थानों की बड़ी-बड़ी खानें सन् १८६० ईसवी तक अनादृत अवस्था मे थी। देश के अति प्राचीन जङ्गलों के बड़े बड़े वृत्त ही ईंधन का काम देते थे। परन्तु वे जङ्गल अब नहीं रहे। प्रायः सभी जङ्गलों के स्थान मे कृपि के खेत अथवा गॉव और नगर बन गये। इस कारण बड़े-बड़े कल-कारख़ानो के ईंधन के लिए हम लोगों को रत्नगर्भा वसुन्धरा देवी की ही शरण लेनी पड़ी। जान पड़ता है, भविष्यत् सन्तानों की सुख-स्वतन्त्रता के लिए ही मानों पृथ्वी ने युगयुगान्तर से इस अमूल्य पदार्थ को रख छोड़ा है।

अति प्राचीन समय में जिस अवस्था में पड़कर वृत्त आदि पृथ्वी के भीतर दब गये, आज पृथ्वी की वह दशा नहीं है। अब वृत्त आदि धरती के भीतर नहीं दब सकते, इस कारण नया कोयला अथवा मिट्टी का तेल उत्पन्न होने की आशा नहीं, तथा पूर्वसञ्चित कोयले आदि का व्यय क्रम से बढ़ता ही जाता है। इस आय-व्यय का लेखा देखकर आधुनिक वैज्ञानिक

बहुत ही चिन्तित हैं। आशङ्का की जाती है कि और सौ वर्ष में पृथ्वी के कोयले और मिट्टी के तेल के भण्डार चुक जावेंगे; परन्तु हम इस आशङ्का का कोई कारण नहीं देखते। यह सच है कि विधाता ने मनुष्य-जाति को अनेक आशीर्वाद देकर प्राणिराज्य के शीर्ष-स्थान में अभिषिक्त किया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसने सृष्टि की रक्षा का अधिकार भी इन्हीं को सौंप दिया है। बड़े-बड़े जङ्गलों के नाश के पीछे जब ईंधन की कमी से मनुष्यों को कष्ट होने लगा तभी विधाता ने अपनी उँगली के सङ्केत से धरती के भीतर नये ईंधन का पता बता दिया। इस भण्डार के भी ख़ाली हो जाने पर उसी विधाता की मूक वाणी ईंधन संग्रह करने के नये-नये सहज उपाय बतला देगी।

दही

खजूर का रस, शहद, दूध आदि कई पदार्थों को खुला रखने से कई घण्टों में ही इनमे विकार हो जाता है। जाँच करने से देखा जाता है कि एक प्रकार की भाफ़ से इन पदार्थों मे झाग उठने लगते हैं। ताड़ी में इस प्रकार के विकार से इतना फेना उठता है कि वह घड़े के भीतर नहीं समाता। इस परिवर्त्तन से इस वस्तु के स्वाद, रङ्ग और गन्ध सभी बदल जाते हैं। विज्ञान की भाषा में यह विकार रासायनिक परिवर्त्तन कहलाता है। प्रचलित भाषा में इसे सड़ना कहते हैं। अँगरेज़ी भाषा मे इसे (Fermentation) कहते हैं। शुद्ध संस्कृत मे इस कार्य को किण्वं कहते हैं। जो भाफ़ उठकर पदार्थों में झाग उत्पन्न करती है वह भी परिचित वस्तु है। वह अङ्गारक वाष्प (Carbonic Acid Gas) के सिवा और कुछ नहीं।

टटका खजूर का रस, ख़ालिस दूध आदि के कुछ देर खुले रहने से उनमे इस प्रकार का विकार देखने से यह विचार होता है कि बाहर से किसी पदार्थ के पड़ जाने से यह विकार उत्पन्न हो गया। यही सच है। क्योंकि वायुशून्य शुद्ध पात्र में रखने से इसमें कोई विकार नहीं देखा जाता। जर्मनी की गोशालाओं का जमाया हुआ दूध (Condensed Milk), इँगलैंड की मछलियाँ

और अमेरिका के बड़े-बड़े उद्यानों के फल-मूल इसी पद्धति से टीन मे वन्द कर हमारे वाज़ारों मे आते हैं; और इसी प्रकार वायु-शून्य डब्बों में फल रखना हमारे देश में भी आरम्भ हुआ है।

जो पदार्थ वायु के साथ आकर ताड़ो आदि में पड़कर उसको विकृत कर देता है उसके विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों ने बहुत कुछ अनुसन्धान किया है। इस अनुसन्धान के द्वारा ज्ञात हुआ है कि वायु में सदा ही नाना प्रकार के जीवाणु घूमते रहते हैं। जीवाणुओं का नाम सुनते ही व्याधियों के जीवाणुओं की बात ध्यान में आ जाती है। परन्तु आज तक इस श्रेणी के जितने जीवों का पता लगा है उनमें व्याधि उत्पन्न करनेवालों की संख्या वहुत ही थोड़ी है। मृत प्राणी अथवा पौधे के शरीर को सड़ा-गला देना, चीनी से मद्य उत्पन्न करना, पौधों की जड़ों में वायु का नाइट्रोजन संग्रह कर रखना, तमाखू में सुगन्ध उत्पन्न करना, रङ्गों को फैलाना आदि अनेक काम इन जीवणाओं के द्वारा ही होते हैं। परन्तु इतना जानकर ही वैज्ञानिक चुप नहीं हो गये। हज़ारों भिन्न जाति के जीवाणुओं मे से आवश्यकता के अनुसार एक-एक जाति को पहचानकर वे उनको अलग-अलग पालने लगे। व्यवसाय के लिए हम लोग रेशम के कीड़ों और लाख के जन्तुओं को पालते हैं। आजकल व्यवसाय के लिए ये सभी जीवाणु पाले जाते हैं। जो जीवाणु मद्य उत्पन्न करते हैं अथवा पौधों की खाद बनाते हैं

उनको पालकर मद्य बनाने के कारखानों में तथा अन्न के खेतों मे डाल दिया जाता है। इसका बड़ा ही विचित्र फल हुआ है।

दही भी जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न होता है। एक जाति के विशेष जीवाणु दूध में आश्रय ग्रहण कर किसी प्रकार का रस उत्पन्न करते हैं, जिसके द्वारा रासायनिक क्रिया आरम्भ हो जाती है। यही जीवाणु दूध का दही बना देते हैं। दही की सुगन्ध और खट्टापन इसी जीवाणु की कृपा का फल है। मक्खन की सुगन्ध तथा विलायती पनीर (Cheese) की सुगन्ध भी इन जीवाणुओं की ही करामात है। विशेष जीवाणु दूध मे पड़कर मक्खन और पनीर बनाते हैं। आजकल विलायती ग्वाले मक्खन और पनीर उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं को पहचानकर उनको अलग-अलग स्थानों मे पालते हैं, और आवश्यकता के अनुसार उनको दूध मे डालकर बढ़िया दही, मक्खन आदि उत्पन्न करते हैं। हमारी गोशालाओं मे भी वही जामन देकर दही बनाने की रीति अभी तक चली आती है। जामन देना और दूध में जीवाणुओं को डाल देना एक ही बात है, परन्तु हमारे जामन मे, दही बनानेवाले शुद्ध जीवाणुओं के सिवा और भी अनेक प्रकार के जीवाणु रहते हैं। इस कारण जामन के द्वारा सदा बढ़िया दही नहीं जमता। दही उत्पन्न करनेवाले जीवाणु ज्योंही अपना काम करते हैं त्योंही अन्य अनावश्यक जीवाणु जामन के साथ दूध में पड़कर उसमे विकार

उत्पन्न करने लगते हैं, इस कारण दही के बदले एक अद्भुत पदार्थ बन जाता है। प्रायः देखा जाता है कि दही नहीं जमता, अथवा पतला फटा हुआ दुर्गन्ध-युक्त पदार्थ बन जाता है। यह सब उन्हीं अनावश्यक जीवाणुओं की ही करतूत है।

जीवाणु केवल रोग उत्पन्न कर अथवा बाहर के पदार्थों में अच्छा-बुरा परिवर्त्तन करके ही नहीं रह जाते; प्रत्युत स्वस्थ और बलवान् प्राणियों के शरीर के भीतर भी आश्रय ग्रहण कर ये नाना प्रकार के कार्य करते हैं। मनुष्य के शरीर के नव द्वारों में से कम से कम कुछ द्वार इनके प्रवेश के लिए खुले हुए हैं। हमारे आहार के साथ अनेक जीवाणु पेट में चले जाते हैं। परन्तु ये यदि व्याधि उत्पन्न करनेवाले जीवाणु न हों तो हमारी कोई विशेष हानि नहीं कर सकते। हमारे पेट में जो पाकरस (Gastric Juice) बनता है उसमें जीवाणुओं का नाश करने की शक्ति रहती है इस कारण पेट में पहुँचकर ये उस रस के संयोग से मर जाते हैं। परन्तु दूसरे मार्ग से हमारे अन्त्र (Intestinos) में जो जीवाणु पहुँच जाते हैं वे अन्त्र-रस (Pancreatic Juice) के द्वारा नष्ट नहीं होते। उस रस में एक क्षार होने के कारण, अन्त्र के भीतर स्थित पदार्थ जीवाणुओं के वंश के विस्तार के लिए उपयुक्त क्षेत्र बन जाते हैं। इस कारण आँतों में स्थित अधपके भुक्त पदार्थों को ये जीवाणु अच्छी तरह सड़ा देते हैं। जिन

जीवाणुओं का कार्य सड़ाना ही है वे संसार का विशेष उपकार तो अवश्य करते हैं परन्तु जब सड़ाने का यह कार्य हमारे शरीर के भीतर होने लगता है तब फल अच्छा नहीं होता। जीवाणुओं के शरीर से जो रस निकलता है उसके रक्त मे मिल जाने से अनेक व्याधियों के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

मनुष्य के शरीर मे इन जीवाणुओं की कार्यवाही पर आधुनिक शारीरवेत्ता अनेक परीक्षाएँ कर रहे हैं। इनके द्वारा जाना गया है कि मनुष्य की अवस्था जितनी अधिक होती जाती है, उसकी आँतों मे हानिकारक जीवाणुओं की संख्या उतनी ही बढ़ती जाती है। स्वस्थ बच्चों की आँतों में वे जीवाणु, एक प्रकार से, नहीं देखे जाते; क्योंकि परीक्षा के द्वारा केवल कुछ दही के जीवाणुओं का पता लगा है। इसके पीछे, बच्चे की अवस्था क्रम से बढ़ने पर, ये सड़ानेवाले जीवाणु दही उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं को निकालकर स्वयमेव आँतों पर अधिकार कर लेते हैं।

फ़्रान्सीसी वैज्ञानिक मेचनिकफ़ (Metchnikoff) ने आजकल जीवाणुओं के विषय मे अनेक गवेषणाओं के द्वारा वैज्ञानिक समाज मे विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की है। मनुष्यो के शरीर के प्रधान शत्रु—बुढ़ापा—का मूल-कारण खोजते हुए इन्होने जीवाणुओ का कार्य देखा। ये कहते हैं कि अवस्था की वृद्धि के साथ ही साथ हमारे शरीर की पाकनाली मे जो

फ़ान्सीसी वैज्ञानिक मेचनिकफ़ ।

जीवाणु अपना घर बनाते जाते हैं उनके शरीर से निकला हुआ विष रक्त में मिलकर बुढ़ापे के लक्षण प्रकट करने लगता है। व्याधि का मूल-कारण जब निश्चयपूर्वक ज्ञात हो जावे तब उसके प्रतीकार का उपाय ढूँढ़ना प्रायः सुसाध्य हो जाता है। मेचनिकफ़ साहब बुढ़ापे की उत्पत्ति का यही एक कारण जानकर उसके निवारण करने का उपाय ढूँढ़ने में प्रवृत्त हुए। इन्होने देखा कि खट्टे पदार्थों मे ये अनिष्ट जीवाणु नही बढ़ते। बच्चों की आँतों मे दही उत्पन्न करनेवाले (Lactic Acid) जीवाणु बहुत रहते हैं, इस कारण बच्चे इन हानिकारक जीवाणुओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। जिस उपाय से प्रकृति स्वयं बच्चो के शरीर के हानिकारक जीवाणुओं का नाश करती है, उसी उपाय से प्रौढ़-पुरुष-शरीर के भीतर के जीवाणुओं को खटाई के द्वारा नष्ट करने का मेचनिकफ़ साहब ने विचार किया। आहार के साथ थोड़ा-सा लैक्टिक ऐसिड (Lactic Acid), अर्थात् दही की खटाई, पेट मे पहुँचाने का इन्हें पहले ध्यान आया। परन्तु परीक्षा मे इसका फल अच्छा नहीं हुआ। यह देखा गया कि पाकयन्त्र मे पहुँचते ही इसका विश्लेष हो जाता है, इस कारण जब यह अँतड़ियों मे पहुँचता है तब जीवाणुओं का विनाश नहीं कर सकता। इसलिए एक ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता हुई जिससे आँतों के भीतर ही किसी प्रकार दही की खटाई उत्पन्न हो जाय। इस समय मेचनिकफ़

साहब ने सोचा कि यदि किसी प्रकार देह के पाकाशय में दही की खटाई उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं (Lactic Acid Bacteria) का स्थायी उपनिवेश बन सके तो सभी गड़बड़ बन्द हो जावे—तब यही जीवाणु दही की खटाई बनाकर हानि-कारक जीवाणुओं को निश्चय-पूर्वक नष्ट कर देंगे।

लैक्टिक ऐसिड उत्पन्न करनेवाले साधारण जीव ८५° अंश से अधिक उष्णता में नहीं पनपते। हमारी पाकनाली की उष्णता प्रायः ६६° रहती है। इस कारण पाकनाली में लैक्टिक ऐसिड के जीवाणुओं का उपनिवेश स्थापन करने का विचार मेचनिकफ़ साहब ने एक प्रकार से छोड़ ही दिया था, परन्तु वे हताश नहीं हुए। दूध के द्वारा जितने खट्टे पदार्थ बनते हैं, अनेक देशों से उन सबका संग्रह कर उन्होंने परीक्षा करना आरम्भ कर दिया। बहुत परीक्षा करने पर उन्हें बलगेरिया (Bulgaria) प्रदेश के एक प्रकार के दही (Yoghurt) में इष्ट जीवाणुओं का पता लगा। ये जीवाणु भी दही का अम्ल—अर्थात् लैक्टिक ऐसिड—उत्पन्न करते हैं; परन्तु इस जाति के साधारण जीवाणुओं से ये कुछ भिन्न होते हैं। हमारे पाक-यन्त्र की उष्णता को सहन करके ये बहुत बढ़ते हैं। मेचनिकफ़ साहब ने अनुसन्धान करके देखा कि बलगेरिया के एक जाति के लोग इस दही को बहुत अधिक खाते हैं, और इनमें से प्रायः सभी दीर्घजीवी और बलिष्ठ होते हैं।

इसके पीछे हमारे देश के दही तथा मिश्र देश (Egypt) के लेबन (Leben) की परीक्षा की गई। दोनों में उन्हीं ताप-सहिष्णु जीवाणुओं का पता मिला। हमारे दही के जीवाणु ६६° अंश से अधिक की उष्णता नहीं सह सकते, परन्तु बलोरिया के दही के जीवाणु प्रायः १२०° अंश तक की उष्णता में जीवित रहते देखे गये हैं। बच्चों की आँतों मे जो स्वास्थ्य-कारक जीवाणु देखे गये हैं वे सब इसी जाति के अन्तर्गत हैं।

इस आविष्कार से दही खाने की ओर सब लोगों की रुचि बढ़ी। यूरोप (Europe) के बड़े-बड़े नगरों मे दही के कारखाने खोले गये। शिक्षित तथा अशिक्षित सभी लोग दही के उपयोग की बात सुनकर आजकल इसको उत्कृष्ट भक्ष्य समझने लगे हैं। यद्यपि अभी यह पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जाता कि दही मनुष्य को दीर्घायु और बलिष्ठ करता है, लेकिन तो भी यह प्रत्यक्ष देखा गया है कि पाकयन्त्र के अनेक रोगों की यह एक उत्तम ओषधि है। अवस्था अधिक होने पर बहुधा मनुष्य अकारण ही अस्वस्थ हो जाते हैं। इस व्याधि के प्रतिकार के लिए दही की शक्ति बड़ी अद्भुत देखी गई है। इसके सिवा रक्तहीनता, पेट का फूलना, अवसन्नता, माथे की पीड़ा आदि छोटे-बड़े अनेक रोगों में यह बहुत लाभ पहुँचाता है। अनुसन्धान करके देखा गया है कि ये सभी रोग पाकनाली के उन्हीं अनिष्टकारक जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न

होते हैं। इस कारण इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि दही के स्वास्थ्यकर जीवाणु ही शरीर के शत्रुओं का नाश कर मनुष्य को नीरोग बना देते हैं। दही में और कोई गुण हो या न हो, किन्तु इसकी अद्भुत पाचक-शक्ति के कारण ही इस पदार्थ को सभी जातियों का प्रधान आहार मानना पड़ता है।

स्वाध्यवर्द्धक होने के कारण ही, बाज़ार में दूकानों पर दही के नाम से जो एक पतला-सा पदार्थ बहुत महँगा बिकता है उसके व्यवहार के लिए पाठकों को कोई परामर्श नहीं देगा। शुद्ध दधि-जीवाणुओं का बनाया हुआ दही ही स्वास्थ्य-कारक होता है। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि स्वाद में, गन्ध मे, अथवा रङ्ग में जो दही घटिया है वह स्वास्थ्य को हानि पहुँचानेवाले जीवों की आवास-भूमि है, इस कारण उसके व्यवहार से स्वास्थ्य को हानि ही पहुँचने की सम्भावना है। घर ही पर अच्छा दही जमानेवाली स्त्रियाँ प्रायः सभी घरों मे देखी जाती हैं। हमारे देश के दही बेचनेवाले निर-क्षर हैं, परन्तु इनमे बहुत काल से पुरुष-परम्परागत अभिज्ञता चली आने के कारण, ये अनिष्टकारक जीवाणुओं को निकाल-कर अपने जामन से ऐसा सुन्दर दही जमा देते हैं कि इनके हाथ का दही अक्सर बिगड़ते नहीं देखा गया। शुद्ध दधि-जीवाणुओं के द्वारा वैज्ञानिक रीति से दही जमाना हमारे देश मे भी आरम्भ हो गया है।

वैबिलन के ज्योतिषी

यूरोप के प्राचीन लेखकों ने वैबिलनवालों को ज्योतिष-शास्त्र का प्रवर्त्तक लिखा है। उनके परवर्त्ती आधुनिक लेखक भी उन्हीं का अनुसरण कर ज्योतिर्विद्या की प्रतिष्ठा का आसन वैबिलनवालों को ही देते रहे। परन्तु आज तक इस बात का किसी ने विशेष अनुसन्धान नहीं किया कि सचमुच ही ये लोग इतने अधिक सम्मान के योग्य हैं कि नहीं; तथा बहुत लोगों ने तो प्राचीन लेखकों के विरुद्ध कोई प्रश्न न उठाकर प्राचीन मत को ही सच मान लिया। हाल में कुछ पाश्चात्य पण्डितों ने प्राचीन लेखकों की युक्तिहीन बातों पर पूरा विश्वास न कर ज्योतिषशास्त्र के इतिहास का, आदि से, यथासम्भव अनुसन्धान आरम्भ किया तथा इसी प्रसङ्ग में वैबिलन के ज्योतिष का इतिहास भी कुछ प्रकट हो गया।

आज तक यह ठीक निर्णय नहीं हुआ कि वैबिलन में ज्योतिष की चर्चा का आरम्भ कब हुआ; तथा किसी समय हुआ भी कि नहीं, इस विषय में भी विशेष सन्देह है। यह ठीक है कि

प्राचीन ग्रन्थों का अनुसन्धान करने से दो-एक स्थानों मे इनका उल्लेख पाया जाता है, परन्तु इससे इनके अभ्युदय के समय का निरूपण करने में कोई सहायता नहीं मिलती। कारण यह है कि इन सब ग्रन्थों के लिपिबद्ध होने का समय एक नहीं दिखाई पड़ता, तथा अनेक ग्रन्थों मे एक ही घटना के विवरण में बहुधा बहुत भेद पाया गया है। इस कारण ऐसी भिन्न प्रकृति के ग्रन्थों मे वास्तविक सत्य का निर्देश करना अब एक प्रकार से असम्भव है, तथा अन्य उपाय से निरूपित काल और विवरण के ऊपर भी सन्देह होता है। वर्त्तमान विद्वानों का अनुमान है कि बेलस नामक प्रसिद्ध राजा के राज्यकाल में वैविलन में ज्योतिष की चर्चा का प्रथम आरम्भ हुआ। बेलस अनेक विद्या-विशारद तथा बहु-गुण-सम्पन्न राजा थे। इनके शासन-काल मे ज्योतिष के अनेक ग्रन्थ लिखे गये। जो प्राचीन ग्रन्थ विख्यात ज्योतिषाचार्य बेरोसस के बनाये हुए प्रसिद्ध हैं वे आधुनिक विद्वानों के मत से वैविलन के उक्त शासक बेलस के ही रचित हैं, बेरोसस ने तो उनका अनुवाद किया था।

सब पुस्तकों का मूल आधार प्रायः अन्धविश्वास और कुछ कुसंस्कार ही पाये जाते हैं। इन सब बातों पर विश्वास करके ही मनुष्य संसार में काम करना आरम्भ करता है। परन्तु निरे विश्वास के आधार पर काम करना उसके लिए शीघ्र ही असम्भव हो जाता है। तब लोग स्वतः दृढ़ अवलम्ब ढूँढ़ने

लगते हैं, और अन्त में पूर्व विश्वास के अनेक संस्कार करके, और उसमें बहुतेरे जोड़-तोड़ लगाकर, अन्धविश्वास के मूल-कारण को जान लेते हैं और पहले के निर्मूल ग्रन्थों को सजीव तथा दृढ़मूल कर लेते हैं। वैविलन की ज्योतिर्विद्या भी पूर्वोक्त प्रकार से ही स्फूर्ति को प्राप्त हुई। पहले पृथ्वी के निवासी ग्रह-नक्षत्र-युक्त आकाश-मण्डल को सांसारिक घटनाओं का अविकल प्रतिविम्ब ही मानते थे, तथा उनके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि ग्रहों के भेद-योग आदि के समय पृथ्वी जिस अवस्था में थी, और उस समय जो घटनाएँ इस पर हुईं, वही घटनाएँ ग्रहों के फिर उसी अवस्था में स्थित होने पर पृथ्वी पर अवश्य दिखाई पड़ेंगी। वैविलन के आदि-ज्योतिषी इस बात को नहीं मानते थे कि ज्योतिषशास्त्र के द्वारा भविष्य घट-नाएँ जानी जा सकती हैं। पृथ्वी पर कोई घटना होने से आकाश में नक्षत्र किस तरह से स्थित रहते हैं, तथा पृथ्वी की घटनाओं और नक्षत्रों की स्थिति में क्या प्रकृत सम्बन्ध है, इसी का निर्णय करना इनकी पुस्तकों का एकमात्र उद्देश्य जान पड़ता है। इसके सिवा इन लोगों का एक विश्वास और भी अधिक प्रवल था। ये कहते थे कि आज पृथ्वी पर जो घट-नाएँ दिखाई पड़ती हैं, यही घटनाएँ तीन लाख साठ हज़ार वर्ष पहले पृथ्वी पर हुई थीं और ३,६०,००० वर्ष पीछे फिर भी यही घटनाएँ होंगी।

किस प्रकार की गणना से वे ज्योतिषी इस तीन लाख साठ हज़ार की संख्या पर पहुँचे, इस विषय में आधुनिक विद्वानों से बहुत मत-भेद है। बहुतों का मत है कि ग्रहादि के परि-दर्शन अथवा अन्य किसी निर्दिष्ट नियम के अधार पर उक्त संख्या का आविष्कार नहीं हुआ। सेमाइट (Semite) धर्मशास्त्र की मूल-संख्या ६ को १० (दोनों हाथों की उँगलियों की संख्या) से गुणा करके गुणनफल ६० को वैबिलन के निवासी "सस्" कहते थे, तथा इसको १० से फिर गुणा करके लब्ध-संख्या ६०० को "नार" कहते थे। यह शेषोक्त संख्या ही उनके धर्मशास्त्रोक्त क्रिया-कार्य मे सदा व्यवहार मे आती थी। यह साक्षात् ईश्वर की दी हुई पवित्र संख्या मानी जाती थी। इससे बहुत लोगों का अनुमान है कि इस स्वर्गीय और पवित्र संख्या ६०० का वर्ग करके ही सम्भवत: वैबिलोनियों ने ३,६०,००० की संख्या प्राप्त की। अस्तु, वैबिलन के ज्योतिषशास्त्र की प्रतिष्ठा के प्रथम उद्योग के इतिहास मे कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। किसी जाति के प्रारम्भिक इतिहास का अनुसन्धान करने से पूर्वोक्त प्रकार के दो-एक संस्कार प्राय: देखे ही जाते हैं। पशु-तुल्य घोर असभ्य जातियों में भी सृष्टि-प्रकरण आदि के विषय में ऐसे ही अनेक विचित्र सिद्धान्त बहुत दुर्लभ नहीं।

वैबिलन मे प्रकृत ज्योतिष-चर्चा का आरम्भ किस समय हुआ सो निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। अकैडियन आदि के अभ्युदय के पहले, अर्थात् ईसवी सन् से सात हज़ार वर्ष पूर्व के जो ग्रन्थ पाये गये हैं उनमे ग्रहण आदि का पूर्ण विवरण और ग्रह-उपग्रह आदि के उदयास्त के विषय में अनेक बातों का उल्लेख पाया जाता है। इससे यह अनुमान होता है कि ईसवी सन् से ७००० वर्ष पूर्व वैविलन के ज्योतिपी कुछ ज्योतिर्विद्या को जानते थे, तथा ग्रहों और तारो को देखने की विधि भी वे कुछ-कुछ जानते थे। अँगरेज़ी संग्रहालय (British Museum) मे प्राचीन वैविलन (Babylon) के कई शिलालेख रक्षित हैं। इनकी सहायता से ज्योतिप-शास्त्र की प्रतिष्ठा के समय का निरूपण करने के लिए कई वर्षों से अनेक प्रकार के उद्योग चल रहे हैं, और यदि ये शिला-खण्ड सचमुच वैबिलन से ही खोदकर निकाले गये हैं तो इस उद्योग के विफल होने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु उक्त पत्थरों पर खुदे हुए ग्रहण आदि के चित्र और विवरणो मे किसी के घटनाकाल का उल्लेख नहीं मिलता; इसलिए सब लोगों ने यह निश्चय किया कि ये अप्रकृत और आधुनिक समय के खुदे हुए हैं। इस कारण ज्योतिप की चर्चा के आरम्भ के प्रकृत काल का निर्णय करना बहुत कठिन है।

वैबिलन के विद्वानों ने आकाश में दृश्यमान नक्षत्रों को अनेक भागों में विभक्त किया, तथा इस ग्रह-नक्षत्र-युक्त आकाश के सब भागों को एक-एक भिन्न देवता के नाम से अभिहित कर उस-उस देवता के निर्दिष्ट गुणों का उस तारकामण्डली (Constellation) पर आरोप किया। ज्योतिषशास्त्र की इस बाल्यावस्था में ग्रह आदि के नामकरण की पूर्वोक्त प्रथा प्रचलित होने के कारण, आकाश की तात्कालिक अवस्था के साथ आधुनिक अवस्था की तुलना करना अत्यन्त कठिन है। एक-एक दिगंश में स्थित सब ग्रह-तारों के एक ही नाम हैं, तथा कभी-कभी गति की विचित्रता के कारण एक ही नक्षत्र के अनेक नाम पड़ गये हैं, इस कारण प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित ग्रह आदि का सम्यक् परिचय पाने का अब अन्य कोई उपाय नहीं रहा। इसके सिवा एक जाति के सात नक्षत्रों के श्रेणी-विभाग के द्वारा नाम रखने की पद्धति अनेक ग्रन्थो में देखी गई है। सुना जाता है कि एक ग्रन्थ में सात ग्रह और सात युगल-तारों को डिफू और मासू के नाम से ही अभिहित किया गया है। इस ग्रन्थ मे नाम रखने का एक और नया उपाय देखा गया है। आकाश के जिस अंश में जो ज्योतिष्क स्थित है उसी अंश के नाम के अनुसार ग्रहों का नाम रक्खा गया है, तथा इसी प्रकार एक-एक निर्दिष्ट तारकापुञ्ज को एक-एक निर्दिष्ट देवता के द्वारा रक्षित मानकर उन देवताओं का वर्ष के नाना अंशों के अधिपति-रूप से उल्लेख किया गया है।

प्राचीन ज्योतिष के ग्रन्थ आदि पढ़ने से वैविलनवालों की ज्योतिष-चर्चा का एक गूढ़ कारण दृष्टिगोचर होता है। आज-कल जिस उद्देश्य से हम लोग ज्योतिषशास्त्र की आलोचना करते हैं उतना ऊँचा उद्देश्य आरम्भ मे नही था; किसी प्रकार शुभ-अशुभ लक्षण आदि जान लेना ही इनका एकमात्र उद्देश्य था। जान पडता है, इसी हीन उद्देश्य से ज्योतिष-चर्चा का आरम्भ होने के कारण इसकी आशानुरूप उन्नति के कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ते। इस क्षुद्र आकांक्षा का पूर्ण होना ही ये लोग यथेष्ट मानते थे, तथा ज्योतिषशास्त्र के प्रधान अङ्ग—ग्रह-तारको की गति-विधि के निर्णय करने—को ये लोग अनावश्यक समझते थे। किसी आरब्ध कार्य का फलाफल जानने के लिए वैविलन के लोग साधारणत. आकाश के आठ समान भाग करते थे; तथा प्रत्येक विभाग के नक्षत्रों की स्थिति देखकर और पत्रे के द्वारा यह देखकर कि नक्षत्रा की ठीक यही स्थिति पहले कब हुई थी, और यह जानकर कि उस समय आरब्ध कार्यों का क्या फल हुआ था, वर्त्तमान समय के कार्यों का भी वही फल कह देते थे।

बालकों के मन में ज्ञान का उन्मेष होते ही उनका ध्यान पहले काल और स्थान इन दोनों प्राचीन पदार्थों पर स्वयं पहुँच जाता है, तथा क्रम से इन दोनों अनन्त और अव्यय वस्तुओं को बुद्धि के क्षुद्र भाव में आवद्ध कर वे इनको स्मरण

रखने का उद्योग करते हैं, तथा इस चेष्टा से ही समय आदि के परिमाण का एक स्थूल नियम ज्ञात होता है। जान पड़ता है, इसी कारण समय के स्थूल परिमाण के लिए महा असभ्य जाति से लेकर सभ्यतम जातियों तक मे एक ही नियम वर्त्तमान पाया जाता है।

प्राकृतिक परिवर्त्तन में ऋतुओं के बदलने का सहज दृश्य और बड़ा व्यापार देखकर जान पड़ता है कि इसी के द्वारा समय निर्देश करने की प्रथा सब जातियों मे प्रचलित है। एक ऋतु के आरम्भ से उसी ऋतु के फिर लौट आने तक के समय को सभी लोग स्थूल समय-गणना का परिमाण (Measure) मानते हैं। ज्ञान के प्रकाश से हीन महारण्य के निवासी काफ़िरों में भी समय की गणना का यही नियम देखा जाता है, परन्तु भेद इतना है कि सभ्य जातियों ने सूक्ष्म गणना करके और इस समय का 'वर्ष' नाम रखकर, गणना के सुभीते के लिए, इसे (वर्ष को) छोटे-छोटे भागों में विभक्त कर दिया है। वैबिलनवालों में भी पूर्वोक्त साधारण नियम के अनुसार वर्ष गिनने की प्रथा प्रचलित थी, परन्तु महीने इत्यादि के गिनने मे इनके साथ अन्यान्य जातियों की प्रथा का कुछ भी मेल नहीं दिखाई पड़ता। इन्होंने वर्ष को दस महीनों में विभक्त किया था। परन्तु मालूम नहीं कि इनका वर्ष कितने दिनो का होता था; इससे यह भी नहीं जाना जा सकता कि इनके महीने कितने दिनों के होते थे। तथापि इसमे सन्देह नहीं कि आज-

कल के समान चान्द्रमास प्रचलित नहीं था क्योंकि तीस दिन का महीना होने से दो-तीन वर्ष मे ही महीनों के साथ ऋतुओं का सम्बन्ध टूट जाने से गड़बड़ मच जाती। इस कारण आधुनिक विद्वानों ने अनुमान किया है कि वैविलनवालों का महीना ३६ दिन का था तथा दस महीनों मे वर्ष पूर्ण हो जाता था। मिश्र देश (Egypt) के समान प्राचीन वैविलन के महीनों का कोई विशेष नाम नहीं था। पहला, दूसरा, तीसरा आदि क्रम से संख्यावाचक शब्दों के द्वारा महीनों का परिचय मिलता था। वैविलन मे यही प्रथा बहुत दिनों तक प्रचलित रही। एकैडियन आदि के अभ्युदय के बहुत पीछे इन लोगों ने महीनों के नाम रखना सीखा।

वैविलनवालों ने महीने गिनने का पूर्वोक्त नियम कई शताब्दियों के पीछे बदला, परन्तु यह निश्चय नहीं हुआ कि गणना की प्रथा का संस्कार करके नई प्रणाली के अनुसार बारह महीनों का वर्ष गिनना कब आरम्भ कर दिया। जान पड़ता है कि चन्द्रमा को देखकर ही तीस दिन का महीना सुविधाजनक समझकर उन्होंने यह नवीन रीति प्रचलित की होगी। ईसवी सन् से १००० वर्ष पूर्व जब एकैडियनों ने वैविलन पर अधिकार कर लिया, तब विजय पानेवालों के प्रभाव से वैविलनवालों की प्राचीन गणना-पद्धति में बहुत परिवर्त्तन हो गया, तथा विजय पानेवालों की भी जातीय प्रथा बदल गई। एकै-

डियन लोग पहले वर्ष को १३ भागों में बाँटकर २८ दिन का महीना करते थे; परन्तु वैबिलन जीतने पर और विजित जाति में महीने गिनने की नई रीति देखकर उन्होंने अपनी क्लिष्ट पद्धति छोड़ दी। वे अब वैबिलन के प्रचलित नियमों के अनुसार तीस-तीस दिनों के महीने बनाकर बारह महीनों का वर्ष गिनने लगे। परन्तु इस गणना के द्वारा सूर्य का वर्ष ३६५ दिन से कम का देखकर वे किसी-किसी वर्ष में तेरहवाँ महीना जोड़कर वर्ष की कमी को पूरा करते थे। इस परिपूरक मास का निश्चय अनिर्दिष्ट नियम से पुरोहित ही करते थे। अर्केडियनों के अभ्युदय के पहले वैबिलन-निवासी अपने वर्ष की पूर्वोक्त कमी अन्य उपाय से पूर्ण करते थे। वे लोग प्रतिवर्ष कुछ निर्दिष्ट महीनों के बीसवें दिन के पीछे दो दिन इक्कीसवें ही गिनते थे।

ज्योतिष की सभी बातों में अर्केडियन प्राचीन वैबिलनवालों की अपेक्षा अनेक अंशों में हीन थे, परन्तु दो-एक विषयों में बढ़े हुए भी थे। दिनों और महीनों के अलग-अलग नाम रखने से जो सुभीता होता है उसको ये लोग अच्छी तरह जानते थे। प्रत्येक मास को चार तुल्य भागों में बाँटकर प्रत्येक विभाग के दिनों का, परिज्ञात ग्रहों के अनुसार, नाम रखने की इन लोगों में बड़ी सुन्दर प्रथा थी। अनेक लोगों का अनुमान है कि दिन आदि के नाम रखने की वर्त्तमान प्रचलित प्रथा अर्केडियन ज्योतिषशास्त्र से ही ली गई है।

वैबिलनवालों ने अपनी प्राचीन नामकरण-प्रथा को पूर्वा-पर एक अवस्था मे नहीं रक्खा। कालक्रम से इन लोगों ने अपनी भूल समझकर नक्षत्रों के सहज नाम रखने का प्रयत्न किया, परन्तु इस विषय मे अकैडियन लोगों की प्रथा का अनु-सरण नहीं किया। परस्पर निकटवर्त्ती नक्षत्रों को एक-एक श्रेणी मे रखकर, प्रत्येक पुञ्ज का पशु आदि का आकार मान-कर वे उनको मेष, वृष, महिष आदि जीवों के नाम से अभि-हित करने लगे। यह निश्चय नहीं हुआ कि नक्षत्रों के नाम रखने के अनेक अन्यान्य सुन्दर उपायों के रहते हुए वैबिलन-वालो ने इस अपूर्व रीति का अवलम्ब क्यों ग्रहण किया। जिस-जिस जीव के नाम से नक्षत्रपुञ्ज का नाम रक्खा गया है उस-उस जीव की आकृति से नक्षत्रो का कोई सादृश्य नहीं दिखाई पड़ता। वर्त्तमान विचारशील विद्वान् अनुमान करते हैं कि नक्षत्रपुञ्ज के उदय-काल के समय कृषि, वाणिज्य आदि कर्तव्य-कार्यों का उल्लेख करके उसके लिए प्रयोजनीय पशु आदि के नाम नक्षत्रो को दिये गये हैं।

पूर्वोक्त प्रकार से नक्षत्रों के नाम रख चुकने पर वैबिलन के ज्योतिषी ज्योतिष के उल्लिखित संकेत और चित्र आदि की सहायता से राशि-चक्र के विभाग-द्वारा अपने पर्यवेक्षण (Ob-servations) और अनुसन्धान के फल को लिखने का उद्योग करने लगे। आधुनिक ज्योतिषियों ने निश्चय किया है कि

राशि-चक्र लिखने की प्रथा सबसे पहले वैबिलनवालों ने ही निकाली और अनेक शताब्दियों के पीछे मिश्र देश के ज्योतिषियों ने वैबिलनवालों से सीखकर पृथ्वी के सब सभ्य देशों में इसको फैला दिया।

यद्यपि वैबिलनवालों ने अपनी उन्नति के समय के पिछले भाग में नक्षत्रों के नाम रखने का उपयोग अच्छी तरह समझ लिया था, परन्तु वर्त्तमान ज्योतिषी उन सब नामों को बिलकुल अर्थशून्य समझते हैं। क्योंकि बहुत से ग्रन्थों में खोजने पर भी यह पता नहीं लगता कि किस नक्षत्र का क्या नाम रक्खा गया है। तो भी थोड़े दिन हुए, पूर्व-वर्णित राशि-चक्र से अङ्कित कई बड़े-बड़े शिला-खण्ड वैबिलन के एक प्राचीन भजनालय के तलघर में मिलने से, तथा वैबिलन के भविष्यद्वक्ताओं के कई प्राचीन पञ्चाङ्ग हाथ लग जाने के कारण, यह आशा की जाती है कि इनके द्वारा नक्षत्रों का परिचय मिलने में अवश्य कुछ सहायता मिलेगी।

पहले कहा जा चुका है कि वैबिलनवाले नक्षत्रों को देखकर उनकी गति का निश्चय करने में नितान्त अनभिज्ञ थे। ये सब नक्षत्र चलायमान हैं और रात्रि में पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हैं—इतना ज्ञान वैबिलनवाले यथेष्ट समझते थे। पृथ्वी के मेरुदण्ड के घूमने से दक्षिणाकाश के जो नक्षत्र प्रायः अदृश्य रहते हैं उनका अचानक उदय हो जाने पर वैबिलनवाले बड़ा

आश्चर्य मानते थे, तथा सब नक्षत्रों के उदय के समय वे अनेक प्रकार के शुभ कार्य और देवोत्सव करते थे। ग्रहों की जटिल गति के विषय मे ये लोग कुछ नहीं जानते थे, तथा बाहर से इनकी गति उच्छृङ्खल और अस्वाभाविक देखकर तथा इनको अपदेवता मानकर इनसे डरते थे, और शान्त चित्तवाले देवताओं की कृपा से विघ्न की शीघ्र शान्ति की प्रार्थना करते हुए, सबसे पहले संसार के नियमो का भङ्ग करनेवाले इन दुष्ट ग्रहो को पूजा आदि के द्वारा तुष्ट करते थे। अनेक लोगों का अनुमान है कि इसी समय से सुप्रसिद्ध सेमेटिक (Semitic) धर्म की स्थापना का आरम्भ हुआ। बैबिलनवाले केवल कल्पित आशङ्काओं के वशवर्त्ती होकर सप्त ग्रहों को अपने उपास्य देवता मानते थे, तथा इसी कारण दुर्भिक्ष, संक्रामक व्याधियों का भय, बिजली आदि आपत्तियों को भी उन्होने देवता मानकर, पूजना सीखा। इसके सिवा चन्द्र और सूर्य के ग्रहणों को महा अशुभ समझकर ये भय मानते थे, परन्तु कुछ दिन पीछे इस मत को छोड़कर चन्द्र और सूर्य के ग्रहणों को शुभ मानने लगे।

इसमें सन्देह नहीं कि वर्त्तमान ज्योतिषी बैबिलन के ज्योतिषशास्त्र को सब प्रकार तुच्छ समझते हैं। डायोडोरस नामक बैबिलन के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि चन्द्र और सूर्य के ग्रहणों के विषय में बैबिलन के ज्योतिषी कुछ भी नहीं जानते, तथा किस उपाय से ग्रहण के

समय का निर्णय किया जाता है सो भी नहीं जानते। बेरोसस ने स्वयं लिखा है कि वैबिलनवाले चन्द्र के आधे भाग को उज्ज्वल और अपरार्द्ध को अन्धकार से ढका मानते हैं। दो-एक प्राचीन यूनानी (Greek) और लैटिन (Latin) ग्रन्थों मे भी ज्योतिष के विषय मे दो-एक पूर्वोक्त प्रकार के भ्रमसंकुल सिद्धान्त लिखे मिलते हैं। आधुनिक विद्वानों का अनुमान है कि यह भी वैबिलनवालों के मूढ़ विश्वास का ही फल है। अलैकज़ैण्डरिया (Alexandria) मे विश्वविद्यालय स्थापित होने पर वैबिलन का ज्योतिष क्रम से मिश्र देश भर में फैल गया; तथा पीछे यूनानी और लैटिन ग्रन्थकार उस समय की विद्या के केन्द्र अलैकज़ैण्डरिया से सम्भवतः यह सब विवरण लेकर लिख गये। वैबिलन से ज्योतिषशास्त्र मिश्र तथा अन्यान्य देशों मे कैसे पहुँचा, इसके विषय मे अनेक मत प्रचलित हैं। आधुनिक विद्वानों मे बहुतों का मत है कि सिलूसियावालों के आक्रमण से पीड़ित होकर और मातृभूमि को त्यागकर जब यहूदी (Jews), सिरियन (Syrians) वैबिलन-वासी (Babylonians) मिश्र देश मे जा बसे तब ये लोग वैबिलन के ज्योतिषशास्त्र तथा उसके कुसंस्कारों को साथ लेकर उनके द्वारा जातीय उत्सव और पूजा आदि करते थे। नवीन अधिवासियों के इस प्रकार अपने जातीय विश्वास आदि को त्याग करने की सम्पूर्ण अनिच्छा प्रकाशित करने पर मिश्र

देश के विद्वानों ने वैबिलन की ज्योतिष विद्या का कुछ अंश लेकर अनेक देशों में फैला दिया।

उपसंहार मे केवल इतना कहना है कि अनेक लोग जो यह समझते हैं कि आधुनिक ज्योतिर्विद्या वैबिलनवालों की बहुत ऋणी है, यह निरी भूल है। वैबिलन के प्राचीन ग्रन्थ-कार बेरासस के यदि सब लुप्त ग्रन्थ मिल जाते तो भी यह आशा नहीं होती कि हमको उनसे कुछ विशेष शिक्षा मिलती। परन्तु आश्चर्य का विषय यही है कि घोर तामसाच्छन्न प्राचीन काल मे भी ज्योतिर्विद्या की उन्नति के लिए वैबिलनवाले प्राचीन ज्योतिषी इसको अपना कर्त्तव्य समझकर, तथा वर्त्तमान समय की परम्परागत सुशिक्षा और आकाश के पर्यवेक्षण के लिए आवश्यक सुन्दर यन्त्रों की सहायता के विना भी, अपनी क्षुद्र आकांक्षा को पूर्ण करने मे कृतकार्य हो सके। यह कुछ कम गौरव की बात नहीं है।

पृथ्वी की बाल्यावस्था

जिस विशाल नीहारिका-राशि से यह समुद्र से घिरी और पौधों से लदी पृथ्वी उत्पन्न हुई वह कहां से आई, अथवा उसमें से बृहस्पति, शनि, पृथ्वी आदि ग्रह कैसे उत्पन्न हुए—इस विषय की हम आलोचना नहीं करेंगे। किसी बड़ी नीहारिका-राशि से विच्छिन्न होकर जिस समय पृथ्वी की सम्पूर्ण सामग्री गरम भाफ के रूप में बड़े वेग से घूमती थी उसी समय को हम पृथ्वी का जन्मकाल कहते हैं। इस जन्मकाल से लेकर हमारी पृथ्वी धीरे-धीरे नदी, समुद्र, टीले, पर्वत तथा वृक्षों-पौधों से संयुक्त होकर प्राणियों का निवास-क्षेत्र कैसे बन गई, इस प्रबन्ध मे हम इसी बात का कुछ आभास देंगे।

जैसे पृथ्वी अब प्राय: चौबीस घण्टों मे एक बार घूम जाती है वैसा पूर्ण आवर्त्तन करने के लिए उसे बाल्य-काल मे इतना समय नहीं लगता था। ठीक समय का निरूपण करना तो कठिन है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि जिस समय की बात हम कह रहे हैं उस समय पृथ्वी प्रति घण्टे तीन-चार

बार तो अवश्य घूम जाती थी। आजकल पृथ्वी चौबीस घण्टों में एक पूरा चक्कर लगाती है इस कारण हम लोग चौबीस घण्टों मे एक बार सूर्य का उदय और अस्त देखते हैं; परन्तु यदि हमारा अनुमान सच हो तो कहना पड़ेगा कि उस प्राचीन युग मे जीवशून्य पृथ्वी पर प्रति घण्टे मे कम से कम तीन-चार बार सूर्य का उदय और अस्त होता था। उस समय पृथ्वी का केन्द्रस्थान कदाचित् जमकर कड़ा हो गया था, परन्तु पृष्ठ-भाग उस समय भी अत्युष्ण, तरल, और वायु के आवरण से घिरा हुआ था। काल-क्रम से इस आवरण के जमने से ही आजकल के नदी, समुद्र, पहाड़ आदि बन गये हैं।

इस समय हमारे आकाश मे नाइट्रोजन और अक्सिजन, वायु के आकार में, स्थित हैं। इनके सिवा कुछ अङ्गारक वाष्प और पानी की वाष्प भी वर्त्तमान हैं। सिर पर कोई बोझ उठाने से उठानेवाले के सिर पर उसका दबाव पड़ता है। हमारी पृथ्वी को जो नाइट्रोजन, अक्सिजन आदि वाष्प घेरे हुए हैं उनका भी इस भूपृष्ठ पर दबाव पड़ता है। गणित करके देखा गया है कि आकाश के वायुरूप पदार्थों का इस समय प्रति-वर्गइञ्च (Inch) स्थान पर प्राय: साढ़े सात सेर दबाव पड़ता है। इस प्रकार सहज ही अनुमान हो सकता है कि जिस समय नदियों और समुद्रों की जलराशि तथा धरातल के अधि-कांश पदार्थ वायु के रूप मे नवीन पृथ्वी को घेरे थे उस समय

पृथ्वी पर वायुमण्डल का कितना दबाव पड़ता रहा होगा। इस समय के वैज्ञानिकों ने बाल-पृथ्वी के ऊपर दबाव का परिमाण गणित करके प्रतिवर्गइञ्च पर कम से कम ६२ मन का पाया है। इस समय प्रतिवर्गइञ्च पर आकाश की वायुराशि जो साढ़े सात सेर का दबाव डालती है उसका परिचय हमको साधारण रीति से नहीं मिलता, परन्तु हमारे बिना जाने भी वह बहुत काम करता है। पौधों और प्राणियों के शरीर के अनेक अवयव वायुमण्डल के इस दबाव से ही नियन्त्रित देखे जाते हैं। इस अत्युष्ण द्रव पदार्थमय धरातल पर उस समय जीव नहीं रहते थे इस कारण जीव के ऊपर इस ६२ मन के विशाल दबाव का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता था, परन्तु यह कभी नहीं कहा जा सकता कि इस समय इसके कारण धरातल पर कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ।

हम पहले ही कह चुके हैं कि किसी नीहारिका-राशि से विच्छिन्न होकर हमारी पृथ्वी जब मूर्त्ति धारण करने लगी तब सम्पूर्ण धरातल अत्युष्ण तरल पदार्थ से ढका था, तथा इसके आवर्त्तन का वेग भी अत्यन्त अधिक था; इस कारण अनुमान हो सकता है कि पृथ्वी के निरक्ष देश (Equator) के चारों ओर द्रव-पदार्थ एकत्र हो गये थे। पृथ्वी की वर्त्तमान आकृति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह अनुमान यथार्थ है। आवर्त्तन के वेग की प्रबलता से जो द्रव-पदार्थ निरक्ष-देश मे सञ्चित हो

गये थे कालक्रम से उन्हीं के जम जाने पर इस समय मेरु-प्रदेश (Polar Region) की अपेक्षा निरक्ष-देश कुछ ऊँचा हो गया है। परन्तु बाल-पृथ्वी का प्रबल आवर्त्तन-वेग केवल मेरु-प्रदेश को कुछ दबाकर ही शान्त नहीं हुआ। जान पड़ता है, इसका प्रभाव पृथ्वी के नाना वायुरूपी पदार्थों से पूर्ण आकाश पर भी पड़ा। आकाश के वायव-पदार्थों के आवर्त्तन के वेग से निरक्ष-प्रदेश के ऊपर सञ्चित होने के कारण, सम्भवतः पृथ्वी के वाष्पावरण की गम्भीरता बढ़ गई। जहाँ वाष्प का आवरण गहरा होता है वहाँ का गरम द्रव्य जल्दी ठण्डा नहीं होता, परन्तु हलके आवरण के भीतर की वस्तु उष्णता का त्याग कर जल्दी ठण्डी पड़ जाती है। निरक्ष-प्रदेश के ऊपर के आकाश में अधिक वाष्प-द्रव्य सञ्चित होने से, पृथ्वी के मेरु-प्रदेश के वाष्पावरण की गम्भीरता अवश्य कम हो गई होगी; तथा इस कारण निरक्ष-प्रदेश की अपेक्षा मेरु-प्रदेश के द्रव-पदार्थ अधिक शीतल हो गये होंगे। पानी गरम करते समय जैसे बर्तन के नीचे का पानी आग की आँच से स्फीत होकर ऊपर को उठता है, और ऊपर का ठण्डा पानी नीचे बैठकर बर्तन में एक प्रकार का प्रवाह उत्पन्न करता है, सम्भवतः इसी प्रकार पृथ्वी के निरक्ष-देश के गरम द्रव-पदार्थ और मेरु-प्रदेश के शीतलतर तरल-पदार्थों में दीर्घकाल तक प्रवाह चलता रहा है। इस प्रवाह से पृथ्वी के शीतल होने में विशेष सहायता मिली

होगी, तथा आकाश के विशेष स्थान में सञ्चित गम्भीर वाष्प-राशि के हलके आकाश की ओर चलने से भी पृथ्वी की उष्णता घटी होगी।

धरातल पर द्रव-पदार्थों के सञ्चय तथा आकाश की घनी वाष्पराशि में पूर्वोक्त प्रवाह कितने समय तक चलता रहा, इसका अनुमान भी करना कठिन है; परन्तु यह निश्चय है कि इसके पीछे ही अत्युष्ण द्रव-पदार्थ में स्थान-स्थान पर भासमान कठिन-पदार्थ दिखाई पड़ने लगे। यही समय पृथ्वी के स्थल के बनने का आरम्भ कहा जाता है। जैसे आजकल हमारे बड़े-बड़े समुद्रों में पानी भरा हुआ है, उसी प्रकार प्राचीन काल में सारे धरातल पर एक तरल-पदार्थ भरा हुआ था, परन्तु इस द्रव-पदार्थ की घनता सर्वत्र एक-सी न थी। जहाँ उष्णता अधिक थी वहाँ यह अधिक पतला था, तथा जहाँ ताप कम था वहाँ जमकर इसके द्वीप बन जाते थे।

यद्यपि सूर्य बहुत दूर अवस्थित है तथापि पृथ्वी पर उसका प्रभाव बना ही है। इस समय पृथ्वीतल कड़ी मिट्टी और पत्थर बन गया है, इस कारण सूर्य के खिंचाव से भूपृष्ठ पर किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु समुद्र के जल पर इस आकर्षण का प्रभाव प्रतिदिन दिखाई पड़ता है। आधुनिक समुद्र का पानी खींचकर सूर्य जितना प्रबल जलोच्छ्वास उत्पन्न करता है उसकी शक्ति बहुत थोड़ी नहीं होती, परन्तु

प्राचीन समय मे जब द्रवधातुमय समुद्र को छोड़कर धरातल पर और कुछ भी नहीं था उस समय सूर्य के आकर्षण से उत्पन्न ज्वार-भाटा कितने प्रबल वेग से चलता होगा सो हम अनुमान कर सकते हैं। उस समय पृथ्वी का केन्द्रस्थान भी बिलकुल कड़ा नहीं हुआ था इस कारण सूर्य के आकर्षण का प्रभाव भूगर्भ के गम्भीरतम अंश तक पहुँचता होगा। पृथ्वी का उप-ग्रह चन्द्र—आयु मे—पृथ्वी की अपेक्षा बहुत छोटा है, और आधुनिक ज्योतिषशास्त्र के मत से यही पृथ्वी का पुत्र है। भूतत्त्ववेत्ताओं का अनुमान है कि पृथ्वी जब तरल अवस्था मे थी और उस तरल-पदार्थ के ऊपर जब सूर्य के आकर्षण से प्रबल ज्वारभाटा उठता था सम्भवतः उसी समय हमारे चन्द्रमा का जन्म हुआ। सूर्य का आकर्षण ही चन्द्र के जन्म का कारण है। सूर्य पृथ्वी को इस समय जितने बल से खींचकर समुद्र के पानी मे ज्वारभाटा उत्पन्न करता है उस समय भी उतने ही बल से खींचता होगा; परन्तु उस समय का खिंचाव तरल पृथ्वी को बड़ा ही चञ्चल करता होगा, तथा उस खिंचाव के कारण ही पृथ्वी का एक अंश विच्छिन्न होकर चन्द्रमा बन गया होगा। ज्योतिषियों का अनु-मान है कि चन्द्रमा के जन्म के समय पृथ्वी अपने भ्रमण-पथ से ११ या १२ अंश हटकर दो-तीन घण्टे में एक पूर्ण आवर्त्तन (Rotation) समाप्त करती थी। चन्द्रमा की उत्पत्ति के

विषय से ज्योतिष के अन्थों में बहुत मतवाद पाया जाता है, परन्तु आजकल यही सिद्धान्त सब मानते हैं।

उष्ण द्रव-पदार्थ में एक विशेष गुण यह है कि यह अनेक वायवीय पदार्थों का शोषण कर सकता है। जिस वस्तु से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई वह यथेष्ट उष्ण थी, तथा प्रतिवर्गइञ्च स्थान पर ६२ मन के दबाव से उसके अन्तर्गत वाष्प का परिमाण और भी बढ़ गया था। इस अवस्था में जब यह पृथ्वी से विच्छिन्न होकर दूर चला गया तब यह वाष्पराशि उसमें आबद्ध न रह सकी, और दबाव हट जाने से चन्द्रमा से निकलने के लिए प्रयत्न करने लगी। आधुनिक ज्योतिषी कहते हैं कि चन्द्रमा के शरीर पर जो असंख्य बन्द ज्वालामुखी पर्वतों के चिह्न दिखाई पड़ते हैं वे उक्त वाष्प के ही कार्य हैं। जब चन्द्रमा पृथ्वी के शरीर के भीतर था तब पृथ्वी पर आकाश के प्रबल दबाव के कारण ये वाष्पकण बाहर नहीं निकल सकते थे, परन्तु जब पृथ्वी से निकलकर ये दबाव से रहित हो गये तब बाहर निकलने के लिए बलपूर्वक उद्योग करने लगे। चन्द्रमा के जमे हुए आवरण को तोड़कर यह आबद्ध वाष्पराशि बाहर निकलते समय जितने बड़े-बड़े गह्वर बना गई वही हमको दूर से ज्वालामुखी पर्वतों के चिह्न जान पड़ते हैं। किसी सङ्कीर्ण स्थान में बन्द बारूद में आग लगाने से जो भाफ उत्पन्न होती है वह बर्तन को तोड़-फोड़कर बाहर निकलती है तथा साथ

ही उस बर्तन के टूटे टुकड़ों को भी बाहर निकालकर दूर फेक देती है। विद्वानों का मत है कि चन्द्रमा के शरीर में बन्द भाफ जब वेग से बाहर निकलने लगी तब साथ ही साथ चन्द्रमा के शरीर के टुकड़े ऊपर फेंकने लगी। ये टुकड़े ही छोटे-छोटे नक्षत्रों के समान बहुत दिन तक आकाश मे घूमते-घूमते जब पृथ्वी के आकर्षण की सीमा के भीतर आ जाते हैं तब उल्का-पिण्ड बनकर धरातल पर गिर पड़ते हैं। अनेक उल्कापिण्ड, हमारे आकाश की हवा के भीतर से आते समय, वायु के सङ्घर्ष से उत्पन्न ताप से जलकर भस्म हो जाते हैं, तथा उनमें से बड़े-बड़े अधजले होकर भू-पृष्ठ पर गिर पड़ते हैं। इन सब टूटे हुए तारों की परीक्षा करने से हमारी पृथ्वी के मिट्टी, कङ्कर आदि सभी पदार्थ उनमे दिखाई देते हैं। पूर्वोक्त प्रमाणों को विचारने से अनेक लोग यह मानने लगे हैं कि उल्कापिण्ड इस समय स्वाधीन नक्षत्रों के समान विचरते हुए भी पहले पृथ्वी के आत्मज चन्द्रमा के ही अन्तर्गत थे।

यह निश्चय है कि चन्द्रमा के जन्म के समय पृथ्वी पर बड़े सङ्कट का समय उपस्थित हुआ था। चन्द्रमा जन्म लेते ही दूर नही चला गया। पृथ्वी से चन्द्रमा की इस समय जो दूरी दिखाई देती है वह बहुत धीरे-धीरे हुई है। अति निकट रहकर चन्द्रमा पृथ्वी के ऊपर क्या प्रभाव डालता था, यह जानने का कोई उपाय नही तथा इस विषय पर कोई अनु-

मान भी नहीं चलता। क्रम से दूर होते-होते चन्द्रमा जब ३६००० मील दूर था उस समय की अवस्था का विद्वान् लोग अनुमान कर सकते हैं। इतनी दूर पहुँचने मे कितना समय लगा, उसकी भी गणना हो सकती है। इस प्रकार गणना करके देखा गया है कि जन्म ग्रहण करके चन्द्रमा को पृथ्वी से ३६००० मील दूर जाने मे कम से कम पाँच करोड़ साठ लाख वर्ष लगे होंगे।

पृथ्वी के भीतर क्या है, इस विषय में आधुनिक और प्राचीन विद्वानों में बहुत वाद-विवाद हुआ है। अनेक विद्वानों का मत है कि धरती पर हम जो मिट्टी-कङ्कर देखते हैं वह पृथ्वी के भीतर केवल चार सौ मील तक ही है तथा उसके नीचे केन्द्र तक सब स्थान लोह-प्रधान भारी पदार्थों से पूर्ण है। पत्थर, मिट्टी आदि पदार्थ पानी की अपेक्षा तीन गुने अधिक भारी हैं, परन्तु गम्भीर प्रदेश के पदार्थ पानी से प्राय: आठगुने अधिक भारी हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि जब चन्द्रमा का जन्म हुआ था उस समय, जान पड़ता है कि, पृथ्वी का धातुमिश्र अंश पृथ्वी के केन्द्र में कड़ी अवस्था से ही था। केवल भू-पृष्ठ के मिट्टी-कङ्कर ही उस समय तरल और वाष्पाकार होकर पृथ्वी को घेरे हुए थे। इस कारण चन्द्रमा का शरीर पृथ्वी के मिट्टी-कङ्कर से ही बना है। भूगर्भ के गम्भीर प्रदेश मे जो धातुएँ थीं उनको चन्द्रमा अपने शरीर मे धारण न कर सका।

वैज्ञानिकों का मत है कि चन्द्र के जन्म के कुछ काल पीछे ही पृथ्वी सम्पूर्ण कड़ी हो गई। परन्तु उस समय भी धरातल की उष्णता सेण्टिग्रेड (Centigrade) के ११७०° अंश से कम नहीं थी, इस कारण आकाश आजकल के समान निर्मल नहीं था। आदिवाष्प के अवशिष्ट अंश तथा पानी की भाफ से आकाश आच्छन्न था। पृथ्वी का जो आकार हम इस समय देख रहे हैं वह उस समय धीरे-धीरे वनने लगा था। इस विषय मे प्रसिद्ध विद्वानों ने वहुत अनुसन्धान किया है। उनके मत से पृथ्वी की यह अवस्था आज से कम से कम दो करोड़ वर्ष पहले थी। धरातल कड़ा होने पर भी उस समय इसके ऊपर कुछ दूर तक कीचड़ के समान कोमल था, यह मानना पडता है। इस कारण धरातल के जिस भाग पर आकाश का दवाव अधिक पड़ता था वह उस समय कुछ नीचा हो जाता था, तथा जिन स्थानों पर दबाव थोड़ा था वे ऊँचे हो जाते थे। जब धरातल के ऊपर पहाड़, टीले, नदी, समुद्र आदि ऊँचे-नीचे स्थान स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे पृथ्वी के उस समय को उसका आरम्भ कहा जाता है।

पृथ्वी की उष्णता कम होते-होते जब केवल ३७०° अंश मात्र शेष रह गई तब धरातल पर और एक विशेषता देखी गई। आकाश में स्थित पानी की वाष्प-राशि उष्णता की अधिकता के कारण अब तक जम नहीं सकी थी इस कारण धरातल पर

बूँद भर भी पानी नहीं था। जिस समय ताप घटते-घटते ३७०° अंश रह गया उस समय आकाश के पानी की वाष्प-राशि अत्युष्ण वृष्टि के रूप में धरातल पर पड़ने लगी तथा वही नीची भूमि में पहुँचकर वर्त्तमान समुद्र की स्थापना करने लगी।

भूपृष्ठ के उथले आदिम-समुद्र कैसे गहरे होकर वर्त्तमान आकार को प्राप्त हुए, इस विषय मे नाना मत प्रचलित हैं। इनमे से हम केवल एक का उल्लेख करेंगे। इस बात को समझने के लिए जड़-पदार्थों के एक सुपरिचित गुण का स्मरण करना आवश्यक है। पृथ्वी पर हम जितने पदार्थ देखते हैं उनमे से प्रत्येक ही निर्दिष्ट ताप पाकर तरल हो जाता है। लोहे को यदि थोड़ा तपाया जावे तो वह नहीं गलेगा, परन्तु यदि ताप ११५०° पर पहुँच जावे तो वह गलने लगता है। केवल लोहा ही नहीं—सोना, चाँदी, ताँबा, पत्थर, मिट्टी आदि सभी पदार्थ निर्दिष्ट ताप पाकर लोहे के समान गलने लगते हैं। परन्तु इस प्रकार तरल होने के साथ बाहर के दबाव का अति गूढ सम्बन्ध है। जिस बर्तन मे धातु को गलाया जाता है उस पर यदि किसी प्रकार का दबाव डाला जावे तो साधारण वायु के दबाव से वह जितनी उष्णता से गलती थी अब उतनी उष्णता से नहीं गलेगी। ताप अधिक चाहिए। जड़-पदार्थों के इस सुपरिचित गुण को देखकर ही वैज्ञानिक कहते हैं कि यद्यपि भूगर्भ के केन्द्र के समीप का

स्थान अत्यन्त उष्ण है फिर भी वहाँ की धातु और मिट्टी द्रव अवस्था में नहीं हैं, क्योंकि ऊपर से चार हज़ार मील गम्भीर चट्टानें और मिट्टी के स्तर केन्द्र के पदार्थों पर इतना दबाव डालते हैं कि उसका उल्लङ्घन कर लोहा आदि धातुओं को तरल करनेवाला ताप पृथ्वी के केन्द्र मे नहीं है। इस कारण यदि कोई कहे कि भूपृष्ठ के सौ-दो सौ मील नीचे के पदार्थ तरल अवस्था मे हैं तो उस पर विश्वास किया जा सकता है, क्योकि वहाँ ताप की अपेक्षा दवाव थोड़ा है। किन्तु यदि कोई कहे कि पृथ्वो का केन्द्र-प्रदेश केवल तरल धातु से भरा है तो उस पर किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता।

पूर्वोक्त कथन के आधार पर आधुनिक वैज्ञानिक समुद्र के क्रमानुगत प्रसार का जो व्याख्यान देते हैं अब उसकी आलोचना करना उचित है। पृथ्वी के अधिकांश समुद्र की गहराई हम लोग जानते हैं, इस कारण सम्पूर्ण समुद्र के पानी के परिमाण का हिसाव किया जा सकता है। इस हिसाव से समुद्र की गहराई २ मील ७०० गज़ से कुछ कम होती है। पृथ्वी का पानी यदि नदो और समुद्र की गहराई मे न जाकर सम भाव से समूचे धरातल पर फैला रहता तो पानी की गहराई कितनी होती? उस दशा मे पानी की गम्भीरता १ मील १२०० गज़ से कुछ अधिक होती। इस कारण मानना पड़ता है कि जिस समय समुद्र का पानी भाफ के रूप में आकाश मे भासमान

था उस समय वह एक मील १२०० गज़ ऊँचे पानी के स्तूप के दबाव के तुल्य बोझ से भूपृष्ठ को दबाये हुए था। अब मान लो कि एक दिन अकस्मात् आकाश के सम्पूर्ण पानी की भाफ जमकर धरातल की नीची भूमि में स्थित हो गई। इससे स्थल के ऊपर का दबाव अवश्य कम हो जावेगा, तथा नीची भूमि के जिस अंश में पानी सञ्चित होगा उसके ऊपर का दबाव बढ़ जावेगा। समुद्र की उत्पत्ति के पीछे इस प्रकार स्थल-भाग के ऊपर दबाव के घटने के आधार पर ही आधुनिक विद्वान् समुद्र के क्रमिक प्रसार का व्याख्यान देने का उद्योग करते हैं। ये कहते हैं कि स्थल भाग पर जब पानी की भाफ का दबाव था तब उष्णता का परिमाण प्रचुर होने पर भी भूगर्भ का अंश बहुत दूर तक कड़ी अवस्था मे था क्योंकि दबाव की अधिकता के कारण कोई वस्तु सहज ही नही गल सकती थी। परन्तु पानी की उत्पत्ति होते ही यह दबाव घट जाने से स्थलभाग के नीचे के स्तर फिर कठिन आकार में न रह सके। भूगर्भ के ताप से इस अवस्था के पहले की चट्टानें और मिट्टी गलकर स्फीत हो गईं, इस कारण पानी से आच्छादित अंश की अपेक्षा बिना पानी का स्थल-भाग ऊँचा हो जाने से समुद्र की गहराई अधिक प्रतीत होने लगी।

पूर्वोक्त बात केवल अनुमान ही के आधार पर नहीं कही गई है। ताप के प्रयोग से अत्युष्ण पदार्थ को यदि दबाकर

गलने न दिया जावे तो दबाव अथवा ताप के सामान्य घटाव-बढ़ाव से जो आकुञ्चन-प्रसारण होता है वह अनेक परीक्षाओं के द्वारा प्रमाणित किया जा चुका है। अङ्गारक वाष्प को शीतल करने से वह तरल हो जाती है। इस तरल अङ्गारक वाष्प के १२० घन इञ्च (Cubic inch) लेकर ३०° अंश का ताप देने से वह १५० घन इञ्च हो जाता है, तथा वह पदार्थ तरल ही बना रहता है। इन सब प्रमाणों की आलोचना करने से जान पड़ता है कि बाल-पृथ्वी की ऊँची-नीची भूमि की उत्पत्ति, तथा जल-स्थल के संस्थान के विषय मे आधुनिक विद्वानों ने जो सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया है वह, नितान्त युक्तिहीन नहो है।

भूपृष्ठ को विचित्र बनाने मे रासायनिक क्रियाओं का प्रभाव भी बहुत थोड़ा नहीं है। वायु और पानी के प्रवाह आदि की शक्ति से धरातल के आकार मे बहुत परिवर्त्तन हो जाता है, परन्तु हमारे बिना जाने रासायनिक संयोग-वियोग से जो-जो परिवर्त्तन होता है वह उपेक्षणीय विषय नहीं। विद्वानों का अनुमान है कि हमारी पृथ्वी की बाल्यावस्था के अन्तिम भाग मे अन्यान्य शक्तियों के साथ रासायनिक शक्ति भी कार्य करती रही है। धरातल पर जब पहले समुद्रों की उत्पत्ति हुई तब समुद्र का पानी आजकल के पानी के समान ठण्डा नहीं था। इसकी गर्मी आजकल के उबलते हुए पानी की गर्मी से भी अत्यन्त अधिक थी। धरातल के ऊपर के स्तर जिन पदार्थों के बने हैं उन

पर गरम पानी प्रबल रासायनिक कार्य करने लगा, इस कारण समुद्र की उत्पत्ति के साथ ही धरातल पर रासायनिक शक्ति का कार्य आरम्भ हो गया। समुद्र-तल के गम्भीर प्रदेश में जो नाना रासायनिक पदार्थों के स्तर देखे जाते हैं वे इसी के चिह्न हैं।

आधुनिक विज्ञान की सहायता से पृथ्वी की बाल्यावस्था का इतिहास जितना संग्रह किया गया है उसका केवल स्थूल अंश लिखा गया है। इसके पीछे, स्तर-विन्यास आदि से पृथ्वी पर जो परिवर्त्तन हुआ तथा साथ ही साथ भूपृष्ठ का जो हरण-पूरण होता रहा उसकी धारा आज तक बन्द नहीं हुई। इस परिवर्त्तन के द्वारा बाल-पृथ्वी किस प्रकार यौवन अवस्था को पहुँची, तथा अन्त में प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हो गई—इसकी आलोचना किसी और प्रबन्ध में की जायगी।

मङ्गल ग्रह

पृथ्वी के निकट होने के कारण ज्योतिषी मङ्गल ग्रह को बहुत दिनों से अच्छी तरह देख रहे हैं। इस अनुसन्धान के द्वारा इस ग्रह की गति, विधि और प्राकृतिक अवस्था के विषय में अनेक बातें जान ली गई हैं। गत १८९२ ईसवी में मङ्गल ग्रह पृथ्वी के अत्यन्त समीप आ गया था। ज्योतिषियों ने इस अवसर से बहुत लाभ उठाया। अनेक देशों के सैकड़ों ज्योतिषियों ने दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से मङ्गल का पर्यवेक्षण किया। ऐसा सुयोग इसके पीछे बहुत काल तक नहीं मिला। आज कई महीने हुए, फिर वही शुभ मुहूर्त उपस्थित हुआ था। देश-देशान्तर के ज्योतिषियों ने उसी दुर्लभ अवसर पर बड़े-बड़े दूरवीक्षण यन्त्र लेकर फिर से मङ्गल ग्रह का पर्यवेक्षण आरम्भ कर दिया। सन् १८९२ में जिन यन्त्रों के द्वारा पर्यवेक्षण किया गया था, इन १६ वर्षों में, उनमें बहुत उन्नति हो गई है, इस कारण इन उत्तम यन्त्रों के द्वारा जो पर्यवेक्षण किया गया है इसके द्वारा मङ्गल ग्रह के अनेक नवीन समाचार प्राप्त होने की आशा की जाती है।

पाठक अवश्य ही जानते होंगे कि प्रत्येक ग्रह निर्दिष्ट मार्ग का अवलम्बन करके सूर्य की प्रदक्षिणा करता है। पृथ्वी,

मङ्गल, बुध, बृहस्पति प्रभृति छोटे-बड़े सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। ग्रहों का भ्रमण-मार्ग ठीक वृत्त के आकार का गोल नहीं। एक ही केन्द्रवाले (Concentric) दो वृत्तों (Circles) की परिधि (Circumference) के बीच का अन्तर जैसे समान (Constant) रहता है, उसी प्रकार यदि ये मार्ग वृत्ताकार होते तो प्रत्येक दो ग्रहों के भ्रमण-मार्ग (Orbit) के मध्य का व्यवधान भी नियत रहता। सभी ग्रह एक अण्डाकार (Elliptical) मार्ग को अवलम्ब करके सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं और सूर्य इसी वृत्ताभास के एक अधिश्रय (Focus) मे स्थित रहता है। इस कारण परिभ्रमण के मार्गों का परस्पर अन्तर कभी समान नहीं रहता। मङ्गल की अपेक्षा पृथ्वी सूर्य के निकट है इस कारण पृथ्वी जिस अण्डाकार मार्ग से सूर्य की प्रदक्षिणा करती है वह मङ्गल के मार्ग के भीतर ही रहता है। इसके सिवा इन दोनों मार्गों की स्थिति ऐसी विचित्र है कि जब मङ्गल सूर्य के अत्यन्त निकट पहुँचता है तब पृथ्वी सूर्य से बहुत दूर चली जाती है।

पृथ्वी का भ्रमण-मार्ग मङ्गल के भ्रमण-मार्ग के भीतर होने के कारण उसकी अपेक्षा कुछ छोटा है, तथा पृथ्वी के भ्रमण का वेग मङ्गल के वेग से कुछ अधिक है। इन कारणों से जितने समय में पृथ्वी एक बार सूर्य की प्रदक्षिणा करती है उतने काल में मङ्गल प्रदक्षिणा पूरी नहीं कर सकता। इसलिए

समीप से मङ्गल ग्रह को देखना इन लोगों के भाग्य मे प्रतिवर्ष नहीं होता। गणित करके देखा गया है कि मङ्गल और पृथ्वी अपने नियत मार्ग मे भ्रमण करते-करते प्राय: दो वर्ष मे एक बार आसपास हो जाते हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि पृथ्वी और मङ्गल के भ्रमण-मार्ग का व्यवधान सर्वत्र समान नहीं, इस कारण दोनों के मिलने के समय यदि अन्तर बहुत कम न रह जावे तो पर्यवेक्षण अत्यन्त कठिन हो जाता है। इन दोनों ग्रहो के भ्रमण-मार्गों का अन्तर जिन दो स्थानों मे सबसे कम है उन दोनो स्थानों मे ही सन् १८६२ ईसवी मे, तथा गत वर्ष, मङ्गल और पृथ्वी का योग हुआ था। इन दोनों वर्षों में मङ्गल ग्रह के विषय में अनेक नई बातें जानने का ज्योतिषियों को अच्छा अवसर मिला था।

भ्रमण-मार्ग जिस समतल (Plane) में स्थित है उसके ऊपर सीधी खड़ी होकर पृथ्वी नहीं घूमती। इसकी अक्षरेखा (Axis) इस समतल (Plane of Orbit) के साथ प्राय: २३° अंश का एक कोण बनाती है। पाठक अवश्य जानते होंगे कि अक्षरेखा का यह झुकाव (Inclination) ही धरातल पर ग्रीष्म, शीत आदि अनेक ऋतुओं के परिवर्त्तन का कारण है। मङ्गल के पृथ्वी के निकट आने से उसकी अक्षरेखा की परीक्षा करके उसमे भी ठीक इतनी ही वक्रता देखी गई है, तथा मङ्गल के और पृथ्वी के दिनों मे भी कुछ सादृश्य पाया गया है। गणित करके देखा

गया है कि मङ्गल का दिन पृथ्वी के दिन से चालीस मिनट से अधिक बड़ा नहीं होता, तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुएँ केवल पृथ्वी पर ही होती हैं। मङ्गल ग्रह में भी ये छहों ऋतुएँ नियम के अनुसार आती-जाती हैं।

पृथ्वी के साथ मङ्गल ग्रह का केवल इतना ही सादृश्य नहीं है वरन् मङ्गल का बार-बार पर्यवेक्षण करने पर दोनों में और भी अनेक प्रकार की एकता पाई गई है। मङ्गल का व्यास ४२०० मील है। इस कारण मङ्गल का आयतन पृथ्वी से बहुत छोटा और गुरुत्व भ बहुत कम है। गणित करके देखा गया है कि पृथ्वो अपने पृष्ठस्थित पदार्थों को जितने बल से खींचती है मङ्गल केवल उसके ½ बल से खींच सकता है। एक मन पैंतीस सेर के मनुष्य को यदि सहसा पृथ्वी से ले जाकर मङ्गल पर रख दिया जावे तो उसका बोझ आधे मन से अधिक न रहेगा, इस कारण पृथ्वी के मनुष्य मङ्गल पर जाकर धरती से बहुत ऊँचे कूद सकेंगे, और उनके हाथ से फेंका हुआ ढेला पृथ्वी की अपेक्षा ढाई गुना ऊँचा जाकर धीरे-धीरे धरती पर आकर गिरेगा।

ग्रह की लघुता केवल उसके ऊपर स्थित पदार्थों को हलका ही नहीं करती, प्रत्युत लघुता के साथ उसका आकर्षण भी कम होने से सभी प्राकृतिक व्यापार विलक्षण हो जाते हैं। ग्रह आदि के गुरुत्व की अपेक्षा सूर्य, नक्षत्र,

आदि बड़े-बड़े ज्योतिष्कों का गुरुत्व बहुत अधिक है, इस कारण इनका आकर्षण भी अत्यन्त प्रबल है। परीक्षा करके देखा गया है कि इस जाति के बड़े-बड़े ज्योतिष्क हाइड्रोजन, हेलियम आदि हलकी वाष्पों को भी अपने आकाश से निकलकर नहीं जाने देते। नक्षत्रों का आकाश सर्वदा हलके, भारी अनेक प्रकार के पदार्थों की वाष्प से पूर्ण रहता है। पृथ्वी का गुरुत्व मङ्गल से अधिक होने पर भी सूर्य और नक्षत्र आदि की अपेक्षा बहुत कम है। इस कारण पृथ्वी अपने निर्बल आकर्षण से हाइड्रोजन, हेलियम आदि हलकी वाष्पों को आकाश में आबद्ध नहीं रख सकती। ये बहुत काल से पृथ्वी को त्यागकर महाकाश में चली गई हैं। इस समय केवल अक्सिजन, नाइट्रोजन आदि भारी वाष्पें ही हमारे आकाश में भरी हैं। चन्द्र के गुरुत्व और परिमाण दोनों ही पृथ्वी से बहुत कम हैं इस कारण इसके आकाश की अवस्था और भी शोचनीय हो गई है। अक्सिजन और नाइट्रोजन के समान भारी वाष्पों को भी चन्द्रमा खींचकर नहीं रख सकता इस कारण चन्द्रलोक का आकाश एक प्रकार से शून्य ही है। चन्द्रगर्भ से जो पानी की वाष्प अथवा अङ्गारक वाष्प उठती है वह क्षण काल तक आकाश में विचरकर क्रम से सदा के लिए महाकाश में लीन हो जाती है। मङ्गल का गुरुत्व चन्द्रमा के समान नितान्त ही थोड़ा नहीं है इस

कारण इसमें नाइट्रोजन अथवा अक्सिजन के समान भारी वाष्पों के रहने की सम्भावना अधिक है।

मङ्गल के पृष्ठ पर जो पानी की वाष्प है उसके अनेक प्रमाण सन् १८९२ ईसवी तथा उसके पहले के पर्यवेक्षण मे पाये गये थे। पृथ्वी के मेरु के समीप का प्रदेश जैसे शीत-काल में बर्फ़ से ढँका रहता है वैसे ही मङ्गल ग्रह में शीतकाल उपस्थित होने पर उसका मेरु-प्रदेश भी तुषाराच्छन्न देखा जाता है। ग्रीष्म ऋतु आने पर वही मङ्गल की बर्फ़ गलकर मेरु-देश की सफ़ेदी मिटा देती है।

मेरु-प्रदेश के पूर्वोक्त सफ़ेद मुकुट को अनेक विद्वानों ने कड़ी अङ्गारक वाष्प समझा था। अमेरिका के लिक-मानमन्दिर के प्रधान ज्योतिषी पिकारिंग साहब ने इसका प्रतिवाद करके दिखला दिया है कि अङ्गारक वाष्प, कितनी ही ठण्डी क्यों न की जावे, हमारे वायुमण्डल से कम से कम पाँच गुना दबाव पड़े बिना नही जम सकती; परन्तु मङ्गल के आकाश मे पृथ्वी के वायुमण्डल की अपेक्षा बहुत कम दबाव है इस कारण इसमे सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि पानी ही जमकर और बर्फ़ बनकर मङ्गल का शुभ्र मुकुट रचता है; परन्तु पृथ्वी के समान मङ्गल में प्रचुर पानी नहीं, तथा मङ्गल के समुद्र भी पृथ्वी के समुद्रों के समान गम्भीर नहीं हैं। पृथ्वी के जला-शय जैसे उथले होते हैं वैसे ही मङ्गल के समुद्र हैं। शीत के

पीछे वसन्त ऋतु आने पर मेरु-प्रदेश की हिमराशि गलकर इस नीची भूमि में पानी भर देती है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि मङ्गल की अपेक्षा पृथ्वी का गुरुत्व बहुत अधिक है, इस कारण इसके आकर्षण का परिमाण भी मङ्गल से बहुत अधिक है। इस आकर्षण से यद्यपि पृथ्वी अत्यन्त हलकी वाष्पों को खींचकर नहीं रख सकती परन्तु पानी की वाष्प को सहज ही छोड़ भी नहीं सकती। इस कारण यह अनेक रूप धारण कर सदा भूपृष्ठ और आकाश में विचरती है परन्तु मङ्गल अपने निर्बल आकर्षण से पानी की वाष्प को आबद्ध नहीं रख सकता इस कारण इसकी वाष्प धीरे-धीरे ग्रह को त्यागकर भाग जाती है। पिकारिङ्ग साहब का कथन है कि ग्रह के भीतर से जो पानी की वाष्प निकलती है वही जमकर मेरु-प्रदेश की हिमराशि बन जाती है; तथा वसन्त के आने पर, गलकर पानी और वाष्प बनकर, वह सब की सब ग्रह को छोड़कर चली जाती है। इस प्रकार देखा जाता है कि यद्यपि अभी मङ्गल में पानी है तथापि मङ्गल के भीतर के जल-भण्डार के चुक जाने पर, इसके पृष्ठ पर एक बूँद पानी भी ढूँढे नहीं मिलेगा।

पृथ्वी के वायुमण्डल का दबाव पारे को अनायास ही तीस इञ्च ऊँचा उठा सकता है। गणित करके देखा गया है कि मङ्गल के आकाश का दबाव पारे को सात इञ्च से अधिक नहीं उठा

सकता। यह परीक्षा करके देखा गया है कि मनुष्य कितनी तरल हवा में रहकर प्राण धारण कर सकता है। इस प्रकार ज्ञात
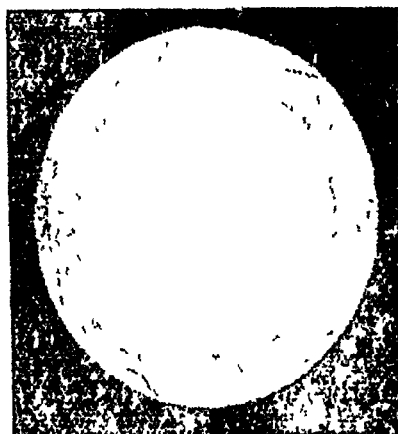
तुषार का शुभ्र मुकुट।

मङ्गल की बर्फ़ का गलना।

हुआ है कि पतली होते-होते हवा में जब पारे को पाँच इञ्च ऊँचा उठाने का भी दबाव नहीं रहता तब उससे श्वास-प्रश्वास का कार्य

नहीं चलता। मङ्गल के वायुमण्डल का दबाव प्रायः सात इंच पारे के भार के समान है इस कारण इस वायु से सांस लेकर तथा ग्रहपृष्ठ के पानी का व्यवहार कर किसी जीव का प्राण धारण करना असम्भव नहीं, परन्तु इतनी प्रतिकूल दशा में पड़कर हमारे समान बुद्धिमान प्राणी मङ्गल ग्रह में जन्म ले सकता है कि नहीं, इस विषय में घोर सन्देह है।

दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से मङ्गल का पर्यवेक्षण करने पर उसके ऊपर कई सुविन्यस्त रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। इनके विषय में आज कई वर्षों से ज्योतिषियों में बहुत विचार हो रहा है। कुछ ज्योतिषी कहते हैं कि ये रेखाएँ मङ्गल के पृष्ठ पर बड़ी-बड़ी नहरें हैं। बर्फ के गलने से उत्पन्न पानी को मेरु-प्रदेश से दूर ले जाने के लिए मङ्गल के प्राणियों ने इन नहरों को खोदा है। ये लोग किसी प्रकार इनको स्वाभाविक नहरें नहीं मानना चाहते। दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा इनको जैसा सरल और सुविन्यस्त देखा जाता है, किसी भी नदी की प्रकृति वैसी नहीं दिखाई पड़ती। इन्हीं युक्तियों के आधार पर ये लोग कहते हैं कि मङ्गल में मनुष्य की अपेक्षा सहस्र गुना बुद्धिमान कोई प्राणी अवश्य रहता है, तथा इन्हीं प्राणियों ने अपनी बुद्धि के कौशल से बड़ी-बड़ी नहरें खोदकर ग्रह के सब भागों में पानी पहुँचा दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मङ्गल के चित्र में कृष्ण रेखाएँ इन्हीं जलप्रणालियों के चिह्न हैं। जब

मेरु-प्रदेश की बर्फ़ गलने लगती है तब ये रेखाएँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती हैं। ज्योतिषी कहते हैं कि जब गली हुई बर्फ़ के पानी से नहरें भर जाती हैं तब उनके दोनों किनारों पर गीली मिट्टी में जो घास उत्पन्न हो जाती है वही इन नहरों को स्पष्ट कर देती है।
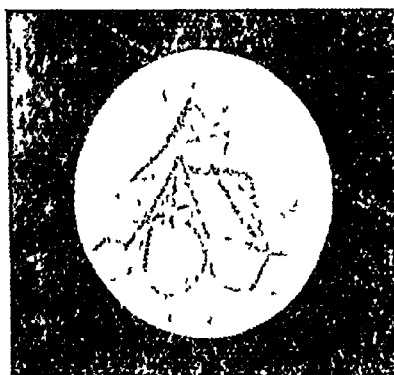
मङ्गल की नहरों की रेखाएं।

कुछ विद्वान् पूर्वोक्त सिद्धान्त का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि मङ्गल की नहरों के समान सुविन्यस्त छोटी-छोटी नहरें चन्द्रमण्डल मे भी स्थान-स्थान पर देखी जाती हैं। इस विषय मे कोई मतभेद नहीं कि चन्द्रमा सम्पूर्ण प्रकार से निर्जीव है, इस कारण जिस प्राकृतिक शक्ति से चन्द्रमा की नहरें बन गई हैं उसी शक्ति के द्वारा मङ्गल की भी नहरों की उत्पत्ति मानना युक्ति-विरुद्ध नहीं जान पड़ता। इसके सिवा मङ्गल के जिस अंश को ज्योतिषी समुद्र मानते हैं उसके ऊपर ही अनेक रेखाएँ अवस्थित देखी जाती हैं, इस कारण पानी ले जाना ही यदि इन नहरों के खोदने का प्रधान उद्देश्य हो तो इन नहरों का कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता। मङ्गल के जो जीव समुद्रों के भीतर नहरें खोदते हैं उनको कभी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता।

मङ्गल ग्रह मे बुद्धिमान् प्राणी निवास करते हैं कि नहीं ? इस विषय पर जो तर्क-वितर्क मचा था वह अभी तक शान्त नहीं हुआ। सभी ज्योतिषी किसी न किसी पक्ष पर विचार कर रहे हैं। इस प्रश्न का निर्णय करने के उद्योग मे जितनी बातों का संग्रह किया गया है उनसे मङ्गल के विषय मे अनेक नवीन तत्त्व ज्ञात हुए हैं, परन्तु तो भी इस विषय मे बहुत कुछ जानना शेष है। जब तक ये बातें पूर्णतया ज्ञात न हो जावे तब तक मङ्गल की प्राकृतिक अवस्था के विषय मे कोई सिद्धान्त प्रतिष्ठित करना असम्भव है। प्रसिद्ध ज्योतिषी सियापारेली (Schiaparelly) साहब ने बहुत काल पूर्व मङ्गल मे जो रेखाएँ देखी थीं, वे गत सन् १८९२ मे पर्यवेक्षण के समय नही दिखाई पड़ीं; परन्तु सन १९०३ के पर्यवेक्षण मे वे फिर उसी स्थान मे दिखाई पड़ीं। मङ्गल ग्रह की इस प्रकार अनेक गड़बड़ों का कोई व्याख्यान आज तक प्राप्त नहीं हुआ।

बीच-बीच मे मङ्गल ग्रह कभी-कभी पृथ्वी के निकट आकर अपना परिचय देने का अवसर देता है। देश-विदेश के ज्योतिषी इस अवसर पर बहुत काम निकालते हैं; इस कारण आशा की जाती है कि इस पर्यवेक्षण के द्वारा विश्व की विचित्र सृष्टि के अति क्षुद्र अंश से रहस्य की जवनिका उठ जावेगी तथा साथ ही साथ परमात्मा की सृष्टि की महिमा का और भी प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का सुअवसर मिलेगा।

नया नीहारिकावाद

(Nebular Theory)

अति प्राचीन समय से ज्योतिषी इस बात को जानते हैं कि सब ग्रह सूर्य के चारों ओर सदा घूमते हैं। परन्तु ये लोग ग्रहों के भ्रमण-मार्ग को सम्पूर्ण वृत्ताकार मानते थे। यदि कोई पूछे कि यह मार्ग त्रिभुज अथवा चतुर्भुज न होकर वृत्ताकार क्यों हुआ तो ये लोग कहते थे कि ज्यामिति (Geometry) के समस्त क्षेत्रों मे एक वृत्त की रचना मे ही सब शृङ्खलाएँ (Systems) वर्त्तमान हैं। इस कारण भगवान् ने ग्रहों को वृत्ताकार मार्ग मे घुमाया है। ज्योतिःशास्त्र के इस औपन्यासिक युग की बात छोड़ देने से देखा जाता है कि सन् १६०९ मे जिस दिन प्रसिद्ध ज्योतिषी केपलर साहब (Kepler) ने ग्रहों को अण्डाकार (Elliptical) मार्ग में घूमते दिखला दिया उसी दिन नवीन ज्योतिष का जन्म हुआ। केपलर साहब इस नवीन तत्त्व का केवल संग्रह करके चले गये, क्योंकि अण्डाकार मार्ग की उत्पत्ति के विषय मे कोई नई बात उन्होंने नहीं कही। इसका मूलतत्त्व जानने के लिए कोई सौ वर्ष तक ठहरना पड़ा। गत सन् १७९६ ईसवी मे अद्वितीय विद्वान् लाप्लास साहब ने संसार की उत्पत्ति के ऊपर एक व्याख्यान देकर इस विषय की मीमांसा

की। इनका यह विश्वास था कि चन्द्र, सूर्य, बृहस्पति, शनि आदि ग्रहों-उपग्रहो के उपादान-पदार्थ किसी समय प्रज्वलित नीहारिका-राशि (Nebular mass) के आकार मे आकाश

जर्मन ज्योतिषी केपलर साहब।

मे घूमते थे तथा इनका सिद्धान्त था कि कालक्रम से इन्ही के जम जाने से संसार बन गया। द्रव-पदार्थ जमकर कड़ा हो जाने से एक पिण्ड बन जाता है। यदि कोई पूछे कि

छ: करोड़ मील की नीहारिका-राशि से सूर्य, पृथ्वी आदि ग्रहों और उपग्रहों का जन्म ।

एक ही नीहारिका के जमने से बहुत-से ज्योतिष्क कैसे बन गये तो वे कहते थे कि जब वह विशाल नीहारिका कड़ी होकर सिकुड़ने लगी तब उसके शरीर के कुछ अंश बीच-बीच में कुण्डलाकार रह गये। इस समय वहीं पिण्डी बनकर मङ्गल, बुध, बृहस्पति पृथ्वी आदि ग्रह उत्पन्न हो गये। उपग्रहों की उत्पत्ति की कथा पूछने पर लाप्लास साहब यह व्याख्यान देते थे कि जिस समय कुण्डल से ये ग्रह उत्पन्न हुए थे उस समय उनकी उपादान-सामग्री के एकत्र होकर पिण्डाकार बन जाने से इनके भी चारों ओर छोटे-छोटे वलय उत्पन्न हो गये। हमारे चन्द्रमा तथा बृहस्पति, शनि और मङ्गल के उपग्रह इन्हीं वलयों में जमकर बन गये हैं।

अस्तु, गत सौ वर्ष से यह अविवाद स्वीकार होता आता है कि घूमते हुए बड़े नीहारिका-स्तूप से विच्युत होकर ही इन सब ग्रहों-उपग्रहों की सृष्टि हुई है। सूर्य को उस नीहारिका-राशि का मूल तथा ग्रहों और उपग्रहों को उसी के छोटे-छोटे विच्छिन्न अंश सभी मानते थे। हाल में अध्यापक सी (T. J. See) साहब ने सृष्टि-तत्त्व के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद कर कई नई बातें बतलाई हैं। सी साहब अमेरिका के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी हैं तथा ज्योतिष की चर्चा में उनका नाम इस समय संसार में प्रसिद्ध है। वैज्ञानिक सामयिक पत्रों (Scientific Periodicals) में पृष्ठ-पृष्ठ पर जो आजकल नये-नये सिद्धान्त पाये

जाते हैं उनमें सी साहब की कथाओं की गणना नहीं है। इनकी प्रत्येक उक्ति गणित के प्रमाण पर प्रतिष्ठित है। इसके सिवा दीर्घकाल तक आकाश का पर्यवेक्षण करके जिन बातों का संग्रह किया गया है उनमे से प्रत्येक इस नये सिद्धान्त से मिलती है। इन सब कारणों से इसका आदर करना पड़ता है। देश-देशान्तर के ज्योतिषी इस पर बहुत विचार कर रहे हैं।

सी साहब इस बात को पहले ही से नहीं मानते थे कि बालसूर्य से स्खलित होकर ही इस सौर-जगत की उत्पत्ति हुई है। प्राचीन काल मे एक विशाल नीहारिकास्तूप का अस्तित्व मान-कर ये कहते हैं कि उसी नीहारिका-राशि के नाना अंशों के जम जाने से शनि, बृहस्पति आदि ग्रह उत्पन्न हुए हैं। इन सब जमे हुए अंशों मे सूर्य ही गुरुत्व तथा आयतन में सबसे बड़ा था इस कारण अपने प्रबलतर आकर्षण से उसने सब दूरवर्त्ती ग्रहों को खींचकर समीप कर लिया है। उपग्रहों की उत्पत्ति के विषय मे भी वे वही बात कहते हैं। हमारा चन्द्रमा तथा शनि, अथवा बृहस्पति के उपग्रह, कभी मूल-ग्रह के अङ्ग नहीं थे। आकर्षण की सीमा के भीतर ही जमना आरम्भ करने के कारण ये ग्रहों के निकट रह गये हैं। आकर्षण का बन्धन तोड़कर भाग जाने की सामर्थ्य अब इनमें से किसी मे नहीं है।

पूर्वोक्त बातों से सिद्ध होता है कि यह सिद्धान्त प्रचलित नीहारिकावाद का नवीन संस्करण है। प्रचलित सिद्धान्त में

का प्रभाव नहीं था। चीनी के रस में जैसे दाने पड़ने (Crystallisation) के समय रस के बर्तन में स्थान-स्थान पर अपने आप ही दाने पड़ने लगते हैं इसी प्रकार नीहारिका में भी ग्रह-पिण्ड बनने लगे थे।

इस नये सिद्धान्त की सहायता से धूमकेतु की एक नई जन्म-पत्रिका प्रस्तुत हुई है। सी साहब कहते हैं कि ये क्षुद्र ज्योतिष्क आदि-नीहारिका के ही सीमान्त-प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। जान पड़ता है, नीहारिका के भीतर का अंश ग्रहों और उपग्रहों की रचना में ही निःशेष हो गया था। इस समय सूर्य के आकर्षण से ये एक बार जगत् के केन्द्र के निकट आकर फिर उसी सीमान्त-वर्ती जन्मस्थान के समीप चले जाते हैं।

बहुत प्राचीन समय से अनेक ज्योतिषी आकाश के विविध अंशों में बहुत नीहारिकाएँ देखते चले आते हैं, परन्तु उनकी उत्पत्ति आज तक ज्योतिःशास्त्र की एक प्रकाण्ड समस्या बनकर रह गई है। नये सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता कहते हैं कि सौ सूर्य के समान नक्षत्र से लेकर छोटे उल्का-पिण्ड तक छोटे-बड़े सभी ज्योतिष्क अपने शरीर से सदा अति सूक्ष्म धूलि-कण निकालते हैं। यही धूलि दीर्घकाल तक इधर-उधर आकाश में विचरती हुई अन्त में एकत्र होकर नीहारिका बन जाती है। प्रायः समग्र आकाश ही ज्योतिष्कों से निकली हुई जिस धूलि से भरा है वह आकाश के प्रकाशचित्र में आजकल स्पष्ट दिखाई पड़ती

है। इस कारण ज्ञात होता है कि ज्योतिष्को के शरीर ही क्षीण होते-होते नीहारिका बन जाते हैं तथा कालक्रम से जमकर फिर नवीन सृष्टि उत्पन्न करते हैं। जन्म-मृत्यु और विकार केवल इस पृथ्वी पर ही नहीं होते प्रत्युत अनन्त-काल-व्यापिनी वही लीला अनन्त नक्षत्रो मे भी दिखाई पड़ती है। मृत्यु सर्वत्र प्राचीन शरीर को नया जीवन देती है।

इन नीहारिकाओ की स्थिति की परीक्षा करने से देखा जाता है कि प्राय: सभी छायापथ (Milky Way) से दूर अवस्थित हैं। इस व्यापार को सौ वर्ष से अधिक पहले इँगलैण्ड के प्रसिद्ध ज्योतिषी सर विलियम हर्शल ने देखा था, तथा उनके विख्यात पुत्र सर जान हर्शल ने इस विषय मे बहुत अनुसन्धान किया था। परन्तु आकाश के अन्य अंशों को छोड़कर नीहारिका-राशियाँ छायापथ से दूर स्थित रहती हैं, इसका मूलकारण नहीं जाना गया। अध्यापक सी गत दश वर्षों से ज्योतिष्को के आकर्षण-विकर्षण का अनुसन्धान कर रहे थे। इसी समय नीहारिकाओं की स्थिति के विषय मे एक नई बात उनके मन मे आई। उसी के आधार पर वे अब कहते हैं कि जब विकर्षणशक्ति (Repulsion) के प्रभाव से ताड़ित होकर नक्षत्रों के शरीर से निर्गत वही धूलिकण नीहारिका बनने लगते हैं तब यह सम्भव नहीं कि वे नक्षत्रसंकुल छायापथ के समीप के प्रदेश मे सञ्चित हों।

यदि पूर्वोक्त कथन सत्य हो तो छायापथ के नक्षत्रों का जो विन्यास देखकर हर्शल साहब विस्मित हो गये थे उसकी एक सुन्दर व्याख्या पाई गई है। सी साहब कहते हैं कि नीहारिकाएँ छायापथ के बाहर रहकर ही जब काल-क्रम से बहुग्रहवेष्टित नक्षत्रों की मूर्त्ति धारण करती हैं तब उसी छाया-पथ के बड़े-बड़े नक्षत्रों के आकर्षण का प्रभाव इन पर पड़ने लगता है। इस कारण दूर जन्म ग्रहण करके भी अन्त में उनको छायापथ की गोद में ही आश्रय लेना पड़ता है।

केवल आकर्षण विकर्षण के मूलतत्त्वों के आधार पर अध्यापक सी साहब ने रहस्य-मय नक्षत्रों की अभिव्यक्ति का इस प्रकार वर्णन किया है। इसके सिवा युगल-नक्षत्र, धूम-केतु, उल्का, ग्रह, उपग्रह आदि सभी नक्षत्रों की उत्पत्ति के व्याख्यान भी इस सिद्धान्त के द्वारा जाने जाते हैं। व्याख्यान देने के लिए जैसे अनेक समय कई अद्‌भुत बातों को मानना पड़ता है वैसे इस समय उनकी कोई आवश्यकता नहीं हुई। जड़-पदार्थों के जो गुण भली भाँति ज्ञात हैं, तथा सैकड़ों परी-क्षाओं के द्वारा जो पूरी तौर से सिद्ध कर दिये गये हैं, केवल उन्हीं के आधार पर सी साहब ने अपना सिद्धान्त खड़ा किया है। मनुष्यों के बनाये हुए नियमों तथा प्राकृतिक नियमों में प्रधान भेद यही है कि प्रकृति समस्त संसार को चिरकाल तक अपने नित्य नियम के अधीन रखती है। प्रकृति के अधिकार में खण्ड-

अंग्रेज़ ज्योतिषी सर जान हर्शेल ।

राज्य नहीं है, एक ही व्यापक और दृढ़ नियम सदा संसार का शासन करता है। इस बात को ध्यान में रखने से प्राकृतिक कार्यों के जो व्याख्यान हमारे चिरपरिचित और परीचित नियमों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं केवल उन्हीं पर विश्वास करने की इच्छा होती है। सी साहब के सिद्धान्त में यह गुण पूर्ण मात्रा में वर्त्तमान है। जान पड़ता है, इसी कारण उनकी बातों पर आजकल इतना विचार किया जा रहा है।

परिवर्त्तनशील नक्षत्रों की बात पाठकों ने अवश्य सुनी होगी। इस जाति (Variable Stars) के नक्षत्रों की चमक स्थिर नहीं रहती। एक निर्दिष्ट समय में, अथवा कभी-कभी अनियमित रूप से, ये अचानक बहुत चमकने लगते हैं। आधुनिक ज्योतिषी इन घटनाओं के अनेक कारण बतलाते हैं। सी साहब कहते हैं कि ज्योतिष्कों के शरीर से निकलकर जो भस्म-राशि महाकाश में व्याप्त हो जाती है वही इस सब परिवर्त्तन का मूल-कारण है। नियत मार्ग से चलता हुआ कोई प्रकाश-हीन ज्योतिष्क यदि घने धूलिपुञ्ज से रगड़ खा जावे तो इस सङ्घर्षण के ताप से उसका प्रकाश बढ़ जाने की सम्भावना है। इसी प्रकार अचानक चमकनेवाले नक्षत्रों को दूर से हम परिवर्त्तनशील तारों के आकार में देखते हैं। जो नक्षत्र जोड़ा-जोड़ा अथवा तीन-चार मिलकर एकत्र अवस्थान करते हैं उनकी भी चमक के नियमित परिवर्त्तन के विषय में यही व्याख्यान

दिया जा सकता है। जिनको हम युगल-नक्षत्र कहते हैं वे सचमुच अत्यन्त समीप रहकर ही निर्दिष्ट काल मे परस्पर एक-दूसरे की प्रदक्षिणा करते हैं। इस कारण इनमें से किसी की कक्षा में यदि कोई धूलिपुञ्ज आ जावे तो प्रत्येक की प्रदक्षिणा में ये धूलि के सङ्घर्षण से जल उठते हैं।

अब तक नवीन ज्योतिःशास्त्र में किसी नक्षत्र की मृत्यु का संवाद लिखा हुआ नहीं मिलता। यह भी आशा नहीं की जाती कि करोड़ों वर्ष जीनेवाले नक्षत्र दो हज़ार वर्ष की बाल-पृथ्वी को मृत्यु का भीषण दृश्य दिखावेंगे। परन्तु नये नक्षत्रों का जन्म बहुत दुर्लभ नहीं। आकाश मे जो स्थान बिलकुल नक्षत्र-हीन हैं उन्हीं मे कभी-कभी नये नक्षत्र चमकते दिखाई पड़े हैं। ये प्रायः कुछ दिन चमककर ही शान्त हो गये। अध्यापक सी साहब इनकी उत्पत्ति के प्रसङ्ग में कहते हैं कि अदृश्य अथवा थोड़े प्रकाशवाले नक्षत्र जब विचरते-विचरते किसी धूलि-पुञ्ज अथवा अन्धे नक्षत्र से रगड़ खा जाते हैं तब प्रायः दोनों ही टक्कर की उष्णता से जल उठते हैं। इस विशाल अग्नि-काण्ड को ही हम दूर से नवीन नक्षत्र समझते हैं।

दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा चन्द्रमण्डल का पर्यवेक्षण करने से ज्वालामुखी पर्वतों (Volcanoes) के गह्वरों (Craters) के समान कई चिह्न चन्द्रमा के सब अंशों में व्याप्त देखे जाते हैं। आधुनिक ज्योतिषी इनको निर्वापित ज्वालामुखी पर्वतों के

छायापथ के एक क्षुद्र अंश के नक्षत्रपुञ्ज ।

विवर ही प्रसिद्ध करते हैं। नये नीहारिकावाद के प्रतिष्ठाता सी साहब इस सिद्धान्त को नहीं मानते। इनके मत से ये उल्कापातों के चिह्न हैं। ढेले फेंकने से जैसे कीचड़ में एक प्रकार के चिह्न बन जाते हैं उसी प्रकार कोमल चन्द्र के शरीर में बहुत-सी उल्काओं के गिरने से किसी समय ये चिह्न बन गये थे।

नवीन नीहारिकावाद की सहायता से ग्रहों के आवर्त्तन (Rotation) और परिभ्रमण (Revolution) इन दोनों की एक सुन्दर व्याख्या पाई गई है, तथा ग्रहों की कक्षा वृत्ताकार न होकर अण्डाकार क्यों हुई, इसका भी कारण जान लिया गया है। सी साहब ने इन सब व्यापारों के गणित के प्रमाण दिये हैं, इस कारण इसके विरुद्ध कुछ भी कहने को नहीं है।

अर्द्ध शताब्दी पहले ज्योतिषी लोग सौर-जगत् को अति क्षुद्र मानते थे। इनका विश्वास था कि शनैश्चर के बाहर सूर्य के परिवार में और कोई ज्योतिष्क नहीं है। इसके पीछे कुछ वर्षों में यूरेनस (Uranus) और नेपच्यून (Neptune) इन दो ग्रहों के आविष्कार से सौर-जगत् का विस्तार बहुत बढ़ गया। सी साहब ने अपने नवीन सिद्धान्त की सहायता से हमारे संसार का प्रमाण और भी अधिक सिद्ध किया है। नेपच्यून ग्रह की कक्षा सूर्य से बहुत दूर होने पर भी आकार में प्राय: वृत्त ही के समान है। ये गणित के प्रमाण से कहते हैं कि यदि नेपच्यून सौर-जगत् के सीमान्त पर होता तो इसकी

कक्षा वृत्त के सदृश न होकर स्पष्ट अण्डाकार होती। इस कारण कहा जाता है कि नेपच्यून के बाहर भी एक या अधिक बड़े-बड़े ग्रह वर्त्तमान हैं। सूर्य से बहुत दूर होने के कारण हमसे अदृश्य होकर ये सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं। समीप भविष्यत् में ही एक दिन ये भी यूरेनस और नेपच्यून के समान अचानक निकल आवेंगे।

अन्य ज्योतिष्क आदि में जीवों का निवास है कि नहीं? इस प्रश्न पर जो दीर्घकाल से विचार हो रहा है उसका विशेष परिचय देना व्यर्थ है। बहुत विचार करके भी ज्योतिषी किसी सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह सके। बहुत दूर के नक्षत्रों की बात जाने दीजिए; हमारे गृहद्वार पर ही जो शुक्र और मङ्गल स्थित हैं उनके भीतर का संवाद जानने पर भी हताश होना पड़ता है। कोई ज्योतिषी इनके आकाश अथवा पृष्ठदेश की अवस्था का ठीक-ठीक निरूपण नहीं कर सका। इस विषय में सी साहब कहते हैं कि जिस एक महानियम के अनुसार इस संसार की रचना हुई है उसने कभी विशेष रूप से पृथ्वी पर कार्य नहीं किया। धरापृष्ठ को जीवों के निवास के योग्य बनाना और जड़-सृष्टि से जीव उत्पन्न करना जब एक ही ब्रह्माण्ड-व्यापी महाशक्ति के कार्य हैं, तब उसी शक्ति की लीलाभूमि अन्य ज्योतिष्कों में भी जीव क्यों न जन्म ग्रहण करें इसका कोई ठीक कारण नहीं देख पड़ता।

ग्रहों की कक्षाएँ

इस अनन्त महाकाश में सहस्र सूर्यों के समान असंख्य नक्षत्रों की उत्पत्ति कैसे हुई, तथा एक-एक नक्षत्र के चारों ओर जो ग्रह-उपग्रह और धूमकेतु निरन्तर घूमते हैं वे कैसे उत्पन्न हुए ? यह महाप्रश्न ज्ञान के प्रथम उन्मेष के साथ ही मनुष्य के मन में उदित हुआ। अनैतिहासिक समय से इस विषय में जितनी किंवदन्तियाँ और जितने अनुमान स्थापित हुए हैं उनकी सचमुच कुछ गिनती नहीं। जड़ के नये-नये धर्मों के आविष्कार कर तथा जड़-पदार्थों के नये-नये रूप देखकर जो विज्ञान इस समय प्रतिदिन उन्नति कर रहा है वह भी प्राचीन मनुष्यों के मन के उसी पुराने प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा कर रहा है। नहीं कह सकते कि यह चेष्टा कब सफल होगी। युग-युग में सृष्टि-तत्त्व की नई-नई बातें सुनी जाती हैं हमारे पितामह जिस सिद्धान्त को पाकर सृष्टि-तत्त्व का किनारा समझने लगे थे उसको वर्त्तमान काल में हमने भ्रमयुक्त जानकर छोड़ दिया है तथा हम किसी नवीन सिद्धान्त के द्वारा सृष्टि के रहस्य की मीमांसा का उद्योग कर रहे हैं। परन्तु इस प्रकार लगातार

पुराने सिद्धान्तों का त्याग और नये सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करने में खेद मानने का कोई कारण नहीं। प्रत्येक सिद्धान्त हमारे ज्ञान के भण्डार में नये-नये रत्न सञ्चित करता है, तथा इन

नीहारिकावाद के प्रतिष्ठाता इमैनुअल कैण्ट।

सिद्धान्तों को वास्तविक घटनाओं से मिलाकर हम नये-नये प्राकृतिक तत्त्वों का सन्धान पाते हैं। प्राकृतिक कार्यों का कारण निर्देश करने से हमको सचमुच अतुलनीय लाभ होता है।

जर्मन विद्वान् कैण्ट (Emmanuel Kant) ने सृष्टि-तत्त्व के प्रसङ्ग में इस बात का आभास दिया था कि बुध, बृहस्पति, मङ्गल आदि ग्रहों से घिरा हुआ जो सूर्य महाकाश मे विराजता है वह किसी प्रज्वलित नीहारिका-राशि से ही उत्पन्न है। फ़ान्सीसी गणितवेत्ता लाप्लास (Laplace) साहब ने कैण्ट के इस कथन का समर्थन कर अपने नीहारिकावाद की प्रतिष्ठा की। परन्तु सम्प्रति इंगलैण्ड के प्रसिद्ध जार्ज डार्विन (George Darwin) आदि विद्वानो ने इस नीहारिकावाद मे सन्देह प्रकट किया है। नीहारिकावाद के आधार पर ज्योतिष के जिन कार्यों की व्याख्या नहीं पाई जाती उन्हीं के ऊपर आजकल उन लोगों की दृष्टि पड़ी है, तथा अव्याख्यात तत्त्वों की व्याख्या देकर कोई नया सिद्धान्त खड़ा करना ही उनके जीवन का व्रत हो गया है। इन लोगों ने सृष्टि-तत्त्व के विषय में जिस नवीन सिद्धान्त का आभास दिया है उसकी आलोचना करना वर्त्तमान प्रबन्ध का विषय नहीं। अध्यापक जार्ज डार्विन ने अपने सिद्धान्त के आधार पर जो एक अव्याख्यात ज्योतिषिक समस्या की व्याख्या देने का उद्योग किया है यहाँ हम उसी का आभास देगे।

पृथ्वी, मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि छोटे-बड़े ग्रह जिस मार्ग से चारों ओर घूमते हैं उस मार्ग से, हज़ारों वर्षों के पर्यवेक्षण से भी, ग्रहो को विचलित होते नहीं देखा। यह बात हम लोगों

भी परिचित होने पर भी बड़ी विस्मयजनक है। केवल यही नहीं, सूर्य से बुध, शुक्र, पृथ्वी, मङ्गल आदि ग्रहों की दूरी नापने से नाप में जो एक अद्भुत शृङ्खला दिखाई पड़ती है वह और भी विस्मयजनक है। ०, ३, ६, १२, २४, ४८, ९६ आदि संख्याओं में एक विशेष सम्बन्ध है। छः तीन का दूना है, और बारह छः का दूना आदि। इस कारण शून्य को छोड़ देने से पूर्वोक्त प्रत्येक राशि पिछली संख्या से दूनी दिखाई देती है। अब यदि प्रत्येक संख्या में चार मिला दिये जावें तो वे संख्याएँ ४, ७, १०, १६, २८, ५२ और १०० हो जावेंगी। बड़े आश्चर्य का विषय है कि सूर्य से बुध, शुक्र, पृथ्वी आदि ग्रहों की दूरी प्रायः ४, ७, १० आदि के अनुरूप ही है।

ग्रहों की दूरी के इस विचित्र नियम को जर्मन ज्योतिषी बोड (Bode) साहब ने ही अचानक देखा था, परन्तु वे अथवा उनके पीछे के कोई ज्योतिषी इसका कारण निर्दिष्ट नहीं कर सके। यद्यपि यह सत्य है कि सौर-जगत् के सीमान्तवर्ती नेपच्यून ग्रह और उसके उपग्रहों को इस नियम के अनुसार चलते नहीं देखा जाता, परन्तु यह कभी नहीं कहा जा सकता कि ग्रहों के विन्यास का यह नियम प्रकृति का एक खेल मात्र है। ग्रहों की कक्षाओं की स्थिरता तथा उनकी दूरी की शृङ्खला (Series) सृष्टि के समय किसी विशेष अवस्था के द्वारा उत्पन्न हुई हैं, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

जार्ज डार्विन और उनके शिष्य नीहारिकावाद का अविश्वास कर कहते हैं कि नाना ग्रहों और उपग्रहों से आकीर्ण जो यह सौर-जगत् दिखाई पड़ता है उसका मूल एक सूर्य ही वर्त्तमान था। सूर्य किसी नीहारिका-राशि से उत्पन्न हुआ होगा, परन्तु पृथ्वी, शुक्र, शनि आदि ग्रह पहले इस नीहारिका के अन्तर्गत नहीं थे। इस बड़े भारी सूर्य ने ही महाकाश से उल्कापिण्डों के समान बहुत से ज्योतिष्कों को खींचकर अनेक ग्रह उत्पन्न कर दिये हैं। इस कथन के आधार पर ही अपने नवीन सिद्धान्त को स्थापित कर जार्ज डार्विन साहब ने ग्रहों और उपग्रहों की कक्षाओं की स्थिरता का कारण निर्देश करने का उद्योग किया है। इस विषय मे डार्विन साहब ने जो अनुसन्धान किया है वह आमूल उच्च गणित से पूर्ण है, इस का.ण—जहाँ तक सम्भव है—गणित की बात छोड़कर हम इस विषय का कुछ स्थूल वर्णन देने का उद्योग करेंगे।

ज्योतिर्विद्या के जो नवीन तत्त्व आविष्कृत हुए हैं उनका अधिकांश नक्षत्रों के अतीत जीवन की आलोचना करने से ही सुलभ हुआ है। दूर भविष्यत् मे ग्रह-नक्षत्रों की क्या अवस्था होगी, उसका आभास वर्त्तमान दशा मे नहीं पाया जाता। इनकी अभिव्यक्ति के विकास के समय जो चिह्न रहते जाते हैं उन्हीं से उनके जीवन के प्रवाह की धारा दिखाई देती है। इस कारण किसी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने के लिए ग्रहों और

Path of Neptune
NEPTUNE
and his Moon
Path of Uranus
URANUS
SATURN
Path of Saturn
JUPITER
VENUS
MERCURY
EARTH
Moon
MARS
and his 2 Moons
Part of Saturns Path
Part of Saturns Path

ग्रहों की कक्षाएँ।

नक्षत्रों की जटिलता-वर्जित प्रथम अवस्था की कथा का स्मरण करना पड़ता है, तथा इस अवस्था से किस क्रम के अनुसार आकर्षण विकर्षण के मध्य मे पड़कर ये वर्त्तमान समय की जटिल अवस्था को प्राप्त हुए सो देखना पड़ता है। जॉर्ज डार्विन ने इसी प्रकार धीरे-धीरे अग्रसर होकर अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने का उद्योग किया है।

अब मान लो कि सौर-जगत् में सूर्य तथा और एक ज्योतिष्क के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस ज्योतिष्क को बृहस्पति मान लिया, और यह किसी चक्राकार मार्ग से सूर्य के चारों ओर घूमता है। अब मान लो कि एक उल्का-पिण्ड अथवा कोई छोटा-सा ग्रह सौर-जगत् मे घुस आया तथा जिस समतल में बृहस्पति सूर्य की प्रदक्षिणा कर रहा है उसी तल (Plane) मे वह नया ज्योतिष्क भी किसी एक ओर चलने लगा। यदि कोई पूछे कि इस दशा मे इस तृतीय ज्योतिष्क की गति-विधि क्या होगी तो हम सहज बुद्धि से ही उसका कुछ उत्तर दे देंगे। परन्तु इसका उत्तर देना इतना सहज नहीं। निपुण गणितवेत्ताओं को भी पूर्वोक्त अवस्था में आपन्न इन तीन ज्योतिष्कों की गति विधि निर्धारित करने मे हार माननी पड़ी है। गणित की सूक्ष्म गणना मे प्रवेश न करके हम यह स्पष्ट समझ सकते हैं कि सूर्य और बृहस्पति के समान दो बड़े-बड़े ज्योतिष्कों के आकर्षण के बीच

में पड़कर क्षुद्र ग्रह की गति अत्यन्त जटिल हो जावेगी। अपने गन्तव्य मार्ग में घूमते-घूमते सूर्य या बृहस्पति के निकट जाकर वह बड़े वेग से उनके समीप पहुँचेगा, तथा किसी प्रकार यदि इनसे बच गया तो धीरे-धीरे दूर चला जावेगा। परन्तु सूर्य और बृहस्पति के समान दो प्रकाण्ड ज्योतिष्कों को अधिक दिन तक धोखा नहीं दिया जा सकता। सूर्य के चारों ओर घूमते-घूमते एक दिन ऐसा अवश्य आवेगा जिस दिन वह भीषण वेग से सूर्य अथवा बृहस्पति में जा पड़ेगा। इस प्रकार सूर्य और बृहस्पति के राज्य में नवागत क्षुद्र अतिथि का अस्तित्व नहीं रहेगा।

अब मान लिया जावे कि सूर्य और बृहस्पति के राज्य में एक ग्रहाकार अतिथि के बदले सैकड़ों छोटे उल्का-पिण्ड प्रवेश कर विचित्र मार्गों में नाना गतियों से विचरने लगे। छोटा होना ही आपत्ति का मूल है, क्योंकि बड़ा छोटे को अपने अधीन रखता है, तथा यह भी नहीं हो सकता कि छोटे-छोटे—दल बाँधकर—परस्पर आकर्षण करें; क्योंकि छोटों की शक्ति थोड़ी होती है। इस कारण इन सैकड़ों अतिथियों की दशा भी पूर्व उदाहरण के एक अतिथि के समान ही होगी। राज्य में प्रवेश करते ही कई को सूर्य और कई को बृहस्पति निगल जावेगा। अवशिष्ट अतिथि दो-चार बार सूर्य अथवा बृहस्पति के अति निकट जाकर भाग सकेंगे, परन्तु बचकर निकल जाने

का सौभाग्य किसी को प्राप्त नही होगा। इनमें से अधिकांश को सूर्य ग्रस लेगा, शेष बृहस्पति के हिस्से में पड़ेंगे। कोई उल्कापिण्ड सूर्य के राज्य में प्रवेश कर कितने समय में सूर्य अथवा बृहस्पति की गोद मे लीन हो जावेगा सो कहना कठिन है। जिस दिशा में और जिस गति से उल्का-पिण्ड सौर-राज्य मे प्रवेश करते हैं उसी दिशा और उसी गति पर उनमें से प्रत्येक के निर्वाण-लाभ का काल निर्भर है। इस प्रकार देखा जाता है कि जो वहुत अनुकूल दिशा और गति से बृहस्पति और सूर्य के अधिकार मे प्रवेश करेगे उन्हीं का जीवन दीर्घ होगा। सहस्रों उल्कापिण्ड अथवा क्षुद्र ग्रहों में से कम से कम दो-चार के इस प्रकार अनुकूल मार्ग और गति से प्रवेश करने में कोई आश्चर्य नहीं। इस कारण, सूर्य अथवा बृहस्पति के क्रोड़ मे आश्रय न लेकर हमारे सुपरिचित ग्रहों के समान इनका निरापद भ्रमण करना ही स्वाभाविक है। जार्ज डार्विन साहब कहते हैं कि सौर-जगत् में बुध, शुक्र, पृथ्वी, मङ्गल आदि जो ग्रह निर्दिष्ट कक्षाओं मे भ्रमण करते हैं उन्होंने अनुकूल दिशा में उपयुक्त वेग से सूर्य के अधिकारक्षेत्र में प्रवेश किया था इसी कारण उनकी कक्षाएँ स्थिर रह गई हैं, तथा जो प्रतिकूल अवस्था में आये थे वे सूर्य अथवा अन्य किसी प्रतापी ग्रह के खिंचाव से इन्हीं ज्योतिष्कों में लीन हो गये हैं, और इस समय वे सूर्य अथवा किसी बड़े ग्रह के अन्तर्गत हैं।

पूर्वोक्त बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैसे स्वास्थ्य के अनुसार मनुष्य अल्पायु अथवा दीर्घजीवी होता है उसी प्रकार नक्षत्र-मण्डल के ग्रह और उपग्रह भी अपने गृह-प्रवेश-काल की गतिविधि की अवस्था के अनुसार अपने अस्तित्व की रक्षा करते हैं। इन दोनों में भेद यही है कि मनुष्य का जीवन एक, दो, दस अथवा सौ वर्ष का होता है, और ज्योतिष्कों का जीवन दो-चार दिन से लेकर करोड़ों वर्षों तक का होता है। किसी प्रकार सूर्य के आकर्षण से बचने की अवस्था में जिस ग्रह ने सूर्य के राज्य मे प्रवेश किया है वह दो-चार लाख वर्ष बचा रहेगा, तथा जिसने और भी अनुकूल अवस्था में प्रवेश किया है वह सम्भवतः करोड़ों वर्षों तक बचा रह सकेगा। परन्तु मृत्यु के मुँह से किसी का निस्तार नहीं; अनन्त काल तक घूमने के लिए अनुकूल गति से कोई ग्रह नहीं आया।

मनुष्य का जीवन जितना छोटा है उसका ज्ञान भी उतना ही अल्प है। अधिक क्या, दस हजार वर्ष पहले का इतिहास भी नहीं मिलता। इस कारण जो ज्योतिष्क दस करोड़ वर्ष तक निरापद होकर सूर्य की प्रदक्षिणा कर सूर्य मे लीन हो जावे उसको हम यदि स्थिर कक्षा का ग्रह कहें तो बहुत भूल न होगी। जार्ज डार्विन और उनके शिष्य इस जाति के दीर्घायु ग्रहों को ही स्थिर-कक्षा-सम्पन्न मानते हैं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि सौर-जगत् अथवा अन्य किसी नक्षत्र के चक्र में आगन्तुक ग्रहों में से जिनकी कक्षा स्थिर मानी गई है उनके दीर्घ अथवा अनन्त जीवन में क्या और कोई विपत्ति नहीं पड़ सकती ? जार्ज डार्विन ने इस प्रश्न का बड़ा विचित्र उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि यदि किसी कारण से यह हमारी पृथ्वी ही—जो एक निर्दिष्ट मार्ग से, नियत काल में, सूर्य की प्रदक्षिणा करती है—अपनी कक्षा से विचलित हो जावे तो फिर इसकी कुशल नहीं। इस समय का विकार धीरे-धीरे बढ़कर इतना हो जावेगा कि फिर पृथ्वी का निस्तार नहीं हो सकता; अपने क्षीणायु भाइयों के समान यह भी सूर्य का ग्रास हो जावेगी।

यह जानने की उत्कण्ठा स्वाभाविक है कि पूर्वोक्त प्रकार से हमारे सौर-जगत् के ग्रहों और उपग्रहों के ध्वंस की सम्भावना है कि नहीं। इस विषय में विद्वानों ने मीमांसा करके जो निर्णय किया है उससे नाश की ही सम्भावना पाई जाती है। जार्ज डार्विन ने जब सूर्य तथा बृहस्पति अथवा अन्य किसी ज्योतिष्क को मानकर गणना की थी उस समय आगन्तुक उल्का पिण्डों की गणना नहीं की थी; तथा यह भी कल्पना कर ली थी कि महाकाश में भ्रमण करते समय बाहर से इन पर कोई विपत्ति नहीं आवेगी। यह कल्पना केवल गणित की सरलता के लिए ही कर ली गई थी। परन्तु प्राकृ-

तिक कार्यों को देखने से जान पड़ता है कि उल्का-पिण्ड आकार में चाहे जितने छोटे क्यों न हों, उनका कुछ भार अवश्य होता है, तथा भ्रमण मे भी उनसे बाधा पहुँचती है। इस कारण अभी हमारे ग्रह और उपग्रह सूर्य की प्रदक्षिणा करते हुए जिस कक्षा में भ्रमण करते हैं उससे यदि कालक्रम से ये तनिक भी विचलित हो जावे तो अवश्य ही मृत्यु के मुँह में जा पड़ेंगे। इस प्रकार, देखा जाता है कि ग्रहों और उपग्रहों के विनाश का बीज उनके साथ ही है। परन्तु इस अवश्यम्भावी मृत्यु से मनुष्यों को डरने का कोई कारण नहीं। हमारे ग्रहों और उपग्रहों की मृत्यु के और भी सैकड़ों बीज छिपे पड़े हैं, तथा उनमें अङ्कुर भी फूटने लगे हैं, इस कारण स्वाभाविक मृत्यु के पहले ही इनके दुष्ट प्रारब्ध से सृष्टि के भी लोप हो जाने की सम्भावना है।

पूर्वोक्त बातों से स्पष्ट समझ में आता है कि सूर्यचक्र के ग्रहों में, स्थूल गणित से, कुछ ग्रहों की कक्षाएँ स्थिर हैं तथा कुछ की नहीं। जिन ग्रहों की कक्षाएँ स्थिर नहीं हैं वे जीवन के संग्राम में कुछ दिन और युद्ध कर शत्रु के हाथ आत्मसमर्पण कर देंगे। जिनकी कक्षाएँ स्थिर हैं वे बाहर के प्रबल शत्रुओं से अपनी रक्षा करके तथा बाहरवालों के साथ अपना चाल-चलन मिलाकर बने रहेंगे। यहाँ भी उन्हीं वृद्ध डार्विन साहब के अभिव्यक्तिवाद के सूत्र भीतर-भीतर काम कर रहे हैं।

अब यह समझना कठिन न होगा कि बुध, शुक्र पृथ्वी और मङ्गल आदि ग्रहों से युक्त इस विशाल सौर-जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई। पहले सूर्य और बृहस्पति ही इस सौर-जगत् मे राज्य करते थे। इसके पीछे दल के दल नये अतिथि उल्का-पिण्ड तथा क्षुद्र ग्रहों के आकार मे आने लगे। ये यथेच्छ प्रकार से अनेक मार्गों में विचरने लगे। यह सुयोग पाकर सूर्य तथा बृहस्पति अधिकांश का ग्रास कर पुष्ट होने लगे। इस प्रकार सौर-जगत् मे छोटे-छोटे उल्का-पिण्ड अथवा धूलिकण भी नही रहे, केवल वही बच रहे जो सूर्य के अधिकार में प्रवेश करते समय अनुकूल गति-विधि से आये थे। ये बचे हुए आगन्तुक ही इस समय, निर्दिष्ट मार्ग मे निर्दिष्ट दूरी पर स्थित होकर, सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं। यही सब सौर-जगत् है।

आधुनिक वैज्ञानिक जिन प्राकृतिक व्यापारों के मूल तक पहुँच गये हैं उनकी जड़ में प्राय: उनको एक ही नियम का पता लगा है। जार्ज डार्विन ने सृष्टि-तत्त्व का जो व्याख्यान दिया है उसमें उन्होने अभी तक किसी निर्दिष्ट नियम का सन्धान नहीं पाया। अभी इस सूत्र का भी आविष्कार नहीं हुआ कि ठीक किस अवस्था मे सौर-जगत् के भीतर प्रवेश करने से नवागत ग्रह चिरनियत कक्षा मे भ्रमण कर सकते हैं। इसके सिवा किस ग्रह की कक्षा स्थिर है और किसकी कक्षा विचरण-शील है, इसके निर्णय करने का नियम भी अभी तक ज्ञात नहीं

हुआ। परन्तु ऐसे लक्षण पाये जाते हैं कि इन सब मूल-सूत्रों का शीघ्र ही आविष्कार हो जावेगा, तथा आशा की जाती है कि ग्रहों की दूरी में जिस सुन्दर शृङ्खला को देखकर बोड साहब विस्मित हुए थे उसका भी कारण शीघ्र ज्ञात हो जावेगा।

आजकल अनेक वैज्ञानिक-आविष्कारों में इस विषय का आभास पाया जाता है कि समस्त संसार एक ही मूल-नियम के आधार पर रचा गया है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु की रचना के साथ विराट् सौर-जगत् के निर्माण की तुलना करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है। जार्ज डार्विन ने जैसे एक बड़े ज्योतिष्क के चारों ओर सैकड़ों छोटे-छोटे उल्का-पिण्डों का अस्तित्व मानकर संसार की अभिव्यक्ति की व्याख्या करने का उद्योग किया है, उसी प्रकार अति सूक्ष्म परमाणुओं के भीतर भी अन्य वैज्ञानिकों ने सैकड़ों अतिपरमाणुओं (Corpuscles) को नियत-भ्रमण करते देखा है। ज्योतिष्कों के समान अतिपरमाणुओं में भी घात-प्रतिघात, संयोग-वियोग तथा नियत कक्षा में परिभ्रमण के लक्षण पाये जाते हैं। इस कारण यदि कहा जावे कि जिस शुभ दिन विराट् ज्योतिष्क मण्डल की अभिव्यक्ति का सूत्र ज्ञात होगा उसी दिन अति सूक्ष्म परमाणुओं के अन्तर्गत सूक्ष्म ब्रह्माण्डों का भी मूल-तत्त्व ज्ञात हो जावेगा तो अत्युक्ति नहीं होगी।

विज्ञान में सूक्ष्म गणना

सूर्य के अत्यन्त निकट जो बुध नामक ग्रह है उसकी अपेक्षा सूर्य गुरुत्व मे ७१ लाख गुना बड़ा है या ७२ लाख, इस प्रश्न की मीमांसा में हमारी कुछ हानि अथवा लाभ नहीं—ऐसा अवैज्ञानिक मित्रों के मुँह से हमने अनेक बार सुना है। वे कहते हैं कि विज्ञान मे इतने सूक्ष्म गणित का क्या प्रयोजन है? पृथ्वी से सूर्य ९ करोड़ २८ लाख ८० हजार मील दूर है, यह सुनकर वे बड़े आश्चर्य से कहते हैं कि 'हाँ, सूर्य बहुत दूर है'। परन्तु यदि कहा जावे कि नवीन गणना के अनुसार सूर्य की दूरी ९ करोड़ ३० लाख मील पाई गई है तो इस बात का उनके मन पर कुछ प्रभाव न होगा। वे यही कहेंगे कि १ लाख २० हज़ार मील के न्यूनाधिक्य से हमारे ज्ञान की क्या वृद्धि हुई? इस सूक्ष्म गणित का कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता।

इन अभियोग-कारियों को एक बात में विज्ञान की सूक्ष्म गणना का प्रयोजन समझाना कठिन है। वर्त्तमान प्रबन्ध में कुछ उदाहरण देकर इस प्रयोजन का विषय हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे।

अब ज्योतिःशास्त्र की ही आलोचना की जावे। विज्ञान की कोई भी शाखा प्राचीनता में इसके समान नहीं। अति प्राचीन युग के सभ्य मनुष्यों को चन्द्र, सूर्य, और ग्रहों की गति-विधि तथा उदयास्त के मध्य में सम्बन्ध देखकर कितना आनन्द होता होगा उसका हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं। परन्तु यह जान पड़ता है कि प्राचीन ज्योतिषी गणना करके जो चन्द्र और सूर्य के ग्रहण तथा ग्रहों के उदय-अस्त आदि व्यापारों को पहले ही से कह देते थे उसी से साधारण अवैज्ञानिक लोगों को आश्चर्य होता होगा। आजकल अँगरेज़ो नाविक पञ्चाङ्ग (Nautical Almanac) तथा हमारे देशीय पत्रों में ग्रहण आदि के विषय में जो भविष्यद्वाणियाँ लिखी रहती हैं उन्हीं के मिल जाने से साधारण लोगों को कम आश्चर्य नहीं होता।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि ज्योतिःशास्त्र मे यह मोहिनी शक्ति कहाँ से आई? विज्ञ पाठक अवश्य ही स्वीकार करेंगे कि ज्योतिष-सम्बन्धी घटनाओं के कारणों का अनुसन्धान कर भविष्यद्वाणी प्रचार करने की सामर्थ्य मनुष्यों को कभी एक दिन में नहीं हुई। बहुत से अनुसन्धानकारकों को वर्षों तक रात भर जागकर इन ज्योतिष्कों की गति-विधि देखनी पड़ी है, तथा गणना में भी समय लगाना पड़ा है। बहुत नाप-जोख करनी पड़ी है, तब कहीं वे ज्योतिःशास्त्र की ओर साधारण लोगों की दृष्टि आकर्षित कर सके हैं।

अनेक लोग समझते हैं कि कुछ काल तक भली भाँति देखकर हम नक्षत्रों की गति-विधि के जो नियम जान लेते हैं उसी के अनुसार भविष्यत् में भी ग्रह और नक्षत्र चलते रहेगे, इस कारण ज्योतिःशास्त्र को अन्त में ज्योतिषियों के हाथ से निकलकर गणित-विशारदों के ही अधिकार में रहना पड़ेगा। क्योंकि इस अवस्था मे गणितज्ञ ही केवल पत्र तथा लेखनी द्वारा गणित करके ज्योतिष की घटनाओं की बात कह सकेंगे। जिन्होंने बड़े बड़े ज्योतिष सम्बन्धी आविष्कारों के इतिहास की आलोचना की है उनसे अवश्य ही ऐसी उक्तियों की आशा नहीं की जाती। दीर्घकालिक पर्यवेक्षण के ऊपर ही छोटे-बड़े सभी ज्योतिष-विषयक नियम प्रतिष्ठित हैं। परन्तु कितनी ही साव-धानी से देख-भाल क्यों न की जावे, यन्त्र के दोष अथवा देखने-वाले की भूल से, गणित मे एक-आध भूल अवश्य ही रह जाती है। प्रारम्भ की यही आवश्यक छोटी-सी भूल कालक्रम से बढ़ते-बढ़ते इतनी बड़ी हो जाती है कि पहले की गणना से जो फल मिलता था अब उससे नहीं मिलता। ग्रहण अथवा अन्य किसी घटना का काल निरूपण करने के लिए गणित के द्वारा ज्योतिषी जो फल पाते हैं उससे ज्योतिष की प्रत्यक्ष घटनाएँ मेल नहीं खातीं। ग़लत छानबीन करके नियम आविष्कार कर चुकने पर नियम का इस प्रकार भ्रमयुक्त निकलना प्राचीन ज्योतिषियों ने पद-पद पर प्रत्यक्ष देखा है। इस प्रकार ज्योतिष

की गणना में सूक्ष्म गणित का प्रयोजन हम अनायास ही समझ सकते हैं। गणना के साथ प्रत्यक्ष घटनाओं का मेल दिखाने के ऊपर ही ज्योतिःशास्त्र की महिमा प्रतिष्ठित है। पहले पर्यवेक्षण मे ही भूल होने से यह मेल रखकर गणना करना सर्वथा असम्भव है। इस कारण साधारण पर्यवेक्षण से किसी नियम का सन्धान पाने पर भी ज्योतिषी निश्चिन्त नहीं रह सकते। वंश पर वंश, वर्ष पर वर्ष और रात्रि पर रात्रि इनको ज्योतिष्कों का बार-बार पर्यवेक्षण करके और बड़े-बड़े गणित के खाते लिखकर जीवन बिताना पड़ता है। हमारे समान अवैज्ञानिक ही इस प्रकार के सूक्ष्म गणित को अनावश्यक समझ सकते हैं, परन्तु ज्योतिःशास्त्र की महिमा इसी दुर्बोध्य और सूक्ष्म गणित के ऊपर प्रतिष्ठित है।

एक उदाहरण देने से हमारा अर्थ स्पष्ट समझ में आ जावेगा। पाठकों ने केपलर साहब के द्वारा आविष्कृत ज्योतिष के नियम अवश्य ही सुने होंगे। साधारण रीति से ये केपलर साहब के नियमों (Kepler's Laws) के नाम से प्रतिष्ठित हैं। जिस समय इन नियमो का पहले प्रचार हुआ उस समय विद्वान् लोग इनको सत्य मानते थे, परन्तु अब देखते हैं कि केपलर के नियमो मे अनेक दोष वर्तमान हैं। उनके स्थूल पर्यवेक्षण से ज्ञात नियमो के अनुसार ग्रह-नक्षत्रो की गति-विधि कई वर्ष तक ठीक देखी गई, परन्तु कालक्रम से उनके प्रथम पर्यवेक्षण

की भूल प्रति वर्ष बढ़ते-बढ़ते बड़ी हो गई, तब ग्रह-नक्षत्रों का केपलर साहब के नियमो के साथ मेल नहीं रहा। इस कारण उन नियमों के संशोधन की आवश्यकता उपस्थित हुई। जगत्-प्रसिद्ध विद्वान् न्यूटन साहब अपने महाकर्षण की नियमावली-द्वारा केपलर साहब के नियमों का संशोधन करने लगे। बहुत सूक्ष्म गणित करने पर मालूम हुआ कि केपलर साहब ने केवल पर्यवेक्षण के द्वारा ही जिन नियमों का आविष्कार किया था वे महाकर्षण के नियमो के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया कि जिस नियम के अनुसार पृथ्वी सेब को धरती पर डालती है, उसी नियम के अधीन होकर सौर-जगत् का प्रत्येक ज्योतिष्क महाकाश में भ्रमण करता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा की गति की वक्रता तथा ज्वार-भाटा आदि प्राकृतिक घटनाएँ जो ज्योतिषियों के लिए कठिन पहेलियाँ बन गई थीं उनके भी कारण ज्ञात हो गये। जब धूमकेतु सौर-जगत् मे प्रवेश कर सूर्य की प्रदक्षिणा करने लगता है; तथा अति दूर स्थान मे युगल-तारे जब परस्पर प्रदक्षिणा करने लगते हैं तब, तले-तले इस महाकर्षण के नियम के अधीन होकर ही सब ज्योतिष्क विचरते हैं यह भी सब लोग जानने लगे। इस प्रकार देखा जाता है कि न्यूटन साहब ने खाता-पत्र लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म गणित करने में जितना समय लगाया उसका अपव्यय नहीं हुआ। उनके सूक्ष्म गणित के प्रभाव

से ही इस समय ग्रह-नक्षत्रों की वर्त्तमान और भविष्यत् गति-विधि को हम लोग सूक्ष्म रूप से जानने लगे हैं, तथा सौर-जगत् को छोड़कर अति दूर के नक्षत्रों का संवाद भी हम लोगों को मिलने लगा है। हम लोग जिस पृथ्वी के ऊपर रहते हैं उसके जन्म-तत्त्व तथा बाल्यावस्था के इतिहास के जानने की इच्छा किसको नहीं होती? न्यूटन साहब ने सूक्ष्म गणना के द्वारा ही इस समय हमारी सब इच्छाओं को पूर्ण किया है। न्यूटन साहब का गणित बहुत सूक्ष्म होने पर भी बिलकुल यथार्थ नहीं। यद्यपि अनेक शताब्दियों से इस नियम के अनुसार गणना करके हम लोगों को इसमे भूल नहीं जान पड़ती तथापि यह कोई नहीं कह सकता कि अति दूर भविष्यत् में भी इसी नियम के अनुसार ग्रहों की चाल रहेगी कि नहीं। परन्तु ऐसे अनेक लक्षण देखे गये हैं जिनसे जान पड़ता है कि बहुत समय पीछे केपलर के नियमों के समान न्यूटन के नियमो का भी संशोधन करना पड़ेगा। दो हज़ार वर्ष पीछे जब न्यूटन के नियम के अनुसार ज्योतिष्क भ्रमण करते न दिखाई पड़ेंगे तभी किसी सूक्ष्मतर गणना-पद्धति की प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी। इस कारण यदि अभी से विद्वान् लोग ज्योतिष की गति-विधि की सूक्ष्म गणना में कालक्षेप करें तो उसको समय का अपव्यय नहीं कह सकते।

हम अब तक सौर-जगत् की बातों पर ही विचार करते रहे परन्तु जो अनन्त नक्षत्र हमारी आँखों के सामने फैले हुए

हैं उनका भी ध्यान करना चाहिए। हर्शल साहब के पीछे बहुत-से ज्योतिषी रातों जागकर नक्षत्रों का पर्यवेक्षण करते रहे, इससे जितना सूक्ष्म गणित और वाद-विवाद उत्पन्न हो गया है उसका पुनरुल्लेख उन लोगों के लिए अनावश्यक है जो आधुनिक ज्योतिःशास्त्र का संवाद जानते रहे हैं। यह भी निकम्मे लोगों के समय व्यतीत करने का उपाय नहीं। चन्द्र और सूर्य के ग्रहण, ग्रहों के उदयास्त तथा उनकी चाल, संक्रान्ति आदि जिन भविष्यद्वाणियों की सार्थकता देखकर साधारण अवैज्ञानिक जन स्तब्ध हो जाते हैं उनका भी मूल-आधार वही सूक्ष्म गणित है। पाठक अवश्य जानते होंगे कि जब हम जरीब (Chain) लेकर धरती नापने लगते हैं तब किसी प्राचीन वृक्ष अथवा अन्य किसी स्थायी वस्तु को केन्द्र मान लेते हैं, तथा उस स्थायी चिह्न से पार्श्वस्थ क्षेत्र की दूरी ही नाप के खाते में लिखी जाती है। सौर-जगत् के ग्रह-उपग्रह आदि की चाल लिखने के लिए भी उसी प्रकार एक स्थायी चिह्न की आवश्यकता है परन्तु अनन्त आकाश मे ऐसा चिह्न कहाँ? ज्योतिषियों ने कोई अन्य उपाय न देखकर नक्षत्रों को ही चिह्न मानकर गणित करना आरम्भ किया। चिह्न (Station) की गड़बड़ होने से ज़मींदार को क्षेत्रविभाग के समय बड़ी उलझन से सामना करना पड़ता है। जिन नक्षत्रों को स्थायी चिह्न मानकर ज्योतिषी गणित करते रहे हैं

उनमें थोड़ा-सा भी अन्तर होने से हिसाब में बड़ी गड़बड़ मच जाती है। इस कारण चिह्न माने हुए नक्षत्रों के ऊपर ज्योतिषियों को सदा तीक्ष्ण दृष्टि रखनी पड़ती है। प्राचीन ज्योतिषी नक्षत्रों को निश्चल मानते थे परन्तु इस समय कोई नक्षत्र निश्चल नहीं कहा जा सकता। एक-एक नक्षत्र एक-एक महासूर्य के समान बड़ा है। कितने ही ग्रह-उपग्रह और धूमकेतु अवश्य ही उसके चारों ओर घूमते हैं तथा प्रत्येक नक्षत्र इस ज्योतिष्कपरिवार को लेकर अपने नियत मार्ग पर चल रहा है। आधुनिक ज्योतिषियों से नक्षत्रों की बात पूछने पर सभी एकमत होकर यही कहते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि जो नक्षत्र निश्चल माने जाते थे उनकी भी गति का आविष्कार होने से ज्योतिषियों का काम बढ़ गया है। इन लोगों को निरन्तर नक्षत्रों का पर्यवेक्षण करना पड़ता है तथा उनके अधिकृत स्थान मे कुछ परिवर्त्तन देखते ही उसको लिखकर भविष्यत् की गणना के मार्ग को सुगम करना पड़ता है। इस कारण मानना पड़ता है कि नक्षत्रों के पर्यवेक्षण मे ज्योतिषी जितना श्रम करते हैं तथा जितना सूक्ष्म गणित का लेखा करते हैं वह सब थोड़ा ही है।

अठारह करोड़ साठ लाख मील व्यास के एक महावृत्ताकार मार्ग में पृथ्वी सूर्य की एक वर्ष में प्रदक्षिणा करती है; अर्थात् यह कहना पड़ता है कि पृथ्वी आज आकाश के जिस

अंश मे है उससे छः मास पीछे १८६०००००० मील दूर स्थित होगी। हम जब गाड़ी अथवा घोड़े पर सवार होकर चलते हैं तब सड़क के किनारे के वृक्षों को पीछे हटते देखते हैं। जो वृक्ष पहले हमारे सामने थे वे गाड़ी आगे बढ़ने से पीछे रह जाते हैं। इसी प्रकार जब पहाड़ों, नदियों और समुद्रों सहित पृथ्वी छः महीने मे १८ करोड़ ६० लाख मील निकल जाती है तब सडक के किनारे के वृक्षो के समान आकाश के नक्षत्रों के भी आगे-पीछे पडते हुए दिखाई देने की सम्भावना है। ज्योतिषियों ने बहुत दिनों से इस विषय का अनुसन्धान करना आरम्भ किया है कि पृथ्वी की गति से नक्षत्र सचमुच ही इस प्रकार स्थानभ्रष्ट होते दिखाई पड़ते हैं या नही, तथा कई स्थिर नक्षत्र इस प्रकार स्थानच्युत होते हुए भी देखे गये हैं। इस समय इस प्रकार के समीपवर्ती नक्षत्रों की संख्या बहुत से ज्योतिर्विदों के उद्योग से प्रायः चार सौ तक पहुँच गई है। इस कारण यह कहना पड़ता है कि आकाश के असंख्य नक्षत्रों मे से केवल चार सौ ही सौर-जगत् के निकटवर्त्ती हैं तथा उन्हीं की दूरी नापने का उपाय है; शेष नक्षत्र इतनी दूर स्थित हैं कि हम साढ़े अठारह करोड़ मील भ्रमण करके भी उनकी स्थिति मे कोई परिवर्त्तन नहीं देख सकते। सूक्ष्म पर्यवेक्षण के द्वारा ज्योतिषी अनन्त विश्व-रचना का जो आभास देने मे समर्थ हुए हैं उससे साधारण लोगों को कम लाभ नही हुआ।

पूर्वोक्त प्रकार से अतिदूरवर्ती नक्षत्रों का संवाद न पाने से ज्योतिषी हताश नहीं हुए। दूसरे उपाय का अवलम्बन कर, सूक्ष्मतर गणित की सहायता से, दूर के नक्षत्रों का संवाद जानने का उद्योग किया जा रहा है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक नक्षत्र एक बड़ा सूर्य है तथा प्रत्येक की गति निराली है। जो नक्षत्र अत्यन्त दूर स्थित हैं उनकी गति सूक्ष्म पर्यवेक्षण से दो-चार सौ वर्षों में भी नहीं जानी जा सकती, केवल निकटवर्ती नक्षत्रों की ही गति दीर्घ काल तक के पर्यवेक्षण से ज्ञात हो सकती है। नक्षत्रों की यह गति देखकर हर्शेल साहब ने सोचा कि जब हमारा सूर्य भी नक्षत्र-जाति का ज्योतिष्क है तब इसकी भी गति निर्दिष्ट हो सकती है। हर्शेल साहब दीर्घकाल तक इस विषय का पर्यवेक्षण और गणना करते रहे। अन्त में उन्होंने सिद्ध कर दिया कि बुध, बृहस्पति, शनि, पृथ्वी आदि ग्रहों-उपग्रहों से परिवृत होकर यह हमारा सूर्य सचमुच हर्क्यूलीज़ (Hercules) राशि की ओर प्रचण्ड वेग से जा रहा है। आधुनिक ज्योतिषी हर्शेल साहब के प्रदर्शित मार्ग से, अनेक प्रकार के उत्तम यन्त्रो की सहायता से, सौर-जगत् की गति के पर्यवेक्षण में नियुक्त हैं, तथा इस चाल का परिमाण वर्ष में अन्ततः ४० करोड मील निर्णय किया गया है। इस कारण पृथ्वी के षाण्मासिक साढ़े अठारह करोड़ मील के भ्रमण से भी जिन नक्षत्रों की गति नहीं जान पड़ती, सौर-जगत् के वार्षिक

चालीस करोड़ मील के भ्रमण से उनकी गति का परिचय मिलने की सम्भावना है। दूर के नक्षत्रों का परिचय पाने के लिए ज्योतिषियों का यह अक्लान्त श्रम क्या सार्थक नहीं? अनन्त विश्व-रचना का रहस्य जानने से क्या मनुष्य-जाति को ज्ञान का लाभ न होगा?

ज्योतिष के आधुनिक आविष्कारों के समाचार जिनको ज्ञात हैं उन लोगों को ग्रनिञ्जन विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अध्यापक कैप्तेन (Kaptyen) साहब का परिचय देना अनावश्यक है। हाल में इन्होंने नक्षत्र-मण्डल के विषय में इतनी बातों का प्रचार किया है कि उनको सुनकर विस्मित हुए बिना नहीं रहा जाता। कैप्तेन साहब का कथन है कि महाकाश मे ये जो असंख्य तारे करोड़ों मील दूर चमकते हैं उनसे परस्पर एक अति गूढ़ सम्बन्ध वर्त्तमान है। इनके मत में समग्र संसार के नक्षत्रों के दो सम्पूर्ण पृथक् विभाग हैं। विशृङ्खल भाव से आकाश में सज्जित रहकर भी इनमें से प्रत्येक नक्षत्र इन दो दलों मे से एक के अन्तर्गत होकर आकाश में भ्रमण करता है। एक उदाहरण के द्वारा कैप्तेन साहब के इस आविष्कार को समझने मे सुभीता होगा। मान लो कि आकाश मे पक्षियों के दो दल उड़ रहे हैं। एक समूह पूर्व से पश्चिम की ओर उड रहा है और दूसरा झुण्ड दक्षिण से उत्तर की ओर जा रहा है। दोनों दलों में से किसी पक्षी को विश्राम नहीं, सभी उड़ रहे
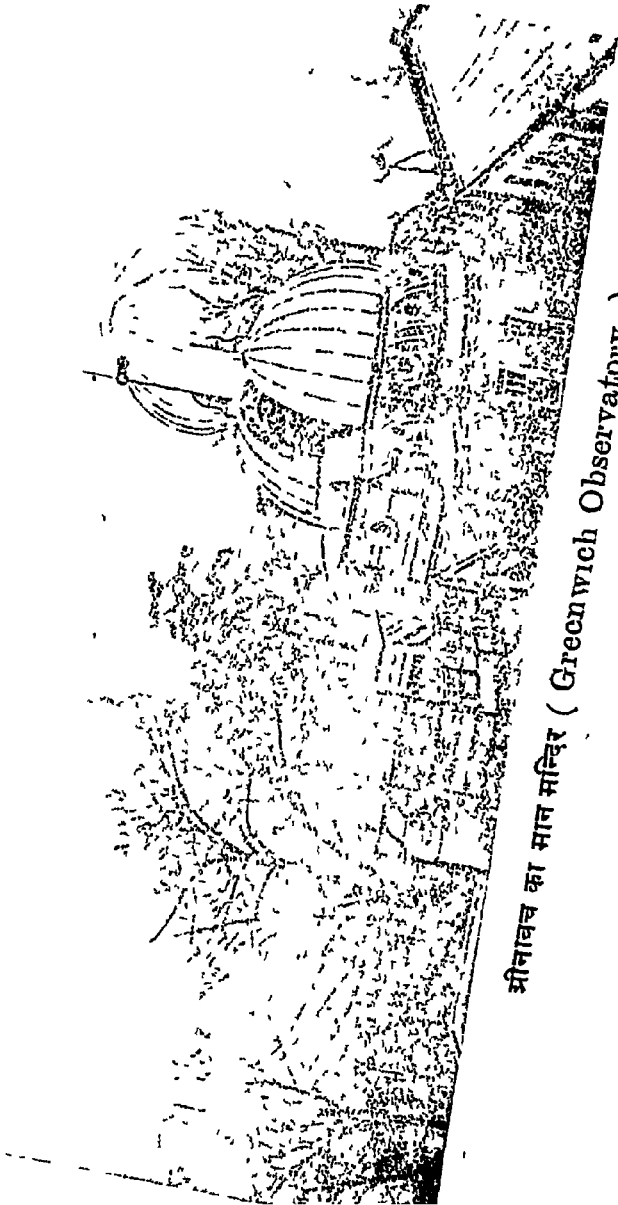
ग्रीनाविच का मान मन्दिर (Greenwich Observatory.)

हैं। कैप्तेन साहब को पूर्ण विश्वास है कि आकाश के नक्षत्र भी इन पक्षियों के झुण्ड के समान दो दलों में विभक्त होकर भ्रमण कर रहे हैं। वे किस दिशा मे चल रहे हैं, इसका भी पर्यवेक्षण और गणना के द्वारा निर्णय कर लिया गया है। जिन नक्षत्रों को प्राचीन ज्योतिषी चिरस्थिर अनुमान करते थे उन्हीं की इस प्रकार सुनियत गति का आविष्कार करना आधुनिक ज्योतिष-शास्त्र के लिए कुछ कम गौरव की बात नहीं। परन्तु आधुनिक समय के इसी बड़े आविष्कार के इतिहास की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन और वर्त्तमान विद्वानों के सूक्ष्म गणित से ही यह पूर्ण हुआ है। सुप्रसिद्ध अँगरेज़ ज्योतिषी ब्रैडली (Bradley) ने कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले ग्रीनविच के मानमन्दिर (Greenwich Observatory) में बैठकर जब आकाश के नक्षत्रो का मानचित्र बनाने का उद्योग किया था तब अनेक लोग इस नक्षत्र-गणना को नदी के तीर पर बैठकर पानी की लहरें गिनने के समान ही एक अनावश्यक कार्य समझते थे। परन्तु आज कैप्तेन साहब तथा उनके सहचरों ने नक्षत्र-मण्डल के जिस संवाद को प्रकट कर सबको विस्मित कर दिया है वह उन्हीं ब्रैडली साहब के नक्षत्र-परिचय के साथ वर्त्तमान काल के नक्षत्रों की स्थिति मिलाने से प्राप्त हुआ है।

सूक्ष्म गणना के द्वारा ज्योतिष-शास्त्र की जितनी उन्नति हुई है तथा मनुष्य के ज्ञान की जितनी वृद्धि हुई है उसका बहुत

थोड़ा परिचय वर्त्तमान प्रबन्ध में दिया गया है। दूर के ज्योतिष्कों के क्षीण प्रकाश की किरणों के विश्लेष से आजकल नक्षत्रों के जो समाचार ज्ञात हो रहे हैं उनकी आलोचना करने से जान पड़ता है कि वैज्ञानिकों की सूक्ष्म गणना ही यहाँ कृत-कार्य हुई है। केवल ज्योतिष शास्त्र का ही नहीं बल्कि रसायनविद्या (Chemistry), पदार्थविद्या (Physics), भूतत्त्व (Geology) आदि सभी शास्त्रों के इतिहास का अनुसन्धान करने पर प्राचीन और आधुनिक वैज्ञानिकों की सूक्ष्म गणना ही इनकी उन्नति का मूल-कारण देखी जाती है।

शुक्र-भ्रमण

बाल्यावस्था में विज्ञान की चर्चा का हमको बड़ा शौक़ था, इसलिए बहुत प्रयत्न करके हमने कुछ विज्ञान ग्रन्थ तथा कबाड़ी की दूकान से दो-चार टूटे-फूटे वैज्ञानिक यन्त्र भी संग्रह कर लिये। एक टूटी परकाल, हाथ की एक दाग़ी दूरबीन, एक छोटा एनीरायड बेरोमीटर, तथा दो छोटे-बडे तापमानयन्त्र—यही हमारे वैज्ञानिक अनुसन्धान की सामग्री थी। इसके अतिरिक्त एक बेतार की बिजली की घण्टी, कुछ काँच की नलियाँ, एक सछिद्र बिजली का लैम्प, एक बुन्सन का सेल (Bunsen's Cell) तथा रेशम-लपेटा हुआ तार भी कई हाथ सङ्ग्रह कर लिया था। एक विज्ञान-प्रेमी मित्र की सहायता से दूरबीन में पिन ठोककर तथा बिजली का लैम्प किसी प्रकार जला लेने पर हमारा अवकाश का समय बड़े आनन्द से व्यतीत होता था। इसी समय विश्वविद्यालय की परीक्षा के पीछे छुट्टी का अवकाश उपस्थित हुआ। लम्बी छुट्टियों का समय काटने के लिए पूर्वोक्त प्रकार से कुछ प्रबन्ध करने की इच्छा हुई, परन्तु विज्ञान-चर्चा में अपने पूर्वोक्त मित्र की

सहायता न मिलने की आशङ्का से समय काटने के कल्पित उपाय के विशेष सुखप्रद होने की आशा क्षीण हो गई।

हमारी विज्ञान की चर्चा के समय हमारे मित्र ने एक नये प्रकार से नाव चलाने का यन्त्र बनाया था और उसको पेटेण्ट (Patent) कराने की आशा से तथा मित्रों की उत्तेजना से एक नाव और उसकी कलें बहुत-सा रुपया ख़र्च करके बनवाई थीं। परन्तु, दुर्भाग्य से, कल के सहारे चलाना तो दूर रहा, रस्सी के द्वारा साधारण रीति से चलाई जाने पर भी वह नाव उलटकर उलटी बहने लगी। इस गड़बड़ का सम्पूर्ण दोष लकड़ी जोड़नेवाले कारीगर का होने पर भी हमारे मित्र का उत्साह उसी दिन से घट चला। इस घटना के कुछ दिन पीछे रासायनिक परीक्षा के समय एक दिन और एक भारी गड़बड़ होने के कारण, कुछ दिन विज्ञान की आलोचना के लिए परिश्रम करने में असमर्थ होकर, मित्रवर का विज्ञान-अनुराग एकदम लुप्त हो गया। उसी समय से, बहुत प्रयत्न करने पर भी, हम मित्र को विज्ञान की चर्चा के लिए प्रवृत्त नहीं कर सके. परन्तु साधारण बातचीत के समय गम्भीर भाव से दो-एक वैज्ञानिक चुटकले छोड़ने का स्वभाव उनका पूर्ववत् ही रहा। कान तक लम्बी मूँछ और डाढ़ीवाला उनका चेहरा देखकर किसी को ख़याल नहीं होता था कि एक दिन ये उच्च श्रेणी में सुशोभित होंगे।

वीतराग मित्र को एक बार विज्ञान की आलोचना के लिए प्रवृत्त करने का प्रयत्न दुराशामात्र जानकर भी एक दिन प्रातः-काल हम उनसे मिलने गये। वहाँ जो देखा उससे हमारे उद्देश्य की सिद्धि के विषय मे और भी सन्देह बढ़ा। उस दिन रविवार था। मित्र का दफ़्तर बन्द था। अपने छोटे-से सुसज्जित कमरे में मेज़ के एक कोने पर अधिकार किये आप कुछ लिख रहे थे। हमको आते देख कुछ मुसकुराकर उन्होंने कुरसी देकर बैठने को कहा। उनके लेख के विषय मे कुछ पूछने के पहले ही वे कहने लगे, "आजकल मासिक पत्र आदि मे छोटे-छोटे चुटकुले देखकर मैंने भी एक चुटकुला लिखना चाहा। लेख प्रायः समाप्त हो गया है। इस समय अन्त में गड़बड़ मची है।" मित्र में यह अस्वाभाविक परि-वर्त्तन और अवैज्ञानिक व्यवहार देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। हमारा विश्वास था कि वैज्ञानिक के लिए काव्यप्रिय होना अत्यन्त नियमविरुद्ध है, तथा दृढ़ नियम सेवी मित्र का पूर्व व्यवहार देखकर हमारा यह विश्वास दृढ़ हो गया था, परन्तु उन्हीं को आज काव्यसेवी देखकर विस्मय की सीमा नहीं रही। उनके पुस्तकालय से मेज़ पर जो बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक पुस्तकें सज्जित रहती थीं इस समय देखा तो सब आलमारी में बन्द रक्खी हैं। शेक्सपियर, शैली, टैनिसन, माईकेल, रवीन्द्रनाथ, तथा बङ्किमचन्द्र की बँधी हुई पुस्तकें मेज़ पर सजी

हुई हैं। मित्र आग्रहपूर्वक अपने लेख को पढ़कर सुनाने लगे। लेख का विषय तो आज स्मरण नहीं है परन्तु हमारी स्मरणशक्ति नितान्त निस्तेज भी नहीं। जान पड़ता है, मित्र में एकाएक परिवर्त्तन देखकर उनका सरस लेख मन में अवकाश न पा सका। फिर भी, लेख के अन्त में उसको पूरा करने के लिए हमारी राय पूछने पर, उसको "ट्रैजिक" (दुःखान्त) करना उचित बतलाकर जो बेतुका उत्तर हमने दिया था वह ख़ूब याद है; तथा उत्तर सुनकर मित्र ने परामर्शदाता को नितान्त काव्य-रस-हीन बतलाकर जिन दो-एक सरस वाक्यों का प्रयोग किया था उनको भी हम भूले नहीं। जो हो, नवकाव्यानुरागी मित्र को विज्ञान की आलोचना में फिर प्रवृत्त करना सहज नहीं है, यह समझकर उस समय हम हताश हो गये। तो भी मन के प्रकृत भाव को छिपाकर हमने उनके दफ़्तर की बात छेड़ दी। फिर शीघ्र ही एक पक्की नौकरी पाने की सम्भावना, बड़े साहब की अचानक बदली का कारण इत्यादि बातें छेड़कर एडिसन (Edison) के नये फ़ोनोग्राफ़ (Phonograph) की चर्चा छिड़ी। हमने समझा था कि वैज्ञानिक चर्चा छिड़ते ही मित्र चुप हो जायँगे, परन्तु इस प्रसङ्ग में भी उनका वाक्यस्रोत पहले ही के समान तेज़ी से चलता रहा, और सर्वाङ्गसुन्दर होने पर भी एडिसन के यन्त्र में बहुत-सी बातों की कमी है इस विषय को अपनी स्वभावसुलभ कल्पना के

सहारे दो-एक नये उदाहरण देकर वे अच्छी तरह समझाने लगे। जो हो, मित्र को वैज्ञानिक चर्चा में उत्साह-सहित योग देते देखकर और उनके मति-परिवर्त्तन का ठीक अवसर समझकर फ़ोनोग्राफ़ की कथा तथा पैरिस की प्रदर्शिनी की ईफ़ल टावर बनाने के कौशल की चर्चा समाप्त होने पर हमने अपनी बात छेड़ दी। फिर भी विज्ञान की आलोचना मे प्रवृत्त होने का विषय सुनकर मित्रजी बङ्गाली जाति की सर्वाङ्गीन दुर्बलता तथा उसमे नूतनता (Originality) का अभाव बतलाकर कहने लगे कि बहुमूल्य यन्त्र आदि की सहायता के बिना दरिद्र बङ्गालियों का विज्ञान की आलोचना का प्रयास कथन मात्र है। परन्तु हमारे यह कहने पर कि आँख मूँदकर रात-दिन गम्भीर विचार मे पड़े रहने की अपेक्षा इस विषय की ओर अभिरुचि रखना श्रेष्ठ है, मित्र ने अन्त मे हमारा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। परन्तु थोड़े दिन पहले माथे की पीड़ा उपस्थित होने पर डाक्टरों ने उनको कुछ दिनों तक मस्तिष्क परिचालन न करने का उपदेश दिया है, इस कारण यन्त्र आदि लेकर परीक्षा करने मे तथा अनुसन्धान के निमित्त जो उद्योग करना पडता है उसमे वे सहायता न कर सकेंगे, यह भी उन्होंने कह दिया। अन्य उपाय न रहने के कारण, दोनों मिलकर कुछ नवीन वैज्ञानिक ग्रन्थों का ही अध्ययन करेंगे, यही विचार हमने पक्का किया।

इसके पीछे दो दिन हम लोगों ने निर्दिष्ट पुस्तकों को पढ़कर मज़े में समय व्यतीत किया। तीसरे दिन हम मित्र के आने की बाट देख रहे थे और मन में सोच रहे थे कि वे आज दफ़्तर गये होंगे कि नहीं—क्योंकि वेतन के बिना उम्मेदवारी करना वे सरकार के ऊपर अनुग्रहमात्र समझते थे, और सप्ताह में छहों दिन अनुग्रह प्रकाशित करने के लिए वे अपने को बाध्य नहीं समझते थे—इतने ही में एक छोटी-सी पुस्तक हाथ में लिये मित्रजी आकर उपस्थित हुए। वे जो पुस्तक लाये वह एक विख्यात अँगरेज़ ज्योतिषी की बनाई हुई थी। अवश्य इसमें ग्रह-उपग्रहों के विषय में अनेक नई-नई बातें होंगी, यह समझकर उस दिन उसी पुस्तक को पढ़ने का मन्तव्य स्थिर हुआ। मित्र पुस्तक के दो-चार पन्ने उलटकर शुक्र ग्रह का विवरण पढ़ने लगे। उस दिन बड़ी गर्मी थी, शुक्र ग्रह का विवरण पढ़ चुकने पर और किसी नये विषय के पढ़ने की इच्छा नहीं हुई। मित्र भी उस दिन दो-एक जमुहाई लेकर पास की आराम-कुर्सी पर लेटकर पुस्तक के पन्नों को जल्दी-जल्दी उलटने लगे और अन्त में उसे बन्द करके रख दिया। दोनों की सम्मति से उस दिन फिर पढ़ाई नहीं हुई। मित्र आराम-कुर्सी पर लेटे हुए शुक्र ग्रह के विषय में नाना प्रकार की बातें कहने लगे। यह ग्रह भी हमारी पृथ्वी के समान प्राणियों के रहने योग्य है, इस विषय में वे

अपना मत प्रकाशित करने लगे हम भी आँखें मूँदकर मित्र की बातें सुनने लगे।

नहीं मालूम, इस अवस्था में कितनी देर हुई। केवल यह जान पड़ा कि हम मित्रोक्त शुक्र ग्रह के अँधेरे भाग में जा पहुँचे। आधी रात को पृथ्वी के निर्जन स्थान में जैसी शान्ति और गम्भीरता दिखाई पड़ती है वैसी ही गम्भीरता यहाँ भी दिखाई पड़ी। इस समय स्मरण आया कि हमने सुना था कि जिस प्रकार चन्द्रमा का एक अंश सदा ही प्रकाशित तथा दूसरा अंश अन्धकार में रहता है उसी प्रकार शुक्र ग्रह का भी एक ही अंश सदा अन्धकारमय रहता है। उस अंश पर सूर्य का प्रकाश कभी नहीं पहुँचता, इसी कारण रात्रि की गम्भीरता यहाँ दूनी प्रतीत होती है। इस ग्रह पर इस चिर-रात्रि का अँधेरा पृथ्वी के समान घना नहीं होता, क्योंकि आकाश में अनेक चमकीले नक्षत्रों का प्रकाश बना रहता है। आकाश में देखने से एक बड़ा तारा हमको दिखाई पड़ा। उसी के समीप एक और छोटा नक्षत्र दिखाई दिया। इनको देखते ही हम समझ गये कि ये हमारी चिर-परिचित आवासभूमि पृथ्वी और उसका उपग्रह चन्द्रमा हैं। अनन्त आकाश और अनन्त सृष्टि की तुलना में हमारी धन-जन-पूर्ण पृथ्वी कितनी क्षुद्र है, इसका विचार करके हमें बड़ा विस्मय हुआ।

आकाश मे पृथ्वी की उच्चता तथा इसकी स्थिति आदि देखकर, ग्रह के किस अंश में हम उपस्थित हैं, इसका एक मोटा हिसाब मन में करके देखा तो विदित हुआ कि हम इस प्रकाश-रहित भाग के पूर्व अंश मे विषुव रेखा के निकट हैं। इस स्थान से प्रकाश-युक्त अंश प्रायः ६०० कोस दूर होगा। शुक्र मे उपस्थित होते ही परिच्छन्न आकाश में अनेक नूतन दृश्य देखकर हमने ग्रह के ऊपर के किसी विषय पर ध्यान नहीं दिया था, परन्तु शीघ्र ही इतना जाड़ा लगने लगा कि इच्छा न रहने पर भी ठण्ड से बचने की चेष्टा करनी पड़ी। यद्यपि हम मोटा कपड़ा पहने हुए थे परन्तु जाड़ा इतना प्रबल था कि उसका निवारण नहीं होता था। इस दशा में निर्जीव के समान पड़े रहना उचित न समझकर इस अपरिचित देश मे हम शीघ्रता से एक ओर चल पड़े। चलने से शरीर में कुछ गर्मी आ गई; परन्तु हमारे चलने से ऐसा शब्द होता था कि मन खिन्न हो गया। यह शब्द ऐसा ज़ोर का था कि मालूम होता था, पीछे से दो-तीन घोड़े तेज़ी से दौड़े चले आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस नवीन देश में एक और अद्भुत बात यह देखी कि इस महाशीत मे किसी स्थान पर बर्फ़ का कोई चिह्न भी नहीं दिखाई पड़ा।

इस सब अलौकिक तथा प्रकृति-विरुद्ध कार्य का यथार्थ कारण जानने के लिए हमने कुछ सोचना चाहा परन्तु न जाने क्यों

मन को किसी प्रकार स्थिर न कर सके। जान पडता था कि अचानक एक अलौकिक देश मे आ पड़ने से, गत जीवन के सुख-विहार की बाते मन मे ऐसी तरङ्गे उत्पन्न कर रही थी कि मन किसी प्रकार स्थिर नहीं होता था। इसी समय, सबसे अधिक हमारे मित्र का अभाव बड़े तीव्र रूप से हमें खलने लगा, क्योंकि यदि वे उपस्थित होते तो इन दोनो अलौकिक घटनाओं का कारण सोचने के लिए हमको चिन्तित न होना पड़ता। बात यह है कि बिना सोचे विचारे बड़े-बड़े वैज्ञानिक विषयों पर सिद्धान्त खड़े करने का उनमे विशेष गुण था।

कुछ दूर आगे चलकर सब चिन्ताएँ एक-एक करके लुप्त हो गई, केवल इसी एक बड़ी चिन्ता ने मन पर अधिकार कर लिया कि इस अपरिचित देश मे हमारी क्या दशा होगी। कोई उपाय न रहने पर भँवर मे पडी नाव के समान हम भी इधर-उधर घूमने लगे। इसी समय नक्षत्रो के मन्द प्रकाश मे कोई जीव हमारे पीछे दौडता हुआ जान पड़ा। स्थिर दृष्टि से देखने से ज्ञात हुआ कि एक बड़ा काला जीव शीघ्रता से हमारी ओर चला आ रहा है। शुक्र ग्रह में आकर जीवो के रहने का कोई लक्षण नहीं देखा था, अकस्मात् इसको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ दिन पहले मित्र के साथ हमने विवाद किया था कि जीव का निवास केवल पृथ्वी पर ही सम्भव है। आज वह स्मरण हो आया और इस विषय में

मित्र के अनुमान की सत्यता पर अब कोई सन्देह न रहा। चलते-चलते थोड़ी देर यह चिन्ता करते ही वह जीव हमारे सामने आ गया। उसकी आकृति देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और कुछ भय का भी सञ्चार हुआ। हमारे वनमानुष से इसकी आकृति बहुत कुछ मिलती थी। सारा शरीर घने काले बालों से ढका हुआ था। शरीर की अपेक्षा मस्तक बहुत बड़ा, हाथ-पाँव के नख बड़े-बड़े, और सम्पूर्ण देह नग्न थी। इस भीषण जीव ने हमारे पास आकर ऐसा विकट चीत्कार किया कि वह निःशब्द स्थान भी भयानक कोलाहल से गूँज उठा। इस अपूर्व जीव की विचित्र गर्जना को आक्रमण की सूचना समझकर हम आत्मरक्षा का उपाय सोचने लगे, परन्तु हमारे समान क्षुद्र पृथ्वी का निवासी इस तीक्ष्ण दाँतोंवाले के साथ क्षण भर भी युद्ध कर सकेगा, यह विश्वास नहीं हुआ—हम भाग्य के भरोसे दौड़ पड़े। क्रमशः उसकी गर्जना घटने लगी, यह देखकर विचार किया कि हमारे ऊपर आक्रमण करने के बदले उसका कुछ और ही उद्देश्य है। उसको भली भाँति देखकर हमने अनुमान किया कि वह हमको अपने साथ चलने के लिए कहता है। इस दशा में उसके मत के विरुद्ध कार्य करना अनुचित समझकर—जब वह निकट आकर और हमारे मार्ग को छोड़कर एक और नवीन मार्ग से चलने लगा तो—हम भी उसके पीछे चलने लगे। देखा कि शुक्र-

वासी जीव अति शीघ्र चल सकता है। पहले उसको हमने जो दौड़ते देखा था वह वास्तविक दौड़ नहीं थी; उसकी साधारण चाल ऐसी थी कि मनुष्य की चाल की दसगुनी भी उसके बराबर न होती। हम उसके मार्ग पर यथाशक्ति शीघ्रता से चल पड़े। शुक्र ग्रह की इस दारुण ठण्ड से शरीर को गरम रखकर प्राण-रक्षा के लिए, मोटे बालों से शरीर का ढका रहना और शीघ्र चलना, स्वाभाविक उपाय हैं यही हमने अनुमान किया।

इस अद्भुत साथी के साथ कुछ दूर आगे जाने पर सामने ही नक्षत्रों के मन्द प्रकाश में एक बड़ा मिट्टी का स्तूप हमे दिखाई पड़ा। मार्ग-प्रदर्शक जीव उसी स्तूप की ओर चलने लगा। हम लोग शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। समतल भूमि पर इस प्रकार का स्तूप बड़ा अद्भुत दिखाई पड़ता था। शुक्र ग्रह पर हम नये थे इसलिए—तुच्छ पार्थिव-ज्ञान-द्वारा इस प्राकृतिक विषय पर मतामत प्रचार करना तथा विधाता की अनन्त सृष्टि की प्रत्येक घटना को पार्थिव विज्ञान की क्षुद्र सीमा से नियत करने की चेष्टा करना मूर्खता प्रकट करता है ऐसा समझकर—इस स्तूप के विषय में विशेष हाल जानने के लिए हम बड़े उत्सुक हुए। हमारा साथी स्तूप के निकट आते ही बड़ा कोलाहल करने लगा। दो-एक बार शब्द करने पर स्तूप का एक अंश प्रकाश-युक्त हो गया। उसके भीतर से हमारे साथी ही के समान

आकृतिवाले बहुत-से जीव निकलकर घोर शब्द करने लगे। उनकी विस्मयपूर्ण दृष्टि और इशारों को देखकर हमने अनुमान किया कि ये हमारे विषय में ही बातचीत कर रहे हैं। थोड़ी देर तक अपूर्व भाषा मे इस प्रकार बातचीत करके वे निवास-स्थान में प्रवेश करने के लिए हमको इशारा करने लगे, परन्तु उनका अधिक आग्रह देखकर भी उन लोगों के पीछे जाने का हमारा साहस न हुआ। बचपन मे आरब्य-उन्यास की जो कथा सुनी थी, तथा घोर वर्षा के समय दादी की गोद में सिर रखकर आँखें मूँदे हुए राक्षसपुरी और पितृभक्त राजपुत्र के रूप की कथा सुनकर निर्मम राक्षसकुल तथा विपत्ति की मारी राज-पुत्री के विषय मे जो कल्पना खड़ी की थी; तथा उस राक्षस-पुरी की करुणामय कहानी के साथ तालाब के आनन्दमत्त मेढकों के कोलाहल तथा मृदु गम्भीर मेघ की गर्जना का कुछ विशेष सम्बन्ध है—ऐसा समझकर दादी के पास जो सो गये थे, उन सब बातों ने, फिर याद आकर, हमारी गति रोक ली। बगदाद के साहूकार का बेटा यदि पृथ्वी पर रहकर इतनी विपत्ति झेल सकता था तो हम क्षुद्र पृथ्वी के जीव विधाता के एक नूतन राज्य में पहुँचकर इतनी विपत्ति में फँसें तो क्या असम्भव है? शुक्रवासियों का व्यवहार आदर-युक्त होने पर भी उनका आतिथ्य-ग्रहण सब प्रकार निरापद नहीं प्रतीत होता था। इसी लिए गुफा के भीतर प्रवेश करने की हमारी हिम्मत नहीं हुई।

हमारे इस अनिच्छासूचक भाव को देखकर उनमें से एक व्यक्ति गुफा के भीतर घुस गया और शीघ्र ही एक अद्भुत दीप हाथ मे लेकर लौट आया। इस बार गुफा के भीतर से एक जीव और बाहर निकला। यह हमारे पूर्वपरिचित शुक्रवासियों की जाति का नहीं था, यह हमने स्पष्ट जान लिया। दीप के मन्द प्रकाश मे उसकी देह पर सफ़ेद कपडा दिखाई पडा तथा उसकी बाहरी आकृति तथा चाल-चलन सब मनुष्य ही के समान दीखा। जगदीश्वर के इस अद्भुत राज्य मे अपने समान और भी एक हतभाग्य मनुष्य-सन्तान को देखने से हमे आश्चर्य हुआ। हम विस्मय और आनन्द से क्षण भर कर्तव्यज्ञानशून्य होकर बड़े उद्वेग से दौडकर उसके पास पहुँचे। वहाँ पहुँचकर जो देखा उससे हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। एक भयानक चीख़ मारके हमने उसको गले लगाया। जीवन भर में इस प्रकार उल्लास और आवेग के साथ हमने कभी किसी का आलिङ्गन नही किया था और इस प्रकार अव्यक्त कठोर चीत्कार भी कभी हमारे गले से नहीं निकला था। यह व्यक्ति हमारे वही वैज्ञानिक मित्र थे। मित्र की घुटनों तक नीची, ढीली कमीज़ देखकर दूर से ही हमको उन्हें पहचान लेना चाहिए था। परन्तु उनको कभी उदास और निरुत्साह नही देखा था। इस बार उदासी और उत्साहहीनता इन दोनों ने मिलकर उनके रूप मे इस प्रकार अलौकिक परिवर्तन

कर दिया था कि समीप से भी हम उनको पहचान नहीं सके। हमारे आलिङ्गन करने पर भी मित्र की दृष्टि धरती से ऊपर नहीं उठी। उनकी स्थिर, शान्त मूर्त्ति पत्थर के समान निश्चल खड़ी रही। कई बार नाम लेकर पुकारने पर उन्होंने सिर उठाया। हमको देखते ही उनके निरुत्साहसूचक उदासीन चेहरे पर विस्मय की छाया दिखाई दी। जान पड़ता है, उन्होंने हमारे अस्तित्व पर सन्देह करके यह सब इस अद्भुत राज्य की माया का खेल समझ लिया था। जो हो, हम शुक्र-वासियों की माया से उत्पन्न नहीं, उनके चिरपरिचित पार्थिव मित्र ही हैं—इस बात का हमने नाना प्रकार से उनको विश्वास कराया। हम यह मानते हैं कि विश्वास कराने में कुछ कष्ट अवश्य उठाना पड़ा। एक मित्र के ऊपर इस प्रकार सन्देह करने के कारण पीछे वे बड़े ही लज्जित हुए; तथा उनके समान पूर्ण जड़वादी के लिए प्रत्यक्ष मनुष्य को माया की रचना कह-कर उड़ा देने की कल्पना गुरुतर अपराध है, यह भी पीछे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

शुक्र पर अपने आ पहुँचने का वृत्तान्त सुनाकर हमने मित्र से अकस्मात् लोकान्तर में आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा, "भाई, तुम्हारी बैठक में उस आराम-कुर्सी पर लेटे हुए, मुँह में सिगरेट दबाकर हम सोचने लगे कि सद्य-आलोचित ग्रह (शुक्र) सचमुच ही प्राणियों के रहने योग्य हो तो जीव

वहाँ किस प्रकार निवास करेंगे। थोड़ी देर सोचकर हमने एक सिद्धान्त गढ़ने का भी उद्योग किया था; परन्तु यह सिद्धान्त कहाँ तक बन चुका था अथवा सिगरेट का धुआँ कब मुँह से निकला सो कुछ ध्यान नहीं है। उसके बाद ही हम अपने कल्पित जीवों की दुर्गन्धयुक्त गुफा मे पहुँच गये। ऐसी विचित्र घटना कभी नहीं सुनी थी। क्या तुमने कभी किसी वैज्ञानिक को इस अद्‌भुत उपाय से ज्योतिष-सम्बन्धी आविष्कार करते कहीं सुना है?" हमने नाना प्रकार से मित्र को प्रफुल्लित करने की चेष्टा की। हमने उन्हें समझा दिया कि सब लोग एक निर्दिष्ट उपाय से आविष्कार करें ऐसा कोई नियम नहीं; ऐसा होने से लोवेरियर के नवीन ग्रहों के आविष्कार का विषय एकदम ही उड़ा देना होगा। हमारे समझाने से मित्र का चिन्तायुक्त चेहरा कुछ प्रफुल्लित हुआ कि नहीं सो हम नही देख सके; क्योंकि निकटवर्त्ती शुक्रवासियों ने इतना कोलाहल मचाना आरम्भ कर दिया था कि हमारी दृष्टि उन लोगों की ओर ही खिंच गई।

गुफा में प्रवेश करने के लिए शुक्रवासी हमसे बड़ा आग्रह करने लगे। मित्र जब गुफा से निरापद निकले तब मन मे यह धारणा नही रही कि भयानक ठण्ड में प्राण धारण करने की अपेक्षा इन लोगों का आतिथ्य ग्रहण करना अधिक कष्टदायक होगा। मित्र का मत भी गुफा में प्रवेश करने के विरुद्ध नहीं

था। हमारा पहला साथी मार्ग दिखाने के लिए हाथ मे दीपक लेकर आगे-आगे चला, उसके पीछे हम लोग हो लिये। हमने गुफा के भीतर शुक्रवासियों के समान असभ्य जाति के घर के योग्य प्रायः सभी वस्तुएँ देखीं। गुफा ख़ूब गरम थी। शुक्र के अन्धकारमय अंश मे सूर्य की किरणे न रहने से वृक्ष आदि नहीं उत्पन्न हो सकते इसलिए लकड़ी कोयला आदि—जलाने योग्य पदार्थ—भी वहाँ नहीं मिलते। फलतः शुक्रवासी जीव एक छोटे-से जन्तु की चर्बी संग्रह कर उसी को जलाते हैं। हमने देखा कि ठण्ड से बचाव करने के लिए गुफा के दो भागों मे चर्बी जल रही है तथा गुफा में ख़ासा उजेला हो रहा है।

मित्र ने शुक्र ग्रह में आकर यहाँ के निवासियों के घर की बहुत-सी बातें देख लीं। उनसे विदित हुआ कि ये प्रायः शाक-भोजी हैं। ये मिट्टी खोदकर खानों के भीतर खेती करते हैं। सूर्य की गरमी न मिलने से इनकी उपज मे कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि शुक्र की भीतरी गरमी वही काम देती है। कितनी गरमी मे कौन-सी वनस्पति अच्छी तरह उत्पन्न होती है सो ये लोग ख़ूब जानते हैं, और उनकी आवश्यकता के अनुसार ही खेतों की गहराई नियत की गई है। इसके सिवा चर्बी के लिए जिन पशुओं को ये मारते हैं उनका मांस बीच-बीच में पकाकर खाते हैं तथा बालदार चमड़ा बिछाने-ओढ़ने और पहनने के काम आता है।

हम लोग आग के पास बैठकर बातें करने लगे। इसी अव-सर में एक शुक्र-वासी भोजन तैयार करके हमारे सामने लाया। हिसाब करके देखा कि हमको शुक्र ग्रह पर आये १० घण्टे हुए थे। किन्तु नाना प्रकार की उत्कण्ठा और चिन्ता के चक्र में पड़कर रसना की तृप्ति और उदर-सेवा का ध्यान भी नहीं रहा था, परन्तु इस गुफा के भीतर आकर थकावट मालूम होने लगी और भूख भी सताने लगी। इसलिए भोजन के लिए अरुचि नहीं रही। अज्ञातव्यवहार असभ्य जीवों का दिया आहार चुपचाप ग्रहण कर लेना अदूरदर्शिता सिद्ध करता है, ऐसा कह-कर मित्र ने पहले आहार ग्रहण करने में अनिच्छा प्रकट की, परन्तु अन्त मे हमारा साथ देकर कोई आपत्ति नहीं की। जान पड़ता है, उनके दार्शनिक सिद्धान्त को उदर मे कोई योग्य स्थान नहीं मिला। हम भोजन करके जेब मे से चुरट निकाल-कर तमाखू पीने लगे। मित्र को तमाखू पीने की अधिक रुचि नहीं थी। वे पास ही चर्मशय्या पर बैठकर हम लोगों के शुक्र के भ्रमण तथा गुफा के त्याग के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे। मित्र का विषाद-युक्त चेहरा कुछ प्रफुल्लित होने लगा। उनकी स्थिर दृष्टि जगत् के अतीव गूढ़ रहस्यों की मीमांसा में लीन हो गई। तुच्छ फूत्कार-जात धुएँ के उठने और गिरने के अवसर मे मित्र को किसी गम्भीर दार्शनिक तत्त्व के आविष्कार का अवकाश मिला कि नहीं सो हम नहीं जानते।

हम लोग थोड़ी देर विश्राम करके गुफा के बाहर आये। अति उज्ज्वल नक्षत्रभूषित आकाश के नीचे शान्त प्रकृति बड़ी मनोहर जान पड़ती थी। साँवली धरती के साथ अनन्त आकाश का स्पर्श और भी मधुर दिखाई पड़ता था। क्षीण नक्षत्रों के प्रकाश में शुक्र ग्रह को अनन्त अन्धकार मे रखना सृष्टि-कर्त्ता की लीला का उदाहरण है। अनन्त शक्तियों के आधार विशाल नक्षत्र तथा नाना ऋतुसम्पन्न ग्रह आदि का निर्माण करते-करते, बालसुलभ चपलता के वश होकर, क्या बनाते-बनाते उसने क्या गढ़ दिया! परन्तु आश्चर्य की बात है कि भाग्यवान् भाइयों के साथ चिरदग्ध तथा विषादपूर्ण शुक्र ग्रह भी जगदीश्वर की कीर्त्ति गाने की अनन्त तान में अपना क्षीण सुर मिलाना नहीं भूला। मानों सब दिशाओं के नक्षत्र मुग्ध दृष्टि से अपने एक हतभाग्य दुर्बल भाई की एकान्तिकता को देखना चाहते हैं। उस समय भी पृथ्वी छोटे चन्द्र के साथ आकाश मे चमक रही थी। थोड़ी देर में हम लोग पृथ्वी के अस्त होने का दृश्य देखने लगे। असीम स्तब्ध आकाश के एक कोने में पृथ्वी चमक रही थी। अनन्त संसार की अपेक्षा पृथ्वी क्या इतनी छोटी है? तो पृथ्वी के जीव मनुष्य कितने छोटे हुए? तथा उनकी आकांक्षा, दुःख तथा वासनाओं की क्या गिनती? बड़े शोक की बात है कि इस महान् दृश्य के बीच में विश्व-महिमा के सारतत्त्व को देखकर भी आध्या-

त्मिकता के चरमोत्कर्ष हिन्दू-सन्तान के मन मे वैराग्य के भाव का उदय नहीं होता। आकाश के एक कोने में चमकते हुए छोटे-से तारे में हमारा सुन्दर घर है। उसी तारे के एक क्षुद्र अंश में हमारा बाग़ है जिसमे बैठकर हम सन्ध्या को मित्रों से बातचीत करते हैं। इस लम्बे-चौड़े मैदान से निकलकर कब उस सुन्दर जगत् के दैनिक व्यवहार में संयुक्त होंगे, ये चिन्ताएँ हमारे हृदय मे उपस्थित हुईं। इतने मे चन्द्र का अस्त हो गया. पृथ्वी अपनी अन्तिम किरणें पहुँचाकर अस्त होने को ही थी—इस अपूर्व दृश्य को देखकर हमारे मित्र के मन में कुछ कवित्व के भाव का उदय हुआ कि नहीं सो तो हम नहीं जानते, परन्तु उनकी स्थिर दृष्टि तथा शान्त मूर्त्ति से स्पष्ट जान पड़ता था कि वे कुछ सोच रहे थे। छोटे-छोटे ग्रह-नक्षत्रों के अस्त होने का दृश्य शुक्र ग्रह में अपूर्व ही था। पृथ्वी के आकाश मे पानी की भाफ सदा भरी रहती है, इस कारण छोटे-छोटे नक्षत्र दिगन्त पर पहुँचते ही भाफ के आवरण मे अदृश्य हो जाते हैं, क्योंकि उनकी क्षीण ज्योति इस आवरण को भेदकर पृथ्वी तक नहीं पहुँचती। परन्तु शुक्र के अँधेरे अंश मे सूर्य का उदय कभी नहीं होता; उसके ताप के अभाव से पानी की भाफ भी उत्पन्न नहीं होती, इसी कारण छोटे से छोटा नक्षत्र भी बहुत चमकदार दिखाई पड़ता है। इस भयानक शीत में शुक्र के ऊपर बर्फ़, तुषार आदि

हमारी क्षुधादमन-शक्ति की असम्भव वृद्धि हो गई। जिस उदर की प्रेरणा से पृथ्वी पर दिन रात इधर-उधर दौड़ा करते थे थोड़े काल मे ही उसके अस्तित्व का चिह्न भी नहीं जान पड़ा। इन दो सप्ताहों के भीतर हम लोगों ने केवल तीन बार भोजन किया, परन्तु इससे तनिक भी क्षीणता अथवा दुर्बलता का अनुभव नहीं किया। सुना है कि देवता अमृत को पी करके अमर और क्षुधारहित हो गये हैं। यदि भूख की कमी देवत्व का एक अङ्ग हो तो शुक्र ग्रह पर आकर हम लोग ईश्वरत्व की एक सीढ़ी चढ़ गये, इसमें सन्देह नहीं रहा। इससे हमारे मित्र ने सिद्ध कर दिया कि हमारा पौराणिक स्वर्ग कुछ-कुछ शुक्र के ही समान है। जो हो, इस असम्भव क्षुधा-निरोध-शक्ति का प्रकृत कारण खोजने के लिए मित्र को बहुत परिश्रम करना पड़ा। इच्छा न रहने पर भी इस खोज मे हमने मित्र की कुछ सहायता की। परीक्षा करके देखा कि शुक्र-वासियों का प्रधान खाद्य एक प्रकार का साग सबकी अपेक्षा पुष्टिकर है। केवल एक बार इसे खा लेने से दस दिन तक भूख नहीं लगती। इस वनस्पति का भोजन करने से ही हम लोगों की भूख जाती रही, इसमें अब किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा।

बहुत काल तक एक स्थान पर रहने से मन चञ्चल हो उठा। मित्र ने कहा—"शुक्र के अँधेरे अंश में जो देखना था सब देख लिया, अब प्रकाशयुक्त अंश में क्या है सो भी देखना

चाहिए।" मित्र की बात से हमें तनिक भी विरोध नहीं था। हमने प्रसङ्गवश दो एक बार इसका प्रस्ताव भी किया था परन्तु गुफा से हटने की मित्र की इच्छा न देखकर इस बात को स्पष्ट नहीं कहा था। जो हो, हम लोग शीघ्र ही शुक्र के दूसरी ओर घूमने का उद्योग करने लगे। मार्ग मे ठण्ड से बचने के लिए बालदार चमडा तथा दो मास के आहार के योग्य पूर्वोक्त क्षुधानाशक साग आदि कुछ पदार्थ साथ लेने की व्यवस्था की। हम लोगों के शीघ्र ही गुफा से चल देने का विचार सुनकर शुक्रवासी एकदम व्याकुल हो उठे। हमको असभ्य शुक्रवासियों से प्रीति की आशा नहीं थी। हमारा प्रथम परिचित शुक्रवासी घटोत्कच हमारा गुफा से चल देने का उद्योग देखकर हमारे साथ चलने के लिए बड़ा ही अनुरोध करने लगा। हमने उसे इसलिए साथ ले लिया कि उसको साथ रखने से मार्ग ढूँढ़ने तथा और कई कामों मे सहायता मिलेगी। चर्म से शरीर ढककर और घटोत्कच के सिर पर आहार के लिए सञ्चित साग आदि का बोझा रखकर हम लोग गुफा से निकलकर चल पड़े।

नक्षत्रो के द्वारा दिशाओ का निर्णय करके हम लोग शुक्र की विषुवरेखा के बराबर पूर्व की ओर चलने लगे। गणना करके देखा कि हम लोग अवलम्बित मार्ग से छः सौ कोस चलने पर शुक्र के प्रकाशित अंश पर पहुँचेंगे। शुक्र का आकाश सदा मेघहीन तथा परिच्छन्न रहता है इस कारण पर्यवेक्षण के

कार्य में किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई। मार्ग में हम लोगों ने मिलकर शुक्र की एक अप्राकृतिक घटना की मीमांसा की। भ्रमण-काल मे हमारे पैरों की आहट घोड़ों की टाप के शब्द के समान सुनाई देती थी इसका कारण बहुत सोचने पर भी हम जान नहीं सके थे। अब समझ मे आ गया कि शुक्र के ऊपर ताप न होने के कारण हवा स्थिर और भारी रहती है, यही इस घटना का कारण है। हमारे चलने से स्तब्ध वायुराशि में इतना आन्दोलन उत्पन्न होता है तथा उसका शब्द इतनी देर तक गूँजता रहता है कि इस प्रकार का शब्द सुनाई पड़ता है।

हम लोग उत्साह-पूर्वक यात्रा करने लगे। अधिक सर्दी लगने अथवा थक जाने पर हम शुक्र के ऊपर गहरे खण्डहरों मे सो जाते थे। इस प्रकार आश्रय ग्रहण करने के योग्य शुक्र पर बहुत-से खण्डहर मिले। हम लोग जिस अंश मे भ्रमण करते थे उसमे जीवों के निवास के सामान्य लक्षण भी नहीं दिखाई पड़े। दिगन्त-विस्तृत विशाल समतल भूमि का भीषण दृश्य देखकर मन मे कभी-कभी इतनी घबराहट उत्पन्न होती थी कि पाँव आगे को नहीं उठता था। जो हो, मित्र के दार्शनिक मन को बड़ा ही सुशिक्षित कहना पड़ेगा। इस घोर नैराश्य के मध्य मे हम वैज्ञानिक वार्त्ता छेड़कर मन को एक बार वैज्ञानिक विषय मे लगा देते थे, और स्वयं ही युक्ति उठाकर और उसका खण्डन कर, उपस्थित विपत्ति को भुलाकर, महानन्द का उपभोग करते थे।

कुछ काल इस प्रकार चलने पर हिसाब लगाकर देखा कि हम लोग एक सप्ताह तक चलते रहे, तथा इतने समय में सौ कोस से भी अधिक चले। इसी समय हमारे मार्ग के समीप एक ऊँचा स्तूप दिखाई पड़ा। कौतूहल-वश हम लोग उसके समीप गये। दूर से अँधेरे में यह एक टीला सा जान पड़ता था परन्तु पास जाकर देखा तो वह एक ऊँचे मीनार का जीर्ण खण्डहर मात्र निकला। इस प्राणिहीन महामरुभूमि के बीच अट्टालिका का चिह्न देखकर हमको बड़ा आश्चर्य हुआ। उस टूटी अट्टालिका के निर्माण का कौशल तथा स्थपतिविद्या के चरम उत्कर्ष का चिह्न सचमुच ही विस्मयजनक था। कला-विद्या की विपुल कीर्त्ति स्तम्भरूपी यह अट्टालिका हमारे परिचित शुक्रवासियों के हाथ की कारीगरी नहीं थी, यह हम लोग स्पष्ट समझ गये। मित्र का अनुमान था कि अवश्य शुक्र के इस अंश पर किसी समय बड़े उन्नत जीवों की बस्ती थी। जान पड़ता है, उस समय यहाँ भी पृथ्वी के समान नियमित रूप से दिन-रात होता था। परन्तु किसी दुर्घटना के कारण यह चिर-अन्धकार के द्वारा आवृत होकर उन्नत जीवों के निवास के योग्य नहीं रहा, तथा कालक्रम से इन सब उन्नत जीवों के वंश का लोप हो गया। केवल यह टूटी अट्टालिका प्राणिहीन अन्धकार-मय मरुभूमि में खड़ी हुई उनके लुप्त गौरव को प्रकट कर रही है। मित्र का अनुमान सब प्रकार से युक्तिसङ्गत जान पड़ता था।

इस स्थान से कुछ आगे बढ़ने पर सामने आकाश मे कुछ प्रकाश के चिह्न दिखाई दिये। निर्मल आकाश में यह दृश्य बड़ा ही मनोहर जान पड़ता था। इस भयानक अन्धकार-मय देश में आने के समय से अब तक ऐसा स्निग्ध मधुर प्रकाश कभी दृष्टि-गोचर नहीं हुआ था। सवेरा होने से पहले पृथ्वी के आकाश मे जो चीण प्रकाश दिखाई पड़ता है यह उसी के समान था। हम अच्छी तरह जानते थे कि यह सूर्योदय का चिह्न नहीं है। शुक्र की आदिम अवस्था चाहे जैसी रही हो, इस समय इसका एक अंश सदा प्रकाशित तथा अपरांश सदा अन्धकारमय रहता है इस विषय मे अब हमको कोई सन्देह नहीं था। गणना करके देखा तो मालूम हुआ कि हम लोग अभी प्रकाश युक्त अंश से ४५० कोस दूर थे। इतनी दूर से सूर्य के प्रकाश का अनुभव करना सर्वथा असम्भव था। मित्र ने कहा कि हमारी पृथ्वी पर सूर्योदय से बहुत पहले जिस प्रकार किरणों का पथपरिवर्त्तन होने के कारण बहुत दूर से सूर्य का प्रकाश दिखाई पड़ता है कदाचित् यहाँ भी उसी प्रकार शुक्रवायुमण्डल में दूर से ही सूर्य की किरणें प्रवेश करके, झुककर, बहुत दूर तक प्रकाश पहुँचाती हों। मित्र की यह बात वैज्ञानिक युक्ति-सङ्गत होने पर भी इस समय ठीक प्रतीत न हुई। वायुमण्डल मे प्रकाश का झुकाव ही यदि इसका कारण होता तो गुफा मे निवास करते

समय हम प्रकाश देखते। परन्तु जान पड़ता है कि शुक्र के वायुमण्डल की गम्भीरता तथा रश्मिपथ-परिवर्त्तन-क्षमता (Index of Refraction) पृथ्वी की हवा की अपेक्षा कम है, इस कारण गुफा में रहते समय पार्थिव सान्ध्यालोक (Twilight) के समान कोई प्रकाश हमें दिखाई नहीं पड़ा। उपस्थित विषय की कोई मीमांसा नहीं हुई। इस समय हमें अपने छोटे एनीरायड बेरोमीटर (Aneroid Barometer) की याद आई। यदि वह साथ होता तो उससे कुछ काम निकलता।

हम लोग बिना रोक-टोक के आगे बढ़ चले। शुक्र का यह अंश इतना ऊँचा-नीचा नहीं था—आगे अच्छा समतल मैदान था यह सुयोग देखकर हम लोग शीघ्रतापूर्वक चलने लगे। जितना ही आगे बढ़ते थे, पूर्वाकाश का क्षीण प्रकाश उतना ही स्पष्ट होता जाता था। शुक्र का घना अँधेरा दूर हो जाने पर एक मधुर उजाला चारों ओर दिखाई पड़ने लगा। पूर्वी आकाश के तारागण क्रम से ज्योतिहीन होकर लुप्त हो चले। कुछ देर पीछे यह प्रकाश ऐसा प्रबल हो उठा कि हमारी छाया स्पष्ट दिखाई देने लगी। यह अभावनीय परिवर्त्तन बड़ा मनोहर था। नौ या दस कोस आगे बढ़ने पर एक और नवीन दृश्य दिखाई पड़ा। पूर्व की ओर आकाश मे एक मोटी लाल रेखा अचानक दिखाई पड़ने लगी। मित्र ने इसको देखते ही पहले सूर्य समझा, परन्तु गणना करके देखा

तो विदित हुआ कि वह भ्रममात्र था—सूर्य के दर्शन होने में अभी देर थी। अब सन्देह नहीं रहा कि ये प्रभात-दर्शन के लक्षण हैं। हमारा साथी घटोत्कच इस भयानक उत्कण्ठा और चिन्ता के समय में एक बड़ा कौतुक करने लगा। पूर्वोक्त दूरवर्त्ती प्रकाश को देखते ही वह इतना कोलाहल और आनन्द-सूचक कूद-फाँद करने लगा कि उसकी इस असाधारण प्रफुल्लता का कोई विशेष कारण न देखकर हम लोगों ने समझा कि यह अवश्य पागल हो गया है, तथा हमें डर भी लगा कि यह जङ्गली कहीं हमारा कुछ अनिष्ट न कर बैठे। परन्तु जब वह हमारे पैरों पर गिरकर अपनी विचित्र जातीय भाषा में कृतज्ञता प्रकट करने लगा तब हमने समझ लिया कि इसका पूर्वोक्त व्यवहार वास्तविक पागलपन नहीं था। गुफा में रहते समय हमारे मित्र शुक्रवासियों के साथ बहुत रहते थे तथा उनकी भाषा को भी कुछ-कुछ समझने लगे थे। घटोत्कच के घोर चीत्कार से सार संग्रह करके मित्र कहने लगे,—पूर्वी आकाश की यह लालिमा शुक्रवासियों की दृष्टि में बड़ी पूज्य है। जो भाग्यवान् शुक्रवासी जीवन में एक बार भी इस महातीर्थ के दर्शन कर लेता है वह समाज में बड़ा ही प्रतिष्ठित गिना जाता है तथा आनन्द भोगता है। हमारे द्वारा यह घटोत्कच इस महातीर्थ के दर्शन कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

इस समय दिशाओं का निर्णय करने तथा मार्ग ढूँढ़ने के लिए नक्षत्रों को देखना आवश्यक नहीं था। आवश्यकता होने पर भी उसका उपाय नहीं था, क्योंकि पूर्वी आकाश के प्रकाश से पश्चिमी आकाश के दो एक बड़े-बड़े तारों को छोड़कर और कोई नक्षत्र दिखाई नहीं पड़ता था। हम लोग आकाश के किनारे के पूर्वोक्त लाल प्रकाश को ही लक्ष्य करके चलने लगे। कुछ समय तक इस प्रकाश में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ। एक दिन स्थिर दृष्टि से परीक्षा करते-करते प्रकाश के मध्य में एक सफ़ेद रङ्ग का पदार्थ दिखाई पड़ा। पहले हम कुछ स्थिर नहीं कर सके कि यह पदार्थ क्या है। फिर दोनों ने अनेक परीक्षाएँ करके यह निश्चय किया कि यह कोई बर्फ़ से ढका हुआ पर्वत का शिखर है। अब समझ में आ गया कि हम लोगों ने आकाश में जो प्रकाश देखा था वह वास्तविक सूर्य का प्रकाश नहीं था। बर्फ़ के पहाड़ पर सूर्य की किरणें पड़ने से आकाश में जो लालिमा आ गई है यह वही है, इसमें अब सन्देह नहीं रहा। दूर से पर्वत को देखकर हम लोग उत्साहपूर्वक बड़े वेग से चलने लगे। प्रायः २० घण्टे में हम लोग इतनी दूर बढ़ गये कि तुषार धवल पर्वत जड़ तक दिखाई पड़ने लगा। और थोड़ी दूर आगे बढ़कर हम लोग उस पर्वत की तुषार-मण्डित जड़ में पहुँच गये। समीप ही एक छोटी पहाड़ी थी। हम लोग बहुत परिश्रम करके

उसके ऊपर चढ़ गये। वहाँ से पर्वत का महान् गम्भीर दृश्य अति सुन्दर दिखाई पड़ने लगा। हम लोग और किसी विषय पर ध्यान न देकर पहाड़ पर चढ़ने का उद्योग करने लगे। मित्र ने कुछ देर चारों ओर देखकर कहा—"इस पर्वत को उल्लङ्घन करने की चेष्टा बड़ी सङ्कटमय होगी क्योंकि यह पहाड़ पत्थर का नहीं, यह तो निरी बर्फ़ का बड़ा भारी ढेर है।" मित्र की बात, उनकी पूर्व-प्रचारित अनेक विचित्र बातों के समान, ध्यान देने योग्य न समझी गई। परन्तु जब देखा कि अभी तक पर्वत के एक भाग मे भी कोई छोटा पत्थर नहीं दिखाई दिया तब उनकी यह बात कुछ-कुछ सत्य जँचने लगी। पीछे, जब पहाड़ की चोटी पर चमकता हुआ लाल बादल सबने देखा, तब सन्देह नहीं रहा कि उनका अनुमान सत्य था। हम दोनों ने विचारते-विचारते इस तुषार-पर्वत की उत्पत्ति का कारण तक जान लिया। शुक्र के प्रकाशित अंश से मेघ उठकर शीतल अन्धकार-अंश की ओर चलते हैं, परन्तु शीत अधिक होने के कारण सब बर्फ़ और तुषार बनकर, प्रकाशित और अन्धकारमय भागों के सन्धिस्थल में, गिर जाते हैं। बहुत समय से इसी प्रकार तुषार सञ्चित होते-होते एक बड़ा भारी पहाड़ बन गया है। पृथ्वी के ज्योतिषी जब दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा शुक्र-मण्डल की जाँच करते हैं तब जो किनारे-किनारे चमकती हुई रेखा दिखाई पड़ती है वह यही

तुषार-पर्वत सूर्य की किरणों से चमकता दिखाई देता है, यह विषय भी समझ में आ गया।

अब यह चिन्ता उपस्थित हुई कि इस भीषण हिम-पर्वत को लाँघकर किस प्रकार हम लोग अपने इष्ट स्थान---शुक्र के प्रकाशित भाग---पर पहुँचें। पहाड़ की चढ़ाई में घटोत्कच ने हम लोगों की विशेष सहायता की। अपने बड़े नखवाले हाथ-पाँव द्वारा वह सहज ही में बर्फ़ के पर्वत के ऊपर चढ़ने लगा। बर्फ़ के ऊपर जब हमारा पाँव फिसलता था तब वह सहारा देकर उठा देता था। बीच-बीच मे पर्वत के शिखर पर बड़े शब्द से बर्फ़ पड़ने लगती थी। बिजली की गरज के समान उसकी कर्कश ध्वनि से हमारे कान बहरे से हो गये और हमारे बेहोश होने का उपक्रम हो गया। घटोत्कच की निरन्तर पहाड़ पर चढ़ने की चेष्टा तथा मित्र के उत्साह बढ़ानेवाले वाक्यों से उत्तेजित होकर हम पहाड़ पर बहुत दूर चढ़ गये। इसी समय सुवर्ण के गोले के समान स्थिर सूर्य नीले आकाश में दिखाई दिया। परन्तु उस महाशीत और आसन्न मृत्यु के सम्मुख प्रथम सूर्य-दर्शन के कवित्व का अनुभव हम नहीं कर सके। कब बर्फ़ का एक बड़ा भारी टुकड़ा घोर शब्द करता हुआ सदा के लिए हमें बर्फ़ में दबा देगा, इसी चिन्ता में हृदय मग्न था। हम लोग कितनी दूर चढे सो हिसाब नहीं किया; परन्तु बहुत काल तक चढ़ने पर जब एक छोटे-से पर्वत-शिखर पर पहुँचे तब की

अच्छी तरह याद है। हम लोग वहीं खड़े होकर पर्वत की दूसरी ओर देखने लगे। नीचे विशाल समुद्र और भासमान बड़े बर्फ़-स्तूप को छोड़कर और कुछ दिखाई नहीं पड़ा। हम तुषार-पर्वत के जिस स्थान पर खड़े थे वहाँ से उस पर्वत का पार्श्वदेश क्रमशः ढालू होकर ज़मीन से मिल गया था। तुषार-पर्वत के इस ढालू पार्श्व पर धीरे-धीरे उतरना सर्वथा असम्भव जान पड़ा। परन्तु उस स्थान को छोड़ने का और कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ा। हमारा प्रिय सहचर घटोत्कच भी इस अवस्था में कुछ घबराने लगा। हमने अनुमान करके देखा कि पर्वत के शिखर से शुक्र के प्रकाशित अंश का समुद्र कोई आध मील दूर होगा। इस ढालू स्थान पर से उतरने के लिए मित्र ने एक उपाय सोच निकाला। घटोत्कच के पास हमारी एक बड़ी सी छुरी थी। उसके द्वारा जमी हुई बर्फ़ मे छोटे-छोटे गड्ढे खोदना उसे सिखा दिया। शिक्षा के अनुसार घटोत्कच उसी प्रकार छोटी-छोटी सीढ़ियाँ बनाकर उतरने लगा। हम लोग हाथ-पाँव-द्वारा उन्हीं गड्ढों के सहारे उतरने लगे। हमको, अत्यन्त डरा हुआ देखकर, मित्र ने आगे उतारा। मित्र स्वयं सबसे पीछे उतरने लगे। इसी प्रकार कुछ दूर उतरने पर अचानक देह काँपने के कारण हमारा पाँव फिसल गया। इस भयानक विपत्ति मे, आसन्न-मृत्यु के मुँह से बचने का और कोई उपाय न देखकर—मित्र के दोनों

पॉव पकड़कर फिर गढ़े में पॉव जमाने के विचार से—हमने मूर्खता-वश मित्र के दोनों पॉव दृढ़तापूर्वक पकड़ लिये। परन्तु मित्र हमारा भार लेकर पॉव न जमा सके इसलिए उनका भी पॉव फिसल गया। इस प्रकार हम दोनों, पहाड़ की ढाल पर, लुढ़कने लगे। लुढ़कते-लुढकते हमारी गति भी भयानक वेग से बढ़ने लगी। हम लोगों की यह दशा देखकर घटोत्कच चिल्लाने लगा। परन्तु थोड़ी ही देर मे वायु की सनसनाहट इतनी वढ गई कि और कोई शब्द हमे सुनाई न पड़ा। कोई एक मिनट तक इस प्रकार लुढ़कते-लुढ़कते हम समुद्र के पानी में गिर पड़े। पर्वत के नीचे वर्फ़ पत्थर आदि कोई कठिन पदार्थ नहीं था, नहीं ते ऐसे भयानक वेग से गिरने पर हम अवश्य चूर-चूर हो जाते। हम दोनों तैरना अच्छी तरह जानते थे इसलिए गिरने पर थोड़े ही परिश्रम से निकट ही एक वर्फ की चट्टान पर जाकर खड़े हो गये।

इस अभावनीय उपाय से प्राणों की रक्षा होने पर हम एकाग्र मन से जगदीश्वर को धन्यवाद देने लगे। पॉव पकड़-कर मित्र को इस विपत्ति में घसीट लेने के लिए हम उनके सामने वड़े ही लज्जित हुए। पहाड़ से उतरने में घटोत्कच इतना कुशल था कि शीघ्र उस पर कोई विपत्ति आने की कुछ सम्भावना न थी, परन्तु यह जानकर भी चिन्ता हुई कि अब वह किस अवस्था मे है। इसी समय हमको समीप ही

बोलने का शब्द सुनाई पड़ा। इस प्राणिहीन तुषार-देश में यह शब्द कहाँ से आया—यह जानने के लिए चारों ओर दृष्टि डालकर देखा तो मालूम हुआ कि कुछ लोग एक नाव पर सवार होकर, तीर के समान वेग से, हमारी ओर आ रहे हैं। क्षण भर मे ही नाव हमारे सामने आ गई। उसमें बैठे हुए लोग हम लोगों को देखकर बड़े ही विस्मित होकर अपनी जातीय भाषा में नाना प्रकार के प्रश्न पूछने लगे। हम उन लोगो की भाषा बिलकुल नहीं जानते थे इस कारण उनके प्रश्नो का कुछ उत्तर न दे सके। अधिक विलम्ब न करके और हमको नाव पर चढ़ाकर वे लोग पहाड़ के समान तैरती हुई बर्फ़ के बीच मे से, एक सङ्कीर्ण मार्ग होकर, चलने लगे। थोडी देर में उन्होने एक समीप ही खड़े बड़े जहाज़ पर हमें सवार करा दिया। जहाज़ के लोग हमको देखकर बड़े आश्चर्य मे पड़े। जहाज़ के चालक ने हम लोगो के लिए भीगे कपड़े बदलने तथा भोजन आदि का प्रबन्ध कर दिया। इन शुक्र-वासियों को देखकर हम लोग बड़े ही विस्मित हुए। उनके शरीर की रचना आदि सब कुछ मनुष्यों के ही समान थी। ऐसे काले बाल, चमकती हुई आँखें, तथा सुन्दर मुखवाले मनुष्य पृथ्वी पर विरले ही दिखाई पड़ते हैं। उनकी कार्य-तत्परता और चाल-चलन देखकर स्पष्ट जान पड़ता था कि वे उद्यमशील तथा उन्नत-जाति के पुरुष हैं। जहाज़ के प्रत्येक कमरे

में ठण्ड से बचने के लिए आग जल रही थी तथा यात्री लोग मोटे-मोटे ऊनी कपड़े पहने हुए थे। इससे हम लोगों ने अनुमान कर लिया कि ये लोग किसी गरम देश के निवासी हैं।

ये शुक्रवासी किसलिए बर्फ़ के समुद्र मे आये हैं, यह जानने की हम लोगों ने चेष्टा की, परन्तु पहले सफलता नहीं हुई, पीछे सुना कि हम लोग जिस तुषार-पर्वत को लाँघ आये हैं उसी को पार करने का उपाय जानने के लिए ये लोग सरकारी खर्च से आये हैं। हम लोगों के पहुँचने के थोड़ी देर बाद ही जहाज़ खुलने का प्रयत्न होने लगा। परन्तु कुछ लोग—जो एक अन्य नाव पर सवार होकर गये थे—अभी तक नहीं लौटे थे इस कारण उनकी प्रतीक्षा की जाने लगी। मैं एक सुसज्जित कमरे में आग के पास बैठकर मित्र के साथ अपने लोगों के भयावह अतीत जीवन की आलोचना करने लगा। इतने मे जहाज़ के बाहर बड़ी भारी गड़बड़ मची। हमने शीघ्र ही बाहर निकलकर देखा कि कुछ शुक्रवासी नाव में हमारे आज्ञाकारी घटोत्कच को लेकर आ गये हैं और वह बड़ा चीत्कार कर रहा है। उसके लिए सब लोग बड़ी उलझन में थे। हम लोगों को देखते ही घटोत्कच एक बार हम लोगों के सामने आकर खड़ा हुआ, फिर पाँवों में गिरकर बड़ा आनन्द प्रकट करने लगा। इस अद्भुत जीव को भी हमारा साथी जानकर जहाज़ के चालक ने उसके रहने की अलग व्यवस्था करके

जहाज़ छोड़ दिया। पीछे मालूम हुआ कि नाववाले यात्रियों ने नाव पर से तुषार-पर्वत की परीक्षा करते-करते घटोत्कच को एक बर्फ़-खण्ड के ऊपर खड़े होकर चीत्कार करते देखा। उसकी दुर्दशा देखकर यात्री उसे उठा लाये।

अब जहाज़ बर्फ़ के बीच सङ्कीर्ण मार्ग से जल्दी चलने लगा। इस दुर्गम प्रदेश में भी जहाज़ चलाने में इतनी कुशलता देखने पर इन लोगों की असाधारण नौविद्या-कुशलता का परिचय मिला। फिर अनुसन्धान करने से ज्ञात हुआ कि यह बड़ा जहाज़ एक यन्त्र के बल, केवल बिजली की शक्ति के द्वारा, चलाया जा रहा है, तथा अधिक भार लादने योग्य बनाने के लिए यह एल्यूमिनियम अथवा अन्य किसी हलकी धातु का बनाया गया है। समुद्र-यात्रा के उपयोगी नाना प्रकार के अज्ञात-व्यवहार यन्त्रों को देखकर निश्चय हो गया कि ये विशेष सभ्य और उन्नत जाति के पुरुष हैं। हमने यह भी जान लिया कि संसार के दैनिक कार्यों की साधना के लिए प्राकृतिक शक्तियों से काम लेने में ये लोग धरावासी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक कुशल हैं। चालक ने हम लोगों का बड़ा सत्कार किया। हम उनके विनीत व्यवहार तथा शिष्टाचार को कभी भूल न सकेंगे। घटोत्कच के आराम पर भी उनका विशेष ध्यान था। मित्र ने एक समय बातचीत के सिलसिले में कहा कि हम लोगों को पाते ही जो इन्होंने जहाज़ छोड़

दिया है, तथा उसके पीछे भी हमारे लिए इतना यत्न करते हैं इसका एक अति गूढ़ कारण है। हम जैसे अपूर्व जीवों को प्राप्त करके अपने देश मे ले जाने से इन लोगों को विशेष पुरस्कार मिलेगा। जान पड़ता है, तुषार-पर्वत के पार जाने का उपाय ढूँढ़ने की अपेक्षा हम जैसे अद्भुत जीवों का आविष्कार करना इनके अधिक सम्मान का कारण होगा। मित्र का यह अनुमान सर्वथा निर्मूल नहीं प्रतीत होता था। हमारे लिए भविष्यत् में और कौन-कौन सी विपत्तियाँ आनेवाली हैं, अब यही चिन्ता हुई।

हम लोग जब तुषार-समुद्र के भीतर चलने लगे तब जहाज़ का चालक अवकाश-काल मे प्रायः हमारे ही पास बैठता था; परन्तु हम लोगों के भिन्न-भाषा-भाषी होने के कारण परस्पर बातचीत न हो सकी। निश्चेष्ट बैठकर नाना प्रकार की चिन्ताओं को मन मे स्थान देने के बदले हमको इन लोगों की भाषा सीखने की बड़ी प्रबल इच्छा हुई। चालक महाशय को भी हम लोगों का विशेष वृत्तान्त जानने की उत्कण्ठा थी। दोनों के यत्न से हम लोगो ने शीघ्र ही शुक्रवासियों की भाषा सीख ली।

भाषा का ज्ञान जैसा-जैसा होता गया वैसे-वैसे शुक्रवासियों की सभ्यता और वैज्ञानिक उन्नति का भी अधिक परिचय मिलने लगा, तथा यह भी ज्ञात हो गया कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की अपेक्षा इन लोगों की विज्ञान-दक्षता कहीं बढ़कर है। परन्तु शुक्रवासियों की ज्योतिष-विद्या मनुष्यों से कम

पाई गई। शुक्र के इस अंश में सूर्य सदा स्थिर रूप से प्रकाशित रहता है इस कारण ग्रह-नक्षत्रादिकों के निरीक्षण करने का सुभीता किसी प्रकार नहीं है। जान पड़ता है, ज्योतिषशास्त्र मे उन लोगों की हीनता का यही प्रधान कारण था। इसके अतिरिक्त, अधिकांश समय में आकाशमण्डल जितना काले बादलो से घिरा रहता है उसको देखते हुए उनकी ज्योतिर्विद्या की हीनता के लिए उनकी बुद्धि को दोष नहीं दिया जा सकता। नक्षत्रों के निरीक्षण में ऐसी बाधाएँ उपस्थित होने पर भी हमने देखा कि इनके पास दूरवीक्षण यन्त्र थे, तथा उनकी सहायता से शुक्र-कक्षा के भीतर स्थित बकुण ग्रह (Mercury) की गति तथा उसके उपग्रहण (Transit) आदि विषयों के सम्बन्ध मे उन्होंने अनेक तत्त्वो का आविष्कार कर लिया है। शुक्र ग्रह के सूर्य के निकटवर्त्ती होने के कारण पृथ्वी के वैज्ञानिकों की अपेक्षा इन लोगों ने सूर्य के विषय में अनेक गूढ़ विषयों की आलोचना कर ली है; परन्तु पृथ्वी के समान शुक्र पर उपग्रह न होने के कारण इनको सूर्यग्रहण कभी दिखाई नहीं दिया। इसी कारण पूर्णग्रहणजात सूर्य के छटा-मुकुट (Corona) के विषय मे ये लोग नितान्त अनभिज्ञ निकले।

ज्योतिष-विद्या के विषय में शुक्रवासियों की इतनी अनभिज्ञता के कारण हम लोगो को बड़ा खेद हुआ। शुक्र के समान पृथ्वी नाम का भी एक ग्रह है तथा सौर-परिवार मे

उसकी भी स्थिति है, यह विषय न तो वे जानते थे और न उनको दिखलाने का हमारे पास कोई उपाय था। हम लोग घटोत्कच के साथ तुषार-पर्वत लाँघकर इस देश मे आये हैं, इस बात का उन लोगों ने विश्वास कर लिया; परन्तु हम लोग बहुत दूर पृथ्वी नामक ग्रह के निवासी दो जीव हैं, इस बात का विश्वास हम उन लोगों को नहीं करा सके। कठिनाई से उनको इतना विश्वास हो गया कि हम शुक्र ग्रह के प्रकाशित अंश के निवासी जीव नहीं हैं। उन्होंने समझ लिया कि हम लोग शुक्र ग्रह के अँधेरे अंश के निवासी हैं। जो हो, हम लोगों ने उनको सूर्य के काले चिह्नों (Dark Spots) का वर्णन करके स्पष्ट समझा दिया कि हम लोग शुक्र के अन्धकारमय अंश के निवासी नहीं हैं तथा इसके पहले भी अनेक बार हमने सूर्य के दर्शन किये हैं। अन्त मे उन लोगों ने मान लिया कि हम लोग वरुण ग्रह के समान किसी अन्य ग्रह के निवासी हैं।

शुक्र के प्रकाशित अंश के निवासियों का इतना हाल जानकर, इस असाधारण बुद्धिसम्पन्न उन्नत-जाति के निवास-स्थान तथा इन लोगों के दैनिक व्यवहार को देखने की हमें बड़ी उत्कण्ठा हुई। इस समय हम लोग नितान्त आनन्द-रहित तथा निरुत्साह नहीं थे; बहुत देर तक जहाज़ के चालक और कर्मचारियों के साथ हँसी-ख़ुशी से समय अच्छी तरह कटता था। परन्तु धीरे-धीरे मित्र का उत्साह घट चला। जान पड़ता था कि हमारे

इस आमोद-आह्लाद ने उनकी सांसारिक सुख की स्मृति को उत्तेजित कर दिया था। मैं एक दिन भोजन के पीछे अपनी छोटी कोठरी मे आँखें मूँदकर विश्राम कर रहा था कि मित्र दवे पाँव आकर मेरे पास बैठ गये और आँखें बन्द होने पर भी मुझको सचेत जानकर शुक्रवासियो के आहार-व्यवहार के विषय मे नाना प्रकार की बातें कहने लगे। उस दिन मैंने विषाद की मात्रा कुछ अधिक देखकर प्रसङ्गवश उनके इस अचानक परिवर्त्तन का कारण पूछा तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया – "शुक्र के दोनों अंशों पर जो कुछ हम जानना चाहते थे सो सब जान लिया। शुक्र के अन्धकारमय मैदान मे घूमते समय जो उत्साह था वह अब नहीं रहा। इस समय एक प्रकार के विषाद और चिन्ता ने हृदय को घेर लिया है तथा यह सब नीरस और निरानन्द जान पडता है—।" मित्र की यह बात पूरी भी न होने पाई थी कि कमरे के बाहर महा-कोलाहल सुनाई पड़ा। यह जान पड़ा कि कुछ लोग ऊँचे स्वर से परस्पर कहा-सुनी कर रहे हैं। मामला समझने के लिए आँखे खोलकर जो उठे तो देखा कि हम अपनी बैठक में पलँग के पास खड़े हैं। अब समझ मे आया कि हम तो पलँग ही पर पड़े थे। नीचे के कमरे मे हमारे उड़िया बैरे के साथ एक देशी नौकर का झगड़ा हो रहा था। दोनों बहुत कोलाहल कर रहे थे। यद्यपि दोनों नौकरों को एक बराबर वेतन

मिलता था तथापि प्रधानता के लिए दोनों में प्रायः झगड़ा हुआ करता था। आज भी उसी पुराने अधिकार के निर्णय के लिए झगड़ा मचा था। अब समझ में आ गया कि इसी झगड़े ने हमारा सुख-स्वप्न तोड़ा है। उस समय रात के आठ बज चुके थे। घर में मेज़ के ऊपर बत्ती जल रही थी। दृष्टि दौड़ाकर देखा कि जिस आराम-कुरसी पर मित्र लेटे थे वह ख़ाली पड़ी है। स्वप्न देखते समय मित्र किस अवस्था मे थे, यह जानने के लिए हम अत्यन्त उत्सुक थे, इस कारण चटपट उनके घर गये। देखा कि मित्र बड़े ही व्यस्त थे, तथा स्वभाव से गम्भीर उनका मुखमण्डल अत्यन्त प्रफुल्लित था। वे स्वप्न के विषय में कोई बात नहीं जानते थे यह देखकर और दो-एक बातें छेड़कर हमने उनसे बिदा माँगी, और निश्चय किया कि दूसरे दिन दोनों मिलकर स्वप्नदृष्ट विषय की चर्चा करेंगे। उस रात को फिर नींद नही आई। इससे अवश्य ही घरवाली को आसन्न-बीमारी की आशङ्का हुई परन्तु हम दिन में सो चुके थे इस कारण किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। प्रातःकाल सुना कि एक अस्थायी नौकरी का आज्ञा-पत्र पाते ही मित्र उसी रात को परदेश चले गये। रात को हमारे साथ बात करने पर भी यह शुभ संवाद उन्होंने हमको नहीं सुनाया। इससे हमें खेद हुआ। जो हो, आज तक इस अद्भुत स्वप्न की बात हमने किसी से नहीं कही है।